॥श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः॥

श्रीश्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर विरचित

माधुर्य-कादम्बिनी

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा
सम्पादित एवं तत्कृत भावानुवाद तथा पीयूषवर्षिणी-वृत्तिसहित

प्रकाशक :
श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

प्रथम संस्करण : ५००० प्रतियाँ
श्रील नरोत्तम दास ठाकुरजीकी तिरोभाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२०
११ अक्टूबर, २००६

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

समर्पण

परम करुणामय एवं अहैतुकी कृपालु
अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म

नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी

प्रेरणासे
यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।
श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके
श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

विषयसूची

सांकेतिक चिह्नोंकी सूची

अ.—अन्त्यलीला
आ.—आदिलीला
उ. नी.—श्रीउज्ज्वलनीलमणि
चै. च.—श्रीचैतन्यचरितामृत
चै. भा.—श्रीचैतन्यभागवत
बृ. भा.—श्रीबृहद्भागवतामृतम्
ब्र. सं.—श्रीब्रह्मसंहिता
भ. र. सि.—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु
म.—मध्यलीला
श्रीगी.—श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीमद्भा.—श्रीमद्भागवत
ह. भ. वि.—हरिभक्तिविलास

प्रस्तावना

परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी माहाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे उन्हींकी प्रीतिके लिए आज श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्य-मुकुटमणि महामहोपाध्याय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा रचित श्रीमाधुर्य-कादम्बिनी ग्रन्थका यह अभिनव संस्करण प्रकाशित करते हुए अपार आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ। इस ग्रन्थमें श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीरूप गोस्वामीके आनुगत्यमें साधनभक्तिके क्रमविकाश—श्रद्धा, भजनक्रिया, अनर्थनिवृति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव अथवा रतिका अपूर्व सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका जीवन-चरित्र

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर नदिया जिलेमें राढ़ीय श्रेणी विप्रकुलमें आविर्भूत हुए थे। ये हरिवल्लभके नामसे प्रसिद्ध थे। रामभद्र और रघुनाथ नामक इनके दो बड़े भाई थे। बाल्यकालमें इन्होंने देवग्राम नामक एक ग्राममें व्याकरण पाठ समाप्तकर मुर्शिदाबाद जिलेके शैयदाबाद नामक ग्राम (गुरुगृह) में भक्तिशास्त्रोंका अध्ययन किया। इन्होंने बिन्दु, किरण और कणा—इन तीनों ग्रन्थोंकी रचना शैयदाबाद ग्राममें अध्ययन करते समय ही की थी। कुछ दिनों बाद ये गृहत्यागकर वृन्दावन चले आए। यहींपर इन्होंने विभिन्न ग्रन्थोंकी रचनाएँ व टीकाएँ लिखीं।

श्रीमन्महाप्रभु और उनके अनुगत षड्गोस्वामियोंके अप्रकट होनेपर शुद्धभक्ति-धारा श्रीनिवासाचार्य, श्रीनरोत्तम ठाकुर और श्रीश्यामानन्द—तीनों प्रभुओंके माध्यमसे प्रवाहित हो रही थी। श्रील नरोत्तम ठाकुरकी शिष्य परम्परामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर चतुर्थ-पुरुष हैं। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशयके शिष्यका नाम श्रीगङ्गानारायण चक्रवर्ती

महाशय था। ये मुर्शिदाबाद जिलेके अन्तर्गत बालूचर गम्भिलामें रहते थे। इनको कोई पुत्र न था, केवलमात्र एक कन्या थी जिसका नाम विष्णुप्रिया था। श्रील नरोत्तम ठाकुरके एक वारेन्द्र श्रेणीके दूसरे शिष्य भी थे, जिनका नाम रामकृष्ण भट्टाचार्य था। इन रामकृष्ण भट्टाचार्यके कनिष्ठ पुत्रका नाम कृष्णचरण था। इन कृष्णचरणको श्रीगङ्गानारायणने दत्तकपुत्रके रूपमें ग्रहण किया। श्रीकृष्णचरणके शिष्य राधारमण चक्रवर्ती थे और ये श्रीराधारमण ही श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके श्रीगुरुदेव हैं। रासपञ्चाध्यायकी सारार्थदर्शिनी टीकाके प्रारम्भमें इन्होंने ऐसा लिखा है—

श्रीरामकृष्णगङ्गाचरणान् नत्वा गुरुनुरुप्रेम्नः।
श्रीलनरोत्तमनाथ श्रीगौराङ्गप्रभुं नौमि॥

अर्थात् इस श्लोकमें श्रीरामसे उनके गुरुदेव श्रीराधारमण, कृष्णसे परमगुरुदेव श्रीकृष्णचरण, गङ्गाचरणसे परात्पर गुरुदेव श्रीगङ्गानारायण, नरोत्तमसे परमपरात्पर गुरुदेव श्रीनरोत्तम ठाकुर और 'नाथ' शब्दसे श्रील नरोत्तम ठाकुरके गुरुदेव श्रीलोकनाथ गोस्वामीको समझना चाहिए। इस प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमन्महाप्रभु तक अपनी गुरुपरम्पराको प्रणाम कर रहे हैं, ऐसा सूचित होता है।

श्रीनिवासाचार्यकी कन्याका नाम हेमलता ठाकुरानी था। ये परम विदूषी तथा परम वैष्णवी थीं। इन्होंने अपने रूपकविराज नामक एक उदासीन शिष्यको गौड़ीय-समाजसे बहिष्कृत कर दिया था। तबसे वे रूपकविराज गौड़ीय-वैष्णव-समाजमें 'अतिबाड़ी' नामसे परिचित हुए। उन्होंने गौड़ीय-वैष्णवोंके सिद्धान्तके विरुद्ध अपना एक नया मत स्थापन किया कि केवलमात्र त्यागी व्यक्ति ही आचार्यका कार्य कर सकता है। गृहस्थ व्यक्ति भक्तिका आचार्य नहीं हो सकता। विधिमार्गका सम्पूर्ण रूपसे अनादरकर उच्छृंखलतापूर्ण रागमार्गका प्रचार करना ही इनका उद्देश्य था। श्रवण-कीर्त्तनका त्यागकर केवल स्मरणके द्वारा ही रागानुगाभक्ति सम्भव है—ऐसा इनका नवीन मत था।

सौभाग्यवशतः श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उस समय वर्त्तमान थे। उन्होंने श्रीमद्भागवतके तृतीयस्कन्धकी सारार्थदर्शिनी टीकामें इसका प्रतिवाद किया। आचार्यवंशमें श्रीनित्यानन्द प्रभुके पुत्र वीरभद्र प्रभुके शिष्यवंशमें तथा श्रीअद्वैताचार्यके त्यक्त पुत्रोंके वंशमें गृहस्थ होकर गोस्वामी उपाधि प्रदान और ग्रहण करना उचित नहीं है—रूपकविराजके ऐसे विचारका श्रीचक्रवर्ती ठाकुरने प्रतिवाद किया। उन्होंने प्रमाणित किया कि आचार्यवंशके योग्य अधस्तन गृहस्थ सन्तानोंके द्वारा भी आचार्यका कार्य करना असङ्गत नहीं है। परन्तु वंश-परम्परा क्रमसे धन और शिष्यके लोभसे आचार्यकुलमें उत्पन्न अयोग्य सन्तानोंके लिए अपने नामके साथ 'गोस्वामी' शब्दका प्रयोग शाश्वत-शास्त्र विरोधी और नितान्त अवैध कार्य है—ऐसा भी प्रमाणित किया। इसलिए उन्होंने (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने) आचार्यका कार्य करनेपर भी अपने नामके साथ 'गोस्वामी' शब्दका प्रयोग कदापि नहीं किया। उन्होंने आधुनिक कालके विचारहीन अयोग्य आचार्य सन्तानोंको शिक्षा देनेके लिए ही ऐसा किया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जिस समय अत्यन्त वृद्ध हो गए थे तथा अधिकांश समय वे अर्द्धबाह्य और अन्तर्दशामें स्थित होकर भजनमें विभोर रहते थे, उसी समय जयपुरमें श्रीगौड़ीय-वैष्णवों तथा स्वकीयावादी अन्यान्य वैष्णवोंमें एक विवाद छिड़ गया। उस समय द्वितीय जयसिंह जयपुरके नरेश थे। विरुद्ध पक्षवाले वैष्णवोंने द्वितीय जयसिंहको यह समझाया कि श्रीगोविन्ददेवके साथ श्रीमती राधिकाजीकी पूजा शास्त्र-सम्मत नहीं है। इसका कारण यह है कि श्रीमद्भागवत या विष्णुपुराणमें श्रीमती राधिकाके नामका कहीं भी उल्लेख नहीं है। श्रीमती राधिका वैदिक विधियोंके अनुसार श्रीकृष्णकी विवाहित पत्नी नहीं हैं। दूसरी बात गौड़ीय-वैष्णव साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं हैं। वैष्णव सम्प्रदाय चार ही हैं, जो अनादि कालसे चले आ रहे हैं। उनके नाम हैं—श्री-सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय और सनक-सम्प्रदाय। कलियुगमें इन सम्प्रदायोंके प्रधान आचार्य क्रमशः श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बादित्य हैं। गौड़ीय-वैष्णव इन चारों सम्प्रदायोंसे बहिर्भूत हैं, अतः वे शुद्ध साम्प्रदायिक वैष्णव

नहीं हैं। विशेषतः इस वैष्णव-सम्प्रदायका अपना कोई ब्रह्मसूत्रका भाष्य नहीं है, अतएव इसे परम्परागत वैष्णव सम्प्रदाय नहीं माना जा सकता है। उसी समय महाराज जयसिंहने श्रीवृन्दावनके प्रधान गौड़ीय-वैष्णवाचार्योंको श्रील रूपगोस्वामीका अनुगत जानकर श्रीरामानुजीय वैष्णवोंके साथ विचार करनेके लिए आह्वान किया। अत्यन्त वृद्ध तथा भजनानन्दमें विभोर रहनेके कारण श्रीचक्रवर्ती ठाकुरने अपने छात्र गौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य, पण्डितकुलमुकुट महामहोपाध्याय श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण और अपने शिष्य श्रीकृष्णदेवको जयपुरमें विचार करनेके लिए भेजा।

जाति-गोस्वामीगण अपने मध्व-सम्प्रदायके आनुगत्यको भूल चुके थे। साथ ही उन्होंने वैष्णवोंके वेदान्त सम्बन्धी विचारधाराका अनादरकर गौड़ीय-वैष्णवोंके लिए एक महान विपत्तिका आह्वान किया था। श्रील बलदेव विद्याभूषणने अकाट्य युक्तियों और सुदृढ़ शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा यह प्रमाणित किया कि गौड़ीय-सम्प्रदाय मध्वानुगत शुद्ध वैष्णव-सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायका नाम श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय है। हमारे पूर्वाचार्य श्रील जीवगोस्वामी, कविकर्णपूर आदिने इसे स्वीकार किया है। श्रीगौड़ीय-वैष्णवजन श्रीमद्भागवतको ही वेदान्तसूत्रका अकृत्रिम भाष्य मानते हैं। इसलिए गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायमें स्वतन्त्ररूपसे वेदान्तसूत्रके किसी भाष्यकी रचना नहीं की गई है। विभिन्न पुराणोंमें श्रीमती राधिकाके नामका उल्लेख है, वे ह्लादिनीस्वरूपा, श्रीकृष्णकी नित्यप्रिया हैं। श्रीमद्भागवतके विभिन्न स्थलोंमें विशेषतः दसवें स्कन्धकी व्रजलीलाके वर्णन प्रसङ्गमें सर्वत्र ही श्रीमती राधिकाका अत्यन्त गूढ़रूपसे उल्लेख है। सिद्धान्तविद्, रसिक और भावुक भक्त ही इस गूढ़ रहस्यको समझ सकते हैं। श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने उस विद्वत्सभामें प्रतिपक्षके सभी तर्कोंको खण्ड-विखण्डकर तथा सन्देहोंको दूरकर श्रीगौड़ीय-वैष्णवोंका मध्वानुगत्य प्रमणित किया। विपक्ष निरुत्तर हो गया, फिर भी उन्होंने श्रीगौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायका कोई वेदान्त भाष्य न होनेपर उन्हें शुद्ध पारम्परिक वैष्णव माननेसे अस्वीकार कर दिया। तब वहींपर ही श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने ब्रह्मसूत्रके 'श्रीगोविन्द-भाष्य' नामक सुप्रसिद्ध गौड़ीय-भाष्यकी

रचना की। इस प्रकारसे श्रीगोविन्ददेवके मन्दिरमें पुनः श्रीश्रीराधागोविन्दकी सेवापूजा प्रारम्भ हुई तथा गौड़ीय-वैष्णवोंकी श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके रूपमें मान्यता स्वीकार की गई। श्रीचक्रवर्ती ठाकुरके सम्मति क्रमसे ही श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीगोविन्द-भाष्यकी रचना की तथा गौड़ीय-वैष्णवोंका श्रीमध्वानुगत्य प्रमाणित किया—इस विषयमें तनिक भी सन्देहका अवकाश नहीं है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका यह साम्प्रदायिक कार्य गौड़ीय-वैष्णवोंके इतिहासमें स्वर्णाक्षरसे लिपिबद्ध रहेगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वरचित 'मन्त्रार्थदीपिका' में एक विशेष घटनाका वर्णन किया है—किसी समय उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृतका पठन-पाठन करते हुए कामगायत्रीके अर्थसे सम्बन्धित निम्नलिखित पयारोंपर विचार किया—

कामगायत्री-मन्त्ररूप, हय कृष्णेर स्वरूप,
सार्द्ध-चब्बिश अक्षर तार हय।
से अक्षर 'चन्द्र' हय, कृष्णे करि' उदय,
त्रिजगत् कैला काममय॥
(चै. च. म. २१/१२५)

अर्थात् कामगायत्री श्रीकृष्णका स्वरूप है। इस मन्त्रराजमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं तथा इस मन्त्रका प्रत्येक अक्षर पूर्ण चन्द्र है। ये चन्द्रसमूह कृष्णको उदित कराकर त्रिजगतको प्रेममय बना देते हैं।

इन पद्योंके प्रमाणसे काम-गायत्रीमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं, किन्तु कामगायत्रीमें कौनसा अर्द्धाक्षर है, बहुत चिन्ता करनेपर भी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती इसे न समझ सके। व्याकरण, पुराण, तन्त्र, नाट्य तथा अलङ्कार आदि शास्त्रोंमें विशेष रूपसे छानबीन करनेपर भी उन्हें कहीं भी अर्द्धाक्षरका उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ। उन सभी शास्त्रोंके अनुसार स्वर और व्यंजनके भेदसे उन्हें पचास अक्षरोंका ही उल्लेख मिला, किन्तु कहीं भी अर्द्धाक्षरका कोई प्रमाण नहीं मिला। श्रील जीवगोस्वामी द्वारा रचित श्रीहरिनामामृत व्याकरणके संज्ञापादमें स्वर व्यंजनके प्रसङ्गमें पचास अक्षरोंका ही उल्लेख देखा। मातृकान्यास

आदिमें भी मातृका रूपके ध्यानमें कहीं भी उन्हें अर्द्धाक्षरका उल्लेख नहीं मिला। बृहन्नारदीयपुराणमें राधिकाके सहस्र-नाम-स्तोत्रमें वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिकाजीको पचास वर्णरूपिणी कहा गया है। उसे देखकर श्रील चक्रवर्ती ठाकुरका सन्देह और भी बढ़ गया, उन्होंने सोचा कि क्या श्रील कविराज गोस्वामीने भ्रमवशतः ऐसा लिखा है? किन्तु उनमें भ्रम होनेकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वे भ्रम-प्रमादादि दोषोंसे सर्वथा रहित सर्वज्ञ हैं। यदि उक्त मन्त्रमें खण्ड 'त्' को अर्द्धाक्षर मानते हैं तो श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी क्रमभङ्गके दोषसे दोषी ठहरते हैं, क्योंकि उन्होंने ऐसा वर्णन किया है—

सखि हे, कृष्णमुख—द्विजराज-राज।
कृष्णवपु-सिंहासने, वसि' राज्य शासने,
करे सङ्गे चन्द्रेर समाज॥
दुइ गण्ड सुचिक्कण, जिनि' मणि-सुदर्पण,
सेइ दुइ पूर्णचन्द्र जानि।
ललाटे अष्टमी-इन्दु, ताहाते चन्दन-बिन्दु,
सेइ एक पूर्णचन्द्र मानि॥
करनख-चान्देर हाट, वंशी-उपर करे नाट,
तार गीत मुरलीर तान।
पदनख-चन्द्रगण, तले करे नर्त्तन,
नूपुरेर ध्वनि यार गान॥
(चै. च. म. २१/१२६-१२८)

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने उक्त पंक्तियोंमें श्रीकृष्णचन्द्रके मुखको पहला एक चन्द्र बतलाया है, तत्पश्चात् उनके दोनों गालोंको एक-एक पूर्णचन्द्र माना है, ललाटके ऊपरी भागमें चन्दनबिन्दुको चौथा पूर्णचन्द्र माना है तथा चन्दनबिन्दुके नीचे ललाट प्रदेशको अष्टमीका चन्द्र अर्थात् अर्द्धचन्द्र बतलाया है। इस वर्णनके अनुसार पञ्चम अक्षर ही अर्द्धाक्षर होता है, किन्तु खण्ड 'त्' को अर्द्धाक्षर माननेसे अन्तिम अक्षर ही अर्द्धाक्षर होता है, पञ्चम अक्षर अर्द्धाक्षर नहीं हो पाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अर्द्धाक्षरका निर्णय न

कर पानेके कारण बड़ी द्विविधामें फँस गए। उन्होंने विचार किया यदि मन्त्राक्षरकी स्फूर्ति न हो, तो मन्त्रदेवताकी स्फूर्ति होना असम्भव है, अतएव उपास्य देवताका दर्शन न होनेसे मर जाना ही अच्छा है। ऐसा सोचकर वे देह-त्याग करनेकी अभिलाषासे रातमें राधाकुण्डके तटपर उपस्थित हुए। रात्रिका द्वितीय प्रहर व्यतीत होनेपर अकस्मात् तन्द्राकी स्थितिमें उन्होंने श्रीवृषभानुनन्दिनीका दर्शन किया। श्रीराधाजीने बड़े स्नेहसे कहा—"हे विश्वनाथ! हे हरिवल्लभ! खेद मत करो, श्रीकृष्णदास कविराजने जो कुछ लिखा है, वह परम सत्य है। मेरे अनुग्रहसे वे मेरे अन्तःकरणकी सभी भावनाओंको जानते हैं। उनके वचनोंमें तनिक भी सन्देह मत करना। काम-गायत्री मेरी और मेरे प्राणवल्लभकी उपासनाका मन्त्र है। हमलोग मन्त्राक्षरके द्वारा भक्तोंके निकट प्रकाशित होते हैं। मेरे अनुग्रहके बिना हम दोनोंको कोई भी जाननेमें समर्थ नहीं है। 'वर्णागम-भास्वत्' नामक ग्रन्थमें अर्द्धाक्षरका निरूपण किया गया है, उसे देखकर ही श्रील कृष्णदास कविराजने काम-गायत्रीका स्वरूप-निर्णय किया है। तुम इसे देखकर श्रद्धालुओंके उपकारके लिए प्रकाशित करो।"

स्वयं वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाके इस आदेशका श्रवणकर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जग उठे और "हा राधे! हा राधे!" कहकर विलाप करने लगे। फिर धैर्य धारणकर उनकी आज्ञा पालनमें तत्पर हो गए। श्रीमती राधिकाने अर्द्धाक्षर निर्णय करनेके विषयमें जो इंगित दिया था, उसके अनुसार उक्त मन्त्रमें 'वि'के पूर्व जो 'य' है, वही अर्द्धाक्षर है। उसके अलावा अन्य सभी अक्षर पूर्णाक्षर या पूर्णचन्द्र हैं।

श्रीमती राधिकाजीकी कृपासे मन्त्रका अर्थ अवगत होकर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने अपने इष्टदेवका साक्षाद् दर्शन किया तथा सिद्धदेहके द्वारा नित्यलीलामें परिकरत्व प्राप्त किया। इसके पश्चात् उन्होंने राधाकुण्डके तटपर श्रीगोकुलानन्द नामक श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठाकी तथा वहीं रहते समय श्रीवृन्दावनकी नित्यलीलाओंका माधुर्य अनुभवकर श्रील कविकर्णपूर द्वारा रचित श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूकी सुखवर्त्तिनी नामक टीकाकी रचना की।

राधापरस्तीरकुटीरवर्त्तिनः प्राप्तव्यवृन्दावन चक्रवर्त्तिनः।
आनन्दचम्पू विवृतिप्रवर्त्तिनः सान्तो–गतिर्म्मे सुमहानिवर्त्तिनः॥

अपनी परिणत वयस (वृद्धावस्था) में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अन्तर्दशा और अर्द्धबाह्य दशामें रहकर भजन करनेमें ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करने लगे। उनके प्रधान शिष्य श्रीबलदेव विद्याभूषण ही उनके स्थानपर शास्त्र–अध्यापनका कार्य करने लगे।

परकीयावादकी पुनर्स्थापना

श्रीधाम वृन्दावनमें षड्गोस्वामियोंका प्रभाव किञ्चित् क्षीण होनेपर स्वकीया और परकीयावादका मतभेद उठ खड़ा हुआ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वकीयावादके भ्रमको दूर करनेके लिए सुसिद्धान्तपूर्ण 'रागवर्त्मचन्द्रिका' तथा 'गोपीप्रेमामृत' नामक ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं। तत्पश्चात् उन्होंने उज्ज्वलनीलमणिके 'लघुत्वमत्र' (१/२१) श्लोककी आनन्दचन्द्रिका टीकामें शास्त्रीय प्रमाणों और अकाट्य युक्तियोंके द्वारा स्वकीयावादका खण्डनकर परकीया विचारकी स्थापना की है। श्रीमद्भागवतकी सारार्थदर्शिनी टीकामें भी उन्होंने परकीया भावकी पुष्टि की है।

ऐसा कहा जाता है कि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीके समय कुछ पण्डितोंने परकीया उपासनाके विषयमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका विरोध किया था, किन्तु श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने अपनी प्रगाढ़ विद्वता तथा अकाट्य युक्तियोंके द्वारा उन्हें परास्त कर दिया। तब ईर्ष्यावशतः पण्डितोंने उन्हें जानसे मारनेका सङ्कल्प किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर प्रतिदिन प्रातःकाल श्रीवृन्दावन धामकी परिक्रमा करते थे। उन्होंने प्रभातकालीन अन्धकारमें श्रीधाम वृन्दावनकी परिक्रमा करते समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको किसी सघन अन्धकारपूर्ण कुञ्जमें जानसे मार डालनेकी योजना बनाई। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके परिक्रमा करते–करते उक्त सघन कुञ्जके समीप पहुँचनेपर वहाँ विरोधियोंने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको मारना चाहा, किन्तु अकस्मात् देखा कि वे वहाँ नहीं थे। अपितु

उनके स्थानपर एक सुन्दर व्रजबालिका अपनी दो-तीन सहेलियोंके साथ पुष्पचयन कर रही थी। ऐसा देखकर पण्डितोंने उस बालिकासे पूछा—"लाली! अभी-अभी एक महात्मा इधर आ रहे थे, वे किधर गये? क्या तुमने उनको देखा है?" बालिकाने उत्तर दिया—"देखा तो था, परन्तु किस ओर गए मुझे मालूम नहीं।" बालिकाके अद्भुत रूप-सौन्दर्य, कटाक्ष, भावभङ्गी और मन्द-मुस्कानको देखकर पण्डित समाज मुग्ध हो गया। उनके मनका सारा कल्मष दूर हो गया और उनका हृदय द्रवित हो गया। पण्डितोंके द्वारा परिचय पूछे जानेपर बालिकाने कहा, "मैं स्वामिनी श्रीमती राधिकाकी सहचरी हूँ। वे इस समय अपने ससुराल यावटमें विराजमान हैं। उन्होंने मुझे पुष्पचयन करनेके लिए भेजा है।" ऐसा कहते-कहते वे अन्तर्धान हो गईं और फिर पण्डितोंने उस बालिकाके स्थानपर पुनः श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको देखा। पण्डितोंने श्रील चक्रवर्ती ठाकुरके चरणोंमें गिरकर क्षमा प्रार्थना की तथा श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने उन्हें क्षमा कर दिया। श्रील चक्रवर्ती ठाकुरके जीवनमें ऐसी बहुत-सी आश्चर्यपूर्ण घटनाएँ सुनी जाती हैं। इस प्रकार इन्होंने स्वकीयावादका खण्डनकर शुद्ध परकीया विचारकी स्थापना की। इनका यह कार्य गौड़ीय-वैष्णवोंके लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने जिस प्रकारसे श्रीगौड़ीय-वैष्णव धर्मकी मर्यादाकी रक्षाकर पुनः श्रीवृन्दावनमें श्रीगौड़ीय-वैष्णव धर्मका प्रभाव स्थापित किया है, उसका विवेचन करनेसे उनकी अलौकिक प्रतिभासे विस्मित होना पड़ता है। उनके इस असाधारण कार्यके लिए श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्योंने एक श्लोक लिखा है—

विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्म प्रदर्शनात्।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्त्वात् चक्रवर्त्याख्ययाभवत्॥

अर्थात् भक्तिपथके प्रदर्शक होनेके कारण वे विश्वके नाथ अर्थात् विश्वनाथ हैं तथा शुद्धभक्तचक्र (भक्तमण्डली) में सदा अवस्थित रहनेके कारण चक्रवर्ती हैं, अतएव उनका नाम विश्वनाथ चक्रवर्ती हुआ है।

वे लगभग १६७६ शकाब्दमें लगभग एक सौ वर्षकी आयुमें माघी शुक्ला पञ्चमी तिथिको अपनी अन्तर्दशाकी अवस्थामें श्रीवृन्दावनमें अप्रकट हुए। आज भी श्रीधामवृन्दावनमें श्रीगोकुलानन्द मन्दिरके निकट उनकी समाधि विराजमान है।

इन्होंने श्रील रूपगोस्वामीका पदाङ्क अनुसरणकर विपुल अप्राकृत भक्तिसाहित्यका सृजनकर विश्वमें श्रीमन्महाप्रभुके मनोऽभीष्टको स्थापन किया है। साथ ही इन्होंने श्रीरूपानुग विरुद्ध कुसिद्धान्तोंका खण्डन भी किया है। इस प्रकार गौड़ीय-वैष्णव जगतमें ये परमोज्ज्वल आचार्य तथा प्रामाणिक महाजनके रूपमें ही प्रपूजित हुए हैं। ये अप्राकृत महादार्शनिक, अप्राकृत कवि और अप्राकृत रसिकभक्त तीनों रूपोंमें ही विख्यात हैं। कृष्णदास नामक एक वैष्णव पदकर्त्ताने श्रील चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा रचित माधुर्य-कादम्बिनीके पद्यानुवादके उपसंहारमें लिखा है—

माधुर्यकादम्बिनी-ग्रन्थ जगत कैल धन्य।
चक्रवर्ती-मुखे वक्ता आपनि श्रीकृष्णचैतन्य।
केह कहेन-चक्रवर्ती श्रीरूपेर अवतार।
कठिन ये तत्त्व सरल करिते प्रचार॥
ओहे गुणनिधि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती।
कि जानिव तोमार गुण मुञि मूढ़मति॥

अर्थात् श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने 'माधुर्य-कादम्बिनी' ग्रन्थकी रचनाकर समग्र जगतको धन्य कर दिया। वास्तवमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ही इस ग्रन्थके वक्ता हैं, वे ही श्रील चक्रवर्तीके मुखसे बोल रहे हैं। कुछ लोगोंका कहना है श्रील चक्रवर्ती ठाकुर श्रील रूप गोस्वामीके अवतार हैं। वे अत्यन्त सुकठिन तत्त्वोंको सहज सरल रूपमें वर्णन करनेकी कलामें परम प्रवीण हैं। अहो! दयाके सागर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर! मैं अत्यन्त मूढ़ व्यक्ति हूँ। आप कृपाकर इन अप्राकृत गुणोंको मेरे हृदयमें स्फूर्ति कराएँ—आपके श्रीचरणोंमें ऐसी प्रार्थना है।

गौड़ीय-वैष्णवाचार्योंमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी भाँति अनेकानेक ग्रन्थोंके लेखक बहुत कम ही आविर्भूत हुए हैं। अभी भी साधारण वैष्णव समाजमें श्रील चक्रवर्ती ठाकुरके तीन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें एक प्रवाद सुप्रचलित है—"किरण-बिन्दु-कणा, एइ तीन निये वैष्णवपना।"

इन्होंने गौड़ीय-वैष्णव भक्तिसाहित्य-भण्डारकी अतुल-सम्पद्-स्वरूप जिन ग्रन्थों, टीकाओं और स्तवों आदिकी रचनाएँ की हैं, नीचे उनकी तालिका प्रस्तुत की जा रही है—

(१) व्रजरीतिचिन्तामणि, (२) श्रीचमत्कारचन्द्रिका, (३) श्रीप्रेमसम्पुटः (खण्डकाव्यम्), (४) गीतावली, (५) सुबोधिनी (अलङ्कार-कौस्तुभ टीका), (६) आनन्दचन्द्रिका (उज्ज्वलनीलमणि टीका), (७) श्रीगोपाल-तापनी टीका, (८) स्तवामृतलहरी धृत—(क) श्रीगुरुतत्त्वाष्टकम्, (ख) मन्त्रदातृ-गुरोरष्टकम्, (ग) परमगुरोरष्टकम्, (घ) परात्परगुरोरष्टकम्, (ङ) परमपरात्पर गुरोरष्टकम्, (च) श्रीलोकनाथाष्टकम्, (छ) श्रीशचीनन्दनाष्टकम्, (ज) श्रीस्वरूप-चरितामृतम्, (झ) श्रीस्वप्नविलासामृतम्, (ञ) श्रीगोपालदेवाष्टकम्, (ट) श्रीमदनमोहनाष्टकम्, (ठ) श्रीगोविन्दाष्टकम्, (ड) श्रीगोपीनाथाष्टकम्, (ढ) श्रीगोकुलानन्दाष्टकम्, (ण) स्वयं-भगवत्ताष्टकम्, (त) श्रीराधाकुण्डाष्टकम्, (थ) जगन्मोहनाष्टकम्, (द) अनुरागवल्ली, (ध) श्रीवृन्दादेव्याष्टकम्, (न) श्रीराधिका-ध्यानामृतम्, (प) श्रीरूपचिन्तामणिः, (फ) श्रीनन्दीश्वराष्टकम्, (ब) श्रीवृन्दावनाष्टकम्, (भ) श्रीगोवर्धनाष्टकम्, (म) श्रीसंकल्प-कल्पद्रुमः, (य) श्रीनिकुञ्ज-केलिविरुदावली (विरुत्काव्य), (र) सुरतकथामृतम् (आर्यशतकम्), (ल) श्रीश्यामकुण्डाष्टकम्। (९) श्रीकृष्ण-भावनामृतम् महाकाव्यम्, (१०) श्रीभागवतामृत-कणा, (११) श्रीउज्ज्वल-नीलमणि-किरणः, (१२) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दुः, (१३) रागवर्त्म-चन्द्रिका, (१४) ऐश्वर्यकादम्बिनी (अप्राप्या), (१५) श्रीमाधुर्यकादम्बिनी, (१६) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु टीका, (१७) श्रीआनन्दवृन्दावन-चम्पूः टीका, (१८) दानकेलिकौमुदी टीका, (१९) श्रीललितमाधव नाटक टीका, (२०) श्रीचैतन्यचरितामृत टीका (असम्पूर्ण), (२१) ब्रह्मसंहिता टीका, (२२) श्रीमद्भगवद्गीताकी 'सारार्थवर्षिणी' टीका, (२३) श्रीमद्भागवतकी 'सारार्थदर्शिनी' टीका।

श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायैक-संरक्षक, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति तथा समितिके अन्तर्गत श्रीगौड़ीयमठोंके प्रतिष्ठाता आचार्य-केशरी मदीय परमाराध्य श्रीगुरुदेव अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रील भक्तिविनोद ठाकुर आदि पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंका बङ्गला भाषामें पुनः प्रकाशन किया है। उनकी हार्दिक अभिलाषा, उत्साहदान और अहैतुकी कृपासे आज राष्ट्रीय भाषा हिन्दीमें जैवधर्म, श्रीचैतन्य-शिक्षामृत, श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षा, श्रीशिक्षाष्टक, भक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु, उज्ज्वलनीलमणि-किरण, भागवतामृत-कणा, श्रीगीतगोविन्द, भजनरहस्य, गौड़ीय गीति-गुच्छ, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीवेणुगीत, भक्तितत्त्व-विवेक, वैष्णव-सिद्धान्त माला, श्रीब्रह्मसंहिता, रागवर्त्मचन्द्रिका, श्रीबृहद्भागवतामृतम्, गौड़ीय-कण्ठहार, श्रीश्रीप्रेमसम्पुट आदि ग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हुए हैं तथा क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं।

इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने, प्रूफ-संशोधन आदि सेवाकार्योंके लिए श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीओमप्रकाश व्रजवासी 'साहित्यरत्न', बेटी शान्ति दासी, श्रीपुण्डरीक ब्रह्मचारी, श्रीकृष्णकृपा ब्रह्मचारी, श्रीमधुमङ्गल ब्रह्मचारी तथा श्रीविजयकृष्ण ब्रह्मचारी आदिकी सेवा-प्रचेष्टा सराहनीय और विशेष उल्लेखयोग्य है। श्रीश्रीगुरुगौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपा आशीर्वाद करें, उनके चरणोंमें यही प्रार्थना है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति-पिपासु, विशेषतः व्रजरसके प्रति लुब्ध रागानुगाभक्तिके साधकजनोंमें इस ग्रन्थका समादर होगा और श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठकर श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रेमधनमें प्रवेशाधिकार प्राप्त करेंगे।

अन्तमें भगवत्करुणाके घनविग्रह परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्म मेरे प्रति प्रचुर कृपावारि वर्षण करें, जिससे मैं उनकी मनोऽभीष्ट सेवामें अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर सकूँ—यही उनके श्रीकृष्णप्रेम प्रदानकारी श्रीचरणोंमें सकातर प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

श्रीलमध्वाचार्यजीकी
आविर्भाव-तिथि पूजा,
२ अक्टूबर २००६ ई.
५२० चैतन्याब्द

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
दीन-हीन
त्रिदण्डिभिक्षु श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

॥श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः॥

माधुर्य-कादम्बिनी

प्रथमामृतवृष्टिः

सामान्य मङ्गलाचरण

हृद्वप्रे नवभक्तिशस्यविततेः सञ्जीवनी स्वागमा-
रम्भे कामतपर्त्तुदाहदमनी विश्वापगोल्लासिनी।
दूरान्मे मरूशाखिनोऽपि सरसीभावाय भूयात् प्रभु-
श्रीचैतन्यकृपानिरङ्कुशमहा-माधुर्य-कादम्बिनी॥१॥

भावानुवाद—साधकोंके हृदय-क्षेत्रमें नवधाभक्तिरूप धान्य आदि शस्यसमूहको अथवा सद्योजात नवीन कोमल भक्तिरूप शस्यसमूहको सम्यक् प्रकारसे जीवनीशक्ति प्रदान करनेवाली, अपने उदयकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही स्वसुखभोगकी कामना-वासनारूपी ग्रीष्म ऋतुके तीव्र तापको दूर करनेवाली, विश्वके समस्त नदीरूप भक्तसमूहको उल्लाससे भर देनेवाली, स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी कृपारूपी असीम प्रभावशाली-माधुर्य-कादम्बिनी बहुत दूरसे ही मरुभूमिमें स्थित शुष्कप्राय नीरस वृक्षरूप मुझमें सरसताका सञ्चार करें।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति

नमः ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठायभूतले।
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान-केशव इति नामिने॥
अतिमर्त्य-चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च-पालिने।
जीवदुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम-दायिने॥
गौराश्रय-विग्रहाय कृष्णकामैक-चारिणे।
रूपानुग-प्रवराय विनोदेति-स्वरूपिणे॥

विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्मप्रदर्शनात्।
भक्तिचक्रे वर्त्तितत्वात् चक्रवर्त्त्याख्ययाभवत्॥
श्रीचैतन्य मनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥
वाञ्छा-कल्पतरुभ्यश्च कृपा-सिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥
नमो महावदान्याय कृष्ण-प्रेम-प्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्ण-चैतन्य-नाम्ने गौरत्विषे नमः॥
हे कृष्ण! करुणासिन्धो! दीनबन्धो! जगत्पते!
गोपेश! गोपिकाकान्त! राधाकान्त! नमोऽस्तु ते॥
तप्तकाञ्चनगौराङ्गि! राधे! वृन्दावनेश्वरि!
वृषभानुसुते! देवि! प्रणमामि हरिप्रिये!॥

निरुपाधिक करुणावारिधि श्रीगुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी, जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद', श्रीश्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर, महामहोपाध्याय रसिकाचार्यवर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती, श्रीमन्महाप्रभुके प्रिय परिकर श्रील रूप गोस्वामी एवं महावदान्य राधाभाव-कान्ति-सुवलित शचीनन्दन श्रीगौरहरिके श्रीचरणकमलोंमें पुनः-पुनः प्रणतिपूर्वक उनकी कृपा-प्रार्थना करके श्रीमाधुर्य-कादम्बिनीका भावानुवाद और पीयूषवर्षिणी-वृत्ति आरम्भ कर रहा हूँ।

श्रीगौड़ीय वैष्णव रसिकाचार्यवर्य परम पूज्यपाद श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीगौड़ीय वैष्णव-समाजमें शुद्धाभक्तिका स्वरूप, उसके आविर्भावका क्रम, भक्तिका स्वप्रकाशत्व तथा उसकी लोकातीत महिमाको प्रकाश करनेके लिए अत्यन्त सरल-सहज एवं बोधगम्य भाषामें 'माधुर्य-कादम्बिनी' नामक एक अनुपम ग्रन्थकी रचना की है। ये श्रीरूपानुग वैष्णवाचार्योंकी श्रृंखलामें एक देदीप्यमान प्रधान स्तम्भ हैं। श्रीमन्महाप्रभुके परम कृपापात्र श्रीरूप गोस्वामीने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें भक्ति साधनके प्रारम्भिक सोपान श्रद्धासे लेकर प्रेम प्राप्ति तक कुछ सोपानोंके क्रमका वर्णन किया है, जिन सोपानोंको अङ्गीकारकर भक्ति

साधक श्रद्धासे आरम्भकर प्रेम राज्यमें सहज ही प्रवेश कर सकते हैं। वह क्रम है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥
(भ. र. सि. १/४/१५-१६)

अर्थात् भक्तिसाधकोंके हृदयमें सर्वप्रथम श्रद्धा, तदनन्तर साधुसङ्ग, उसके पश्चात् भजनक्रिया, उसके बाद अनर्थनिवृत्ति, अनन्तर भजनमें निष्ठा, तत्पश्चात् रुचि, उसके पश्चात् भजनीय व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णमें आसक्ति, तदुपरान्त शुद्धसत्त्वरूप भाव और तत्पश्चात् प्रेम उदित होता है। भक्तिसाधकोंके हृदयमें प्रेमाविर्भावका यही क्रम निरूपित हुआ है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने इस ग्रन्थमें श्रद्धासे लेकर प्रेमके आविर्भाव तकके प्रत्येक स्तरोंके लक्षण और अपराध आदि अनर्थोंकी निवृत्तिको अत्यन्त सहज सरल बोधगम्य रूपमें प्रस्तुत किया है। भक्तिसाधकोंके लिए यह ग्रन्थ प्रकाश स्तम्भकी भाँति पथ-प्रदर्शक होगा, इसमें तनिक भी सन्देहकी गुंजाइश नहीं है। इस ग्रन्थके अनुशीलनसे निष्कपट साधक स्वयं ही वैसा अनुभव कर सकेंगे कि उनकी भक्ति किस स्तरपर है, उसमें कौन-सी त्रुटियाँ हैं, उसे भक्ति पथमें आरोहण करनेके लिए आगे क्या करनेकी आवश्यकता है, साथ ही भक्ति राज्यमें अग्रसर होनेके लिए अधिकाधिक सामर्थ्य एवं प्रवृत्ति भी उनके हृदयमें उदित होगी।

जगद्वरेण्य परम पूजनीय श्रील चक्रवर्ती ठाकुरजीने इस ग्रन्थके प्रथम श्लोकमें वन्दनात्मक मङ्गलाचरणके अन्तर्गत अपने इष्टदेवकी अहैतुकी कृपा प्राप्तिके लिए प्रार्थना की है। श्रीराधाभावद्युति सुवलित श्रीकृष्णस्वरूप, रसराजमहाभावके मूर्तविग्रह श्रीकृष्णचैतन्यदेव ही उनके इष्टदेव हैं। उन्होंने करुणा-वरुणालय श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी कृपाको निरंकुश माधुर्य-कादम्बिनी कहा है। जलसे भरे हुए मेघोंकी लम्बी पंक्ति या मेघमालाको कादम्बिनी कहते हैं, अतः माधुर्य-कादम्बिनीका

तात्पर्य है माधुर्यरूप अमृतकी वर्षा करनेवाली मेघमाला। इसीलिए ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थका नाम माधुर्य-कादम्बिनी रखा है। श्रील रूप गोस्वामीने लिखा है—"माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता।" (उ. नी. ११/१९) अर्थात् सभी अवस्थाओंमें समस्त प्रकारकी चेष्टाओंकी निरुपम चारुता, मनोहरता एवं अपूर्व स्वरूपताका नाम माधुर्य है। वैसे माधुर्यकी पराकाष्ठा एकमात्र निखिल माधुर्यमूर्त्ति स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनदन श्रीकृष्णमें ही है। श्रील जीव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/१२/११) के श्लोककी लघुतोषणी टीकामें इस विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा है—"भगवांस्तावदसाधारणस्वरूपैश्वर्यमाधुर्यस्तत्त्वविशेषः। तत्र स्वरूपं परमानन्द ऐश्वर्यमसमोर्द्धानन्तस्वाभाविकप्रभुता माधुर्यमसमोर्द्धतया सर्वमनोहरं स्वाभाविकरूपगुणलीलादिसौष्ठवम्।" अर्थात् किसी असाधारण स्वरूप-ऐश्वर्य-माधुर्यरूप विशेष तत्त्वका नाम भगवान् है। परमानन्द ही परब्रह्मका स्वरूप है, असमोर्ध्व अनन्त ईश्वरत्व ही उनका ऐश्वर्य है तथा सर्वाकर्षक स्वाभाविक रूप, गुण और लीला आदिका सौष्ठव ही माधुर्य है। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीने भी वैसा ही सिद्धान्त स्थापित किया है—"माधुर्य भगवत्ता-सार।" (चै. च. म. २१/११०)

वस्तुतः परम औदार्यविग्रह श्रीकृष्णचैतन्यदेवकी अहैतुकी कृपासे ही विश्व यह जान सका है कि भगवत्ताका सार माधुर्यपर ही प्रतिष्ठित है। प्राचीन कालके समस्त वैष्णवाचार्योंके मतानुसार ऐश्वर्य ही भगवत्ताका सार है। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके कृपापात्र गोस्वामियोंने सर्वशास्त्रशिरोमणि अमल प्रमाणस्वरूप श्रीमद्भागवतीय श्लोकोंके आधारपर स्वयं-भगवत्ताका आधार माधुर्यको ही निरूपित किया है। यद्यपि सभी भगवत्-स्वरूप तत्त्वतः अभिन्न हैं, फिर भी "रसो वै सः" (श्रुति) "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" (श्रीमद्भा. ७/१०/४८) नराकृति परब्रह्म व्रजेन्द्रन्दन श्रीकृष्ण ही माधुर्यके साक्षात् मूर्त्तिमान विग्रह हैं। केवल यही नहीं, सभी रसोंके विषयस्वरूप वे रसिकशेखर भी हैं। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके अतिरिक्त किसी भी अन्य भगवत्-स्वरूपमें सभी रसोंका विकास पराकाष्ठा रूपमें नहीं देखा जाता। केवल ये श्रीकृष्ण ही अखिलरसामृतमूर्त्ति हैं। इनमें सभी

रसोंका विकास अन्तिम सीमा तक देखा जाता है। श्रील रूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीकृष्णकी चार असाधारण माधुरियोंका वर्णन किया है, जो अन्यत्र किसी भी भगवत्-स्वरूपमें उपलब्ध नहीं हैं। ये चार माधुरियाँ हैं—लीलामाधुर्य, प्रेममाधुर्य, वेणुमाधुर्य, रूपमाधुर्य। ये चारों माधुरियाँ व्रजविहारी श्रीकृष्णमें ही परिपूर्ण रूपमें परिलक्षित होती हैं। "चतुर्द्धामाधुरीस्तस्य व्रज एव विराजते" (लघुभागवतामृतम्)। यह ग्रन्थ उक्त कृष्ण-माधुर्यकी वर्षा करनेवाली मेघमालाकी भाँति है। इसीलिए ग्रन्थकारने इस ग्रन्थका नाम 'माधुर्य-कादम्बिनी' रखा है।

दूसरी बात यह है कि माधुर्यतत्त्व अत्यन्त दुर्लभ एवं रहस्यपूर्ण है। इन माधुरियोंका आस्वादन करनवाले भगवान् अथवा उनके भक्तोंकी अहैतुकी कृपाके बिना किसी भी दूसरे उपायसे उक्त माधुरियोंका आस्वादन नहीं किया जा सकता है।

प्रेमरस-निर्यास करिते आस्वादन।
रागमार्ग भक्ति लोके करिते प्रचारण॥
रसिक-शेखर कृष्ण परमकरुण।
एइ दुइ हेतु हैते इच्छार उद्गम॥
(चै. च. आ. ४/१५-१६)

अर्थात् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण रसिकशेखर होनेके साथ-साथ परमकरुण भी हैं। वे रसिकशेखर होनेके कारण प्रेमरस-निर्यासका आस्वादन करनेके लिए तथा परम करुण होनेके कारण रागमार्गभक्तिका जगतमें वितरण करनेके लिए वर्त्तमान कलियुगकी प्रथम सन्ध्यामें महाभावस्वरूपा श्रीमती राधिकाका भाव एवं उनकी गौरकान्तिको अङ्गीकारकर श्रीकृष्णचैतन्यके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। उन्होंने स्वयं श्रीकृष्णकी असाधारण चारों प्रकारकी माधुरियोंका चरमसीमा तक स्वयं आस्वादनकर सारे विश्वको उस प्रेमकी बाढ़में डुबो दिया। इसीलिए श्रील ग्रन्थकारने ग्रन्थके प्रारम्भमें ही अपने इष्टदेव श्रीचैतन्य महाप्रभुके वन्दनात्मक श्लोकमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी कृपाको 'निरंकुश महामाधुर्य-कादम्बिनी' कहा है। जैसे वर्षा ऋतुमें आकाश-व्यापी मेघमाला विपुल वारि वर्षणसे विश्वको आप्लावित कर देती है, वह ऊँच-नीच, पवित्र-

अपवित्र, सुदेश–कुदेश आदि किसी भी बातकी अपेक्षा नहीं रखती, वैसे ही श्रीचैतन्य महाप्रभुकी विधि–निषेधसे सर्वथा अतीत निरंकुश कृपाने पात्र–अपात्रका विचार किए बिना विश्वके निखिल जीवोंको प्रेम प्रदानकर कृतार्थ कर दिया है—

चैतन्यावतारे बहे प्रेमामृत–वन्या।
सब जीव प्रेमे भासे, पृथिवी हैल धन्या॥
(चै. च. अ. ३/२५२)

उथलिल प्रेमवन्या, चौदिके बेड़ाय।
स्त्री, वृद्ध, बालका, युवा सकलि डुबाय॥
सज्जन, दुर्ज्जन, पङ्गु, जड़, अन्धगण।
प्रेमवन्याय डुबाइल जगतेर जन॥
जगत् डुबिल, जीवेर हैल बीज नाश।
ताहा देखि' पाँचजनेर परम उल्लास॥
यत यत प्रेमवृष्टि करे पञ्चजन।
तत तत बाढ़े जल, व्यापे त्रिभुवन॥
(चै. च. आ. ७/२५–२८)

अर्थात् श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अवतारके समय प्रेमकी ऐसी बाढ़ आई कि उस बाढ़में पृथ्वीके सारे जीव डूब गए। इस प्रकार पृथ्वी धन्य हो गई।

इस प्रकार श्रीचैतन्यमहाप्रभुने अपनी निरंकुश कृपाके प्रभावसे अपने प्रकटकालमें बिना साधनके ही कृष्णप्रेमका दानकर जगतको धन्य कर दिया—"कृष्ण प्रेम हय जार दूरदरशने।" किन्तु उनके अप्रकट कालमें लोगोंको साधनभजनके द्वारा ही प्रेम प्राप्त होता है। फिर भी श्रीमन्महाप्रभुकी कृपा–कादम्बिनी साधकोंकी साधनभक्तिको परिपुष्टकर शीघ्र ही प्रेमभक्तिको उदित करा देती है। श्रीग्रन्थकार उक्त श्लोकमें निरंकुश महामाधुर्य–कादम्बिनीके प्रभावका वर्णन करते हुए कहते हैं—"हृद्वप्रे नवभक्तिशस्यवितते: सञ्जीवनी" अर्थात् महाप्रभुकी कृपा–कादम्बिनी हृदय भूमिमें नवोदित भक्तिरूप शस्यसमूहको अथवा

नवधाभक्तिरूप शस्यसमूहको सम्यक् प्रकारसे जीवनीशक्ति प्रदान करती है।

मेघमाला जलरूपी अमृतको बरसाकर धान्य आदि शस्योंमें नवजीवनका सञ्चार करती है, परन्तु वहाँ उनका बीज अथवा मूल कुछ-न-कुछ अवश्य ही पहलेसे ही विद्यमान रहता है। किन्तु श्रीमन्महाप्रभुकी कृपारूप मेघमाला जीवोंके भक्ति संस्काररूप बीज या मूलरहित ऊसर हृदय क्षेत्रमें भी नवीन रूपमें भक्तिबीज आरोपितकर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित ही नहीं करती, बल्कि उसमें प्रेमफलका उदय भी करा देती है। जीव परिपक्व प्रेमफलको प्राप्तकर कृतकृतार्थ हो जाता है।

यहाँ 'हृद्-वप्रे' का तात्पर्य हृदय-क्षेत्रसे है। भक्तिका आविर्भाव क्षेत्र—आधार भूमि हृदय है। जहाँसे अभिलाषा प्रकाशित होती है और पुनः उसीमें लीन हो जाती है, उसे हृदय कहते हैं। हृदयका नामान्तर चित्त भी है। यह जड़ होनेपर भी भगवत्-इच्छासे इसमें चिन्मयी भक्ति आविर्भूत होनेकी योग्यता रहती है। निर्मल हृदय उर्वर क्षेत्रके समान है। ऊसर या कंकड़ीली या पथरीली भूमिमें कोई भी शस्य पैदा नहीं होता। उसी प्रकार तर्क-कठोर हृदयमें भक्तिका आविर्भाव नहीं होता। यद्यपि लौकिक बुद्धिके द्वारा व्यवहारिक ज्ञानका आविर्भाव होता है; किन्तु वह भक्ति प्रकाशका क्षेत्र नहीं है। ऐसा देखा जाता है कि एक बुद्धिहीन अज्ञ बालक भी जन्मान्तर अथवा आधुनिकी संस्कारके अनुसार परम श्रद्धालु या उच्च कोटिका भक्त हो जाता है। दूसरी तरफ महाबुद्धिमान व्यक्ति भी नास्तिक होता है। इसीलिए हृदय या चित्त ही भक्तिका आविर्भाव क्षेत्र है—मन अथवा बुद्धि नहीं। 'हृद्वप्रे' शब्दका यही तात्पर्य है।

'नवभक्तिसे' यहाँ नवोदित कोमल भक्ति अथवा श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रवण, कीर्त्तनादि नवधाभक्तिको समझना चाहिए—

"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

(श्रीमद्भा. ७/५/२३)

अर्थात् भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीलाका श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण, उनका पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और आत्मनिवेदन यह नवधाभक्ति है। भजनके बहुतसे अङ्ग रहनेपर भी यह नवधाभक्ति ही प्रेमको उदय करानेमें श्रेष्ठ साधन है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने स्वयं कहा है—

"भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
'कृष्णप्रेम', 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति॥
ता'र मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्त्तन।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥"
(चै. च. अ. ४/७०-७१)

यह नवधाभक्ति श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपारूपी माधुर्य मेघमालासे जीवनीशक्ति प्राप्त करती है। उपरोक्त नौ प्रकारकी भक्ति कृष्णप्रेमको आविर्भूत करानेके लिए तथा कृष्णकी सेवा प्रदान करनेके लिए महान सामर्थ्य रखती है। उनमें भी भगवान्‌का नामकीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ है। अपराधादि अनर्थोंसे दूर रहकर नामसंकीर्त्तन किए जानेपर वे शीघ्र ही प्रेमरूप महासम्पत्तिको अनायास ही प्रदान करते हैं; क्योंकि नाम और नामी स्वरूपतः अभिन्न हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुने सर्वप्रथम विश्वको नामसंकीर्त्तनका एक सर्वथा नवीन उपहार प्रदान किया है। उन्होंने स्वयं ही घोषणा की है "परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम्" "नवविधाभक्ति पूर्ण हय नाम हैते" श्रीभगवान्‌के नामसे ही नवधाभक्ति पूर्ण होती है। श्रीहरिनामके बिना उक्त नवधाभक्ति भी अधूरी है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने स्वयं हरिनाम-संकीर्त्तनका आचरणकर तथा उसका सर्वत्र प्रचारकर जगत्-जीवोंको श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन करनेकी शिक्षा दी है। इस प्रकार उन्होंने नामसंकीर्त्तनके द्वारा ही नवधाभक्तिको पूर्णकर उसे प्रेमफल प्रदान करनेके लिए योग्य बनाया है। इसीलिए श्रीग्रन्थकारने श्रीचैतन्य-कृपाको नवधाभक्तिरूपी शस्यमें जीवनीशक्तिका सञ्चार करनेवाली महामाधुर्य-कादम्बिनी कहा है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब तक साधकोंके हृदयक्षेत्रमें नाना प्रकारकी स्वसुख भोगकी वासनाएँ

विद्यमान हैं, उन भोगवासनाओंके तीव्र तापसे वह झुलस रहा है, तब तक वहाँ अत्यन्त सुकोमल भक्तिवृत्तिके उदयकी सम्भावना ही कहाँ है? इसके उत्तरमें पूजनीय ग्रन्थकार महोदय श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपारूपी महामाधुर्य-कादम्बिनीके एक दूसरे महाप्रभावका वर्णन कर रहे हैं—"स्वागमारम्भे कामतपर्त्तुदाहदमनी" आकाशमें मेघमालाके उदय होते ही, वर्षा होनेके पूर्व ही जैसे सुशीतल वायु प्रवाहित होने लगती है और उसीसे ग्रीष्म ऋतुका तीव्र ताप अनायास ही दूर हो जाता है, प्राणियोंके भीतरी और बाहरी सभी अङ्ग सुशीतल हो जाते हैं, वैसे ही श्रीचैतन्य-कृपा-कादम्बिनी बरसनेसे पूर्व ही अपने प्रारम्भिक प्रभावसे साधकोंके हृदयकी कामना-वासनासे उत्पन्न त्रिताप ज्वाला—जो ग्रीष्म ऋतुके तीव्र तापसे भी करोड़ों-करोड़ों गुणा अधिक ज्वालामयी होती है, उससे झुलसते हुए साधकोंके बाह्याभ्यन्तर सभी अङ्ग सुशीतल हो जाते हैं। जड़ीय कामना-वासनाकी तो बात ही क्या? मुक्ति कामनाकी गन्ध तकको भी साधकके हृदयसे दूरकर वहाँ श्रीकृष्ण-प्रीतिमूलक सेवाकी वासना पूर्णरूपमें भर देती है। अहो! श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह कृपा धन्य है। जिन लोगोंका योग, ध्यान, जप, तप, त्याग, नियम, वेदपाठ, सदाचार आदिसे लेशमात्र सम्बन्ध नहीं, हाय! हाय! यहाँ तक कि निषिद्ध पापकर्मोंसे भी जिनकी निवृत्ति नहीं हुई है, वे लोग भी आज श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे पुरुषार्थशिरोमणि—ब्रह्मा, शिव, नारद आदिके वाञ्छित महाप्रेमको करताली बजाते हुए लूट रहे हैं—

"न योगो न ध्यानं न च जपतपस्त्यागनियमो,
न वेदा नाचारः क्व नु वत निषिद्धाद्युपरतिः।
अकस्माच्चैतन्येऽवतरति दयासारहृदये
पुमार्थानां मौलिं परमिह मुदां लुण्ठति जनः॥"

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ६)

प्रपूज्यचरण श्रीग्रन्थकार महोदय उल्लासमें भरकर श्रीचैतन्य-कृपा-कादम्बिनीके तीसरे आश्चर्यजनक प्रभावका वर्णन करते हुए कहते

हैं—"विश्वापगोल्लासिनी।" जैसे वर्षाकालमें मेघमाला घनघोर वृष्टिके द्वारा नद-नदियोंको भर देती है, उनमें बड़ी-बड़ी तरङ्गें उठने लगती हैं। वे अपने उफनते हुए जलसे दोनों तटोंको डुबोती हुई प्रबल वेगसे महासागरसे मिलनेके लिए अग्रसर होती हैं, उसी प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभुके अवतारके समय उनकी कृपारूपी महामाधुर्य-कादम्बिनीकी वर्षासे समस्त विश्वरूपी नदियोंमें श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तनके माध्यमसे प्रेमकी बाढ़ आ गई और उनमें सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावोंकी प्रबल तरङ्गें उठने लगीं। सारे विश्वके लोग उस प्रेमकी बाढ़में बहकर प्रबल वेगसे अखिल रसामृतसिन्धु श्रीकृष्णप्रेमकी ओर अग्रसर होने लगे। महावदान्य श्रीशचीनन्दन गौरहरि और उनके प्रिय परिकरोंने ऐसा प्रेम दान किया, नहीं नहीं!! ऐसा प्रेम लुटाया कि प्रेमकी प्रबल बाढ़ आ गई, उस बाढ़में पात्र-अपात्र, स्त्री-पुरुष, बालक-युवा, सज्जन-दुर्ज्जन, लंगडे-लूले, अन्धे सभी डूब गए। यहाँ तक कि हिंसक वनैले जीव-जन्तु भी, मायावादी, कर्मनिष्ठ, कुतार्किक, निन्दक, पाखण्डीरूप बाघ, सिंह, भालू आदि भी अछूते नहीं रहे। आज भी उसका प्रभाव सारे विश्वमें दृष्टिगोचर हो रहा है। मद्यप-मांसाहारी, नास्तिक, भौतिकवादी देशोंमें हजारों-हजारों स्त्री-पुरुष, युवक-युवतियाँ गलेमें तुलसी माला, ललाटपर दिव्य तिलक धारणकर दोनों हाथोंको उठाकर "हरे कृष्ण हरे राम" की तरङ्गोंमें बह रहे हैं। यह सब श्रीमन्महाप्रभुकी कृपारूपी महामाधुर्य-कादम्बिनीका ही प्रत्यक्ष फल है।

मूल श्लोकके अन्तमें श्रीग्रन्थकार अतिशय दीन-हीन होकर श्रीमन्महाप्रभुकी अहैतुकी कृपाकी प्रार्थना कर रहे हैं—"दूरान्मे मरु-शाखिनोऽपि सरसीभावाय भूयात्"—श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपारूपी निरंकुश महामाधुर्य-कादम्बिनी बहुत दूरसे भी मरुस्थलस्थित सूखे हुए वृक्षकी भाँति मेरे नीरस हृदयमें सरसताका सञ्चार करे। वर्षाकालीन मेघमाला पृथ्वीके समीप आकर घनघोर वर्षा करती है, मरुस्थलमें उस प्रकारसे वर्षा नहीं होती, वहाँ मेघका कोई टुकड़ा, वह भी यदाकदा दूरसे ही बूंदाबांदीके रूपमें बरसता है। श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने अत्यन्त दीन भावसे अपनेको श्रीमन्महाप्रभुकी कृपा-कादम्बिनीसे बहुत दूरस्थित

(क्योंकि श्रील चक्रवर्ती ठाकुरका प्रकटकाल श्रीमन्महाप्रभुके प्रकटकालसे पीछे है) मरुभूमिका एक नीरस जड़ वृक्ष माना है। अतः उन्होंने प्रार्थना की है कि—"हे श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपारूप अमित प्रभावशाली माधुर्य-कादम्बिनि! बहुत दूर रहते हुए भी—मुझ जैसे नीरस, जड़-बुद्धिवाले अत्यन्त दीन जनमें भी भक्तिरस—श्रीकृष्णके मधुररसका सञ्चारकर उसे सरस बनावें।"

श्रीचैतन्य महाप्रभुके परम कृपापात्र, प्रेमके धनी श्रील चक्रवर्ती ठाकुर सब प्रकारसे सर्वोत्तम होते हुए भी नामप्रेमके प्रचार करनेवाली नामसाधन-प्रणालीकी शिक्षा दे रहे हैं। स्वभाव सुलभ वैष्णवोचित विलक्षण दीनता प्रकाशकर ऐसी प्रार्थना कर रहे हैं। बिना दीनताके प्रेम और बिना प्रेमके दीनता सम्भव नहीं है। महावदान्य श्रीचैतन्यदेवकी कृपा हुए बिना ऐसी दीनता असम्भव है, यदि कृष्णभक्तिरसकी लालसा है तो साधकोंको ऐसे ही स्वाभाविक दीन-हीन होना होगा, श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं श्रीस्वरूपदामोदर और श्रीरायरामानन्द दोनोंसे कहा है—

जे रूपे लइले नाम, प्रेम उपजय।
तार लक्षण-श्लोक शुन, स्वरूप-रामराय॥
(चै. च. अ. २०/२०)

हे स्वरूप दामोदर! हे राय रामानन्द! जिस प्रकार श्रीहरिनाम करनेसे हृदयमें प्रेम उदित होता है, उसका लक्षण श्रवण करो—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥
(शिक्षाष्टक ३)

अर्थात् यदि कृष्णप्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा है तो तृणसे भी अधिक दीन-हीन, वृक्षकी भाँति सहिष्णु, स्वयं अमानी, दूसरोंको यथायोग्य मान देनेवाला बनकर नित्य-निरन्तर श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन अवश्य ही करणीय है।

विशेष मङ्गलाचरण

भक्तिः पूर्वैः श्रिता तान्तु रसं पश्येद् यदात्तधीः।
तं नौमि सततं रूपनामप्रियजनं हरेः॥२॥

भावानुवाद—पूर्वकालमें होनेवाले महाजनोंने भी भक्तिदेवीका आश्रय ग्रहण किया है, किन्तु इस समय जिनकी कृपासे सद्बुद्धिको प्राप्तकर लोग उस भक्तिको भक्तिरसस्वरूपमें दर्शन कर रहे हैं, उन श्रीचैतन्य महाप्रभुके श्रीरूप गोस्वामी नामक परमप्रिय जनको मैं नित्य-निरन्तर प्रणाम करता हूँ।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—जीव स्वरूपतः कृष्णदास होनेपर भी अनादि-कालसे भगवान्को भूलकर माया द्वारा कवलित होकर जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ त्रितापोंसे दग्ध हो रहा है। कभी वह अपने कर्मफलसे स्वर्गमें देवता, कभी भूतलपर राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शूद्र, कभी सुखी, कभी दुःखी, कभी स्थलचर, कभी जलचर, कभी पशु-पक्षी, कभी दैत्य, कभी दानवकी योनियोंमें प्रवेशकर भ्रमण करता हुआ सुखका अनुसन्धान करता है, परन्तु उसे कहीं भी यथार्थ सुख नहीं मिल पाता। परम कारुणिक भगवान् अपने प्रिय जीवोंकी ऐसी दुर्दशा देखकर द्रवित हो जाते हैं। वे सात्त्वत वेद शास्त्रोंके रूपमें अवतरित होकर, स्वयं नाना भगवत्-अवतारोंके रूपमें आविर्भूत होकर तथा अपने प्रिय परिकरोंको आचार्यके रूपमें इस जगतीतलपर अवतीर्ण कराकर उन भूले-भटके जीवोंको पुनः अपनी सेवामें नियुक्तकर उन्हें चिर सुखी करनेके लिए अपनी भक्तिका उपदेश करते हैं। एकमात्र भगवद्भक्ति ही विमुख एवं दुःखी जीवोंको भगवान्की प्राप्ति कराकर उन्हें चिर सुखी बना सकती है। वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि एक स्वरसे इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। कर्म, ज्ञान, योग, तपस्या आदिके द्वारा जीवका शाश्वत कल्याण कदापि सम्भव नहीं है।

"भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति
भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी।"

(३/३/५३ सूत्रका मध्वभाष्यधृत माठर-श्रुति-वचन)

अर्थात् भक्ति ही जीवको भगवान्‌के निकट ले जाती है, भक्ति ही जीवको भगवद्दर्शन कराती है। वे परम पुरुष भगवान् भक्तिके ही अधीन हैं। भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

"यस्य देवे परा भक्तिः" (श्वेताश्वतर) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" (वेदान्तसूत्र), "स वै पुंसां परो धर्मो" (श्रीमद्भा. १/२/६) "भगवान् ब्रह्म कात्स्‍र्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया। तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥" (श्रीमद्भा. २/२/३४) आदि शास्त्रवचनोंके द्वारा केवलमात्र भगवद्भक्तिके द्वारा ही जीवोंकी आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति होती है एवं उनको यथार्थ आनन्दकी प्राप्ति होती है, यह अटल सिद्धान्त प्रतिपादित होता है। यह भक्ति कर्म, योग, ज्ञान आदि किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं रखती। यहाँ तक कि देश, काल, पात्रकी भी अपेक्षा नहीं रखती। वह सर्वशक्तिमान, स्वप्रकाश भगवत्तत्त्वकी भाँति स्वप्रकाश एवं सर्वशक्तिमान तत्त्व है। क्योंकि वह उक्त भगवान्‌की ही स्वरूपशक्तिकी एक विशेष वृत्ति है। अतः इस रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंने एकमात्र भक्तिका ही आश्रय ग्रहण किया है और उसीका प्रचार किया है। यथार्थमें महाजन या महापुरुष केवलमात्र वे ही हैं, जिन्होंने विशुद्ध भगवद्भक्तिका आश्रय ग्रहण किया है। उन महापुरुषोंमें श्रीनारद, श्रीप्रह्लाद, श्रीपाण्डवगण, श्रीउद्धव, श्रीशुकदेव गोस्वामी, श्रीयामुन आचार्य, श्रीनाथमुनि, श्रीगोदादेवी और श्रीरामानुज, श्रीमध्वाचार्यादि वैष्णव आचार्यगण—सभीने एकमात्र भक्तिका ही आश्रय ग्रहण किया है। उन्होंने आचार और प्रचारके द्वारा भक्तिकी महिमाकी सारे विश्वमें घोषणा की है। निखिल शास्त्रविद् परम रसज्ञ श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने इस गूढ़ रहस्यकी उपलब्धिकर पूर्वोक्त श्रीनारद आदि प्रमुख भक्तोंको ही पूर्वकालीन महापुरुष कहा है। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभुके पूर्व भक्ति रसस्वरूप है, ऐसा किसीको भी पता नहीं था। परम कारुणिक रसिकशेखर श्रीचैतन्यदेवके विशेष कृपापात्र श्रील रूप गोस्वामीने सर्वप्रथम स्वरचित श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, श्रीउज्ज्वलनीलमणि आदि ग्रन्थोंमें भक्तिके रसस्वरूपकी प्रतिष्ठा की है।

विश्वभरके सौभाग्यवान मनुष्य उन्हीं श्रीरूप गोस्वामीसे सद्बुद्धि प्राप्तकर भक्तिको रसस्वरूप अनुभव कर रहे हैं एवं दूसरोंको भी अनुभव करा रहे हैं।

श्रील रूप गोस्वामीकी कृपासे ही भक्तिके रसस्वरूपकी साक्षात् रूपमें अनुभूति सम्भव है—यदि प्रपूज्यचरण श्रील चक्रवर्ती ठाकुरकी इस उक्तिपर विचार किया जाए तो ग्रन्थका कलेवर अत्यधिक बढ़ जाएगा, अतः यहाँ इतना ही उल्लेख करना आवश्यक है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं रसिकशेखर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। वे महाभावस्वरूपिणी श्रीमती राधिकाके उन्नत उज्ज्वल प्रेमरस निर्यासको आस्वादन करनेके लिए तथा परमकरुण होनेके कारण रागमार्ग भक्ति-सम्पत्तिका वितरण करनेके लिए श्रीराधाभाव एवं कान्तिको अङ्गीकारकर शचीनन्दन श्रीगौरहरिके रूपमें अवतरित हुए हैं। श्रीब्रह्मादिके लिए भी दुर्लभ उस रसमयी भक्तिको उन्होंने ही लगभग एक हजार चतुर्युग पूर्व किसी विशेष कलियुगमें श्रीगौराङ्गके रूपमें अवतरित होकर दान किया था। उक्त विशेष कलियुगके प्रारम्भसे लेकर वर्त्तमान समय तक बहुत-से भगवदवतार एवं वैष्णव आचार्य अवतरित हुए हैं, किन्तु किसीने भी रसमयी भक्तिको इस भूतलपर जीवोंको प्रदान नहीं किया। देनेकी तो बात ही क्या? उसका यथार्थ परिचय भी न दे सके।

श्रील रूप गोस्वामी, राधाभावकान्ति सुवलित श्रीगौरहरिके प्रिय परिकर हैं तथा व्रजलीलामें वे श्रीमती राधिकाकी अन्तरङ्ग दासियोंमें—मञ्जरियोंमें प्रधान श्रीरूपमञ्जरी हैं। वे ही व्रजकी उन्नत-उज्ज्वल रसमयी भक्तिका प्रचार करनेके लिए श्रीगौरलीलामें श्रीरूप गोस्वामीके रूपमें अवतरित हुए हैं। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्य-चरितामृतमें इस रहस्यका उद्घाटन किया है। जिस प्रकार सृष्टिके आदिमें श्रीभगवान्‌ने पितामह ब्रह्माके हृदयमें शक्ति सञ्चारकर विश्वका सृजन किया है, उसी प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपने परम प्रिय श्रीरूपके हृदयमें शक्ति सञ्चारकर उनके द्वारा कालके प्रभावसे लुप्त व्रजकी श्रीश्रीराधाकृष्णके चिन्मयविलासकी लीलाकथाओंका प्रचार करवाया है। श्रीचैतन्यचरितामृत (म. १९/११७) में कहा गया है—

"श्रीरूप-हृदये प्रभु शक्ति सञ्चारिला।
सर्वतत्त्व-निरूपणे 'प्रवीण' करिला॥"

श्रीनरोत्तम ठाकुरजीने भी प्रेमभक्तिचन्द्रिकामें कहा है—"श्रीचैतन्य-मनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।"

उन्नत-उज्ज्वल रसमयी व्रजभक्तिका पुनः इस जगतीतलपर प्रकाश करना ही श्रीचैतन्य महाप्रभुका वह मनोऽभीष्ट है। श्रील रूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि आदि भक्तिके मौलिक ग्रन्थोंकी रचना और उनके प्रचार द्वारा श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टकी सर्वाङ्गीण रूपमें प्रतिष्ठा की है। इस विषयमें श्रीमाधव कविका उद्‌गार बड़ा ही मार्मिक है—

यङ् कलि रूप शरीर न धरत।
तङ् ब्रजप्रेम महानिधि-कुठरिक
कौन कपाट उघाड़त॥
नीर-क्षीर-हंसन पान-विधायन
कोन् पृथक् करि पायत।
को सब त्यजि भजि' वृन्दावन
को सब ग्रन्थ विरचित॥
जब पितु वनफुल फलत नानाविध
मनोराजि अरविन्द।
सो मधुकर बिनु पान कोन् जानत
विद्यमान करि बन्ध॥
को जानत मथुरा-वृन्दावन
को जानत व्रज-नीत।
को जानत राधामाधव-रति
को जानत सोइ प्रीत॥
जाकर चरण- प्रसादे सकल जन
गाइ गवाइ सुख पावत।
चरण-कमले शरणागत माधो
तव महिमा उर लागत॥

यद्यपि श्रीरूपगोस्वामीसे पूर्वकालमें शाण्डिल्य सूत्रमें "सा परानुरक्तिरीश्वरे" परमेश्वरमें परम अनुरक्तिको भक्तिका लक्षण कहा गया है। पञ्चरात्रमें—

सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥
(धृत भ. र. सि. १/१/१२)

सर्व उपाधियोंसे रहित, समस्त इन्द्रियोंके द्वारा ईश्वर हृषीकेशकी विशुद्ध सेवा—केवलमात्र उनकी प्रसन्नताके लिए ही, भक्ति कही गई है।

अन्यत्र भी शास्त्रोंमें कहा गया है—

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।
(श्रीमद्भा. ३/२५/१२)

अर्थात् अविच्छिन्न तैलधाराके समान मनकी गतिका परम पुरुषोत्तमके प्रति लगना ही निर्गुणा भक्तिका लक्षण है। परन्तु श्रील रूपगोस्वामीने उपर्युक्त सभी भक्तिके लक्षणोंको अन्तर्भूतकर तथा उनसे भी अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण अत्यन्त अद्भुत सुन्दर भक्तिकी अनुपम परिभाषाका निरूपण किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
(भ. र. सि. १/१/११)

श्रीकृष्णको सुखी करनेकी स्पृहाके अतिरिक्त समस्त प्रकारकी अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञान कर्मादिसे अनावृत, एकमात्र श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए ही कायिक, मानसिक और वाचिक समस्त चेष्टाओं और भावके द्वारा तैलधारावत् अविच्छिन्न गतिसे जो श्रीकृष्णका अनुशीलन अर्थात् श्रीकृष्णकी सेवा होती है, उसीको उत्तमाभक्ति कहते हैं। उनकी इस उत्तमाभक्तिकी परिभाषामें भक्तिके प्रारम्भिक सोपान श्रद्धासे आरम्भकर निष्ठा, रुचि, आसक्ति, रति (भाव) और इससे भी ऊपर प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव, रूढ़ भाव, अधिरूढ़ भाव, मोहन और मादनाख्य भाव तक सभी अन्तर्भूत हैं। इसके अतिरिक्त भक्तिरूपा चित्तवृत्तिका उद्भव—श्रद्धा,

निष्ठा, रुचि, आसक्ति एवं भाव; प्रेमके रूपमें उसका क्रमविकास—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव आदि नाना अवस्थाओंमें उसकी परिणति; स्थायीभाव, पुनः स्थायीभावके साथ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी आदि रससामग्रियोंके मिलनसे चमत्कारपूर्ण, परम आस्वादनीय भक्तिकी रसावस्थाका सुन्दर चित्रण श्रील रूप गोस्वामीने जिस निपुणता, सरस कवित्व और सूक्ष्म विवेचनके साथ प्रस्तुत किया है, उसकी एक सुन्दर झलक उनकी प्रसिद्ध रचना भक्तिरसामृतसिन्धुमें मिलती है। श्रीमन्महाप्रभुकी कृपा द्वारा अभिषिक्त श्रील रूप गोस्वमीने यह भी सिद्ध कर दिया है कि गौड़ीय वैष्णवोंकी अतिपावन विशुद्ध भजनप्रणाली अतीव सरस सुदृढ़ भित्तिपर प्रतिष्ठित है। उनकी यह रचना भक्तिसाहित्यके इतिहासमें अपने आप अजर-अमर है। यह भक्तिरससिद्धान्तका विश्वकोश तथा गौड़ीय रससाहित्य कल्पतरुका सर्वोत्कृष्ट परिपक्व फल माना गया है। इनसे पूर्ववर्त्ती आचार्य भक्तिके रसतत्त्वका इतना सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन नहीं कर पाए और न ही भक्तिको रसस्वरूपमें प्रतिष्ठित कर सके।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके पूर्व एक कल्पमें श्रीराधाकृष्णकी केलिवार्त्ता प्रायः विलुप्त हो गई थी। उस समय श्रीचैतन्य महाप्रभुकी प्रेरणा और कृपासे, कृपाशक्तिके सञ्चार करनेसे, श्रीरूपगोस्वामीने उसका उद्धार किया और पुनः श्रीचैतन्य महाप्रभुके इस अभीष्टको जगतमें स्थापित किया। श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

वृन्दावनीयां रसकेलिवार्तां
कालेन लुप्तां निजशक्तिमुत्कः।
सञ्चार्य रूपे व्यतनोत् पुनः स
प्रभुर्विधौ प्रागिव लोकसृष्टिम्॥

(चै. च. म. १९/१)

भगवान्‌ने सृष्टिके आदिमें जिस प्रकार ब्रह्माके हृदयमें शक्तिका सञ्चारकर लोक-सृष्टिका विस्तार किया था, उसी प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने बड़े उत्कण्ठित होकर श्रीरूपगोस्वामीके हृदयमें शक्तिका

सञ्चारकर कालक्रमसे लुप्त वृन्दावनीय रसकेलिवार्त्ताका पुनः जगतमें प्रचार और विस्तार किया है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्माके एक दिनमें, चौदह मन्वन्तर होते हैं, उनमेंसे चौदहवें मन्वन्तरके अट्ठाइसवें चतुर्युगके द्वापरके अन्तमें एक बार श्रीकृष्ण अवतीर्ण होकर व्रजलीला करते हैं। और उसके लगभग पाँच हजार वर्ष पश्चात् कलियुगमें वे राधाभाव और कान्ति ग्रहणकर श्रीशचीनन्दन गौरहरिके रूपमें अवतीर्ण होकर श्रीराधाकी प्रेममाधुरीका आस्वादन करते हैं एवं व्रजप्रेमका प्रचार किया करते हैं।

इसके पूर्व कल्पमें गौरलीलाके समय व्रजप्रेमका प्रचार हुआ था। स्वयम्भू ब्रह्माके दिन-रात अर्थात् प्राय आठ हजार युगके बाद वह समस्त लुप्त हो गया। क्योंकि श्रीगौराङ्गदेवके अतिरिक्त कोई भी भगवान्‌का अवतार और आचार्य व्रजके रहस्यमय प्रेमका प्रचार नहीं कर सकते। श्रीचैतन्यदेव इस सुदीर्घ कालसे विलुप्त व्रजके रहस्यमय रसकेलिवार्त्ताका प्रचार करनेके लिए परम उत्कण्ठित थे। इसीलिए उन्होंने श्रीरूपगोस्वामीके हृदयमें शक्ति सञ्चार किया।

श्रीरूप-हृदये प्रभु शक्ति सञ्चारिला।
सर्वतत्त्व-निरूपणे 'प्रवीण' करिला॥
(चै. च. म. १९/११७)

अतः ग्रन्थकार श्रीचक्रवर्ती ठाकुरका यह कथन है कि श्रीरूप गोस्वामीकी कृपासे ही भक्तिके रसस्वरूपकी अनुभूति हो सकती है, और तो क्या उनकी कृपाके बिना भक्तिमें प्रवेश भी सम्भव नहीं है, यह परम सत्य है।

रसस्वरूप श्रीभगवान् ब्रह्मके भी आश्रय

इह खलु परमानन्दमयादपि पुरुषाद् "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति ब्रह्मतोऽपि परात्परो—"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति श्रुत्या सूच्यमानो "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्" इति सर्ववेदान्तसारेण निखिलप्रमाणचक्रवर्त्तिना श्रीमद्भागवतेन रसत्वेन

विव्रियमाणः "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति श्रीगीतोपनिषदा च एवायमिति संमन्यमानः श्रीव्रजराजनन्दनः एव शुद्धसत्त्वमय-निजनामरूपगुण-लीलाढ्योऽनादिवपुरेव कमपि हेतुमनपेक्षमाण एव स्वेच्छयैव जन-श्रवण-नयनमनोबुद्ध्यादीन्द्रियवृत्तिष्ववतरते। यथैव यदुरघ्वादिवंशेषु स्वेच्छयैव कृष्णरामादिरूपेण।

भावानुवाद—श्रुति अर्थात् वेद ही सर्वश्रेष्ठ शब्द प्रमाण है। तैत्तिरीय उपनिषदकी द्वितीय वल्लीके पञ्चम अनुवाकके द्वितीयांशमें कहा गया है "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" अर्थात् ब्रह्म आनन्दमय पुरुषका आश्रय या प्रतिष्ठा है। अर्थात् ब्रह्मका आश्रयकर ही आनन्द पुरुषकी सत्ता है। इस श्रुतिके द्वारा आनन्दमय पुरुषसे भी ब्रह्मकी श्रेष्ठताका निरूपण किया गया है। पुनः इसी उपनिषदके सातवें अनुवाकके द्वितीयांशमें कहा गया है—"रसौ वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।" अर्थात् भगवान् रसस्वरूप हैं, जिनको प्राप्तकर जीव आनन्दी अर्थात् आनन्दयुक्त होता है। यह रसतत्त्व ही परात्पर तत्त्व या सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। इस श्रुतिमें रसतत्त्वको ब्रह्मसे भी श्रेष्ठतम परात्पर तत्त्व माना गया है। वह परात्पर तत्त्व हैं—रसिकशेखर भगवान् श्रीकृष्ण। क्योंकि श्रीमद्भागवतमें उनको बारह रसोंका विषय बतलाया गया है। "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्।" इसी श्लोकके द्वारा सर्ववेदान्तसार निखिल प्रमाणशिरोमणि श्रीमद्भागवतने श्रीकृष्णको ही रसस्वरूप निर्णय किया है। श्रीमद्भगवद्गीता (१४/२७) में भी "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" बतलाया है, अर्थात् इस वाक्यके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् परात्पर तत्त्व रसस्वरूपका निर्देश दिया है।

इन सब प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही परात्पर रसस्वरूप हैं। उन श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी बाल्य, पौगण्ड और कैशोरकी लीलाओंसे यह निर्दिष्ट होता है। स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण विशुद्धसत्त्वमें अपने नाम-गुण-रूप-लीला और विग्रहसे सर्वथा रसस्वरूप हैं। वे अपनी स्वेच्छासे प्रेमी भक्तोंके हृदयमें, उनकी श्रवण, नेत्र, मन, बुद्धि इत्यादि वृत्तियोंमें अवतीर्ण होते हैं।

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥
(भ. र. सि. १/२/२३४)

कोई अपनी इच्छासे उनको अपनी इन्द्रियोंकी वृत्तियोंमें नहीं ला सकता। वे जगतके जीवोंपर कृपा करनेके लिए और भक्तोंकी प्रेममय वाञ्छाओंको पूर्ण करनेके लिए श्रीकृष्ण और श्रीरामके रूपमें क्रमशः यदुवंश तथा रघुवंशमें अवतीर्ण हुआ करते हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रील चक्रवर्तीपाद जड़ातीत स्वप्रकाश चिदानन्द-मयभगवत्तत्त्ववस्तु भक्तितत्त्वका निरूपण करनेके लिए श्रुतिके प्रमाणोंको उद्धृतकर श्रुति या शब्द प्रमाणकी ही अमल या अभ्रान्त प्रामाणिकता दिखला रहे हैं। जिसकी सहायतासे वस्तुका यथार्थ ज्ञान होता है, उस वस्तुके सम्बन्धमें उसे 'प्रमाण' कहा जाता है। श्रीमद्भागवतमें श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य—इन चार प्रकारके प्रमाणोंका उल्लेख है—

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते॥
(श्रीमद्भा. ११/१९/१७)

इन चार प्रकारके प्रमाणोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान और ऐतिह्य—इन तीन प्रकारके प्रमाणोंमें भूल हो सकती है, किन्तु भगवत्-कथित श्रुतियोंमें किसी प्रकारकी भूलकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि भ्रम, प्रमाद, करणापाटव, विप्रलिप्सा इत्यादि दोष श्रुतियोंमें नहीं होते। क्योंकि उसके मूल स्वयंभगवान् हैं। मनुस्मृतिमें भी कहा गया है—

प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥
(मनु १२/१०५)

जो धर्मके तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और वेदमूलक स्मृति आदि विविध आगमसमूह—इन तीनोंके विषयमें जानना अत्यन्त आवश्यक है।

श्रीमध्वाचार्यने इनमेंसे केवल तीन प्रमाणोंको ग्रहण किया है—

प्रत्यक्षेऽन्तर्भवेद् यस्मादैतिह्यं तेन देशिकः।
प्रमाणं त्रिविधं प्राख्यात् तत्र मुख्या श्रुति-र्भवेत्॥
(प्रमेयरत्नावली १/२)

ऐतिह्य प्रत्यक्ष प्रमाणके अन्तर्गत होनेके कारण देशिकप्रवर मध्वमुनिने तीन प्रकारके प्रमाणोंको ही स्वीकार किया है। और इन तीनों प्रमाणोंमेंसे श्रुति या अपौरुषेय वेद वाक्यकी ही मूल प्रमाणके रूपमें गणना की है।

फिर भी हमारे गौड़ीय वैष्णवोंने दस प्रकारके प्रमाणोंको स्वीकार किया है। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं—

यद्यपि प्रत्यक्षानुमानशब्दार्षोपमानार्थापत्त्यभाव-सम्भवैतिह्यचेष्टाख्यानि दश प्रमाणानि विदितानि, तथापि भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटव-दोष-रहितवचनात्मकः शब्द एव मूलप्रमाणम्॥
(तत्त्वसन्दर्भीय सर्वसम्वादिनी)

अर्थात् यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, आर्ष, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य तथा चेष्टा—इन दस प्रकारके प्रमाणोंका उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमेंसे भ्रम, प्रमाद, वञ्चनेच्छा, इन्द्रियोंकी अपटुता आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण अपौरुषेय वेद ही—वेदरूप शब्द प्रमाण ही मूल प्रमाण है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी कहा गया है—

प्रमाणेर मध्ये श्रुति-प्रमाण—प्रधान।
श्रुति जे मुख्यार्थ कहे, सेइ से प्रमाण॥
(चै. च. म. ६/१३५)

इन सबका हम संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण—आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रकारसे निर्भर योग्य नहीं हैं; क्योंकि

रोगग्रस्त होनेपर, पागल होनेपर, असावधान रहनेसे जो हम देखते, सुनते, करते हैं, वे सभी गलत भी हो सकते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रियोंकी पटुता आदि अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा रखता है। अन्यथा उपेक्षणीय वस्तुके अभावमें प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। कई बार आँखोंसे देखा हुआ, कानोंसे सुना हुआ आदि विषयोंमें भूल हो सकती है। जैसे आँखोंसे हमने रस्सी देखी तो उसमें साँपका भ्रम हो सकता है। सीपको देखा उसमें रजत होनेका भ्रम हो सकता है।

(२) अनुमान—किसी वस्तुको देखकर जो अनुमान होता है, उसको 'अनुमान प्रमाण' कहते हैं। जैसे धुआँ देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ आग है। किन्तु यह प्रमाण निर्भरयोग्य नहीं है। किसी-किसी पर्वतमें आग नहीं होनेपर भी धुआँ दीखता है, किन्तु वहाँ आग नहीं होती। कभी-कभी आगमें पानी डाल देनेपर उससे धुआँ जैसा उड़ता है, किन्तु आग बुझ गई होती है और उस समय आग नहीं होती। अतः अनुमान प्रमाणसे भी वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

(३) आर्ष प्रमाण—अभ्रान्त ऋषियोंके वाक्योंको 'आर्ष प्रमाण' कहा जाता है। किन्तु कहीं-कहीं विचार करनेपर ऐसा देखा जाता है कि अनेक ऋषियोंके अपने-अपने अलग मत हैं। इसलिए उनका भी वचन सब समय प्रामाणिक नहीं हो पाता। महाभारतमें उल्लेख है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(महाभारत, वन-पर्व ३१३/११७)

बहुत प्रकारके ऋषि हैं और उनके मत भी भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए उनके मत भी कभी-कभी निर्भरयोग्य नहीं होते।

(४) उपमान—एक वस्तुको देखकर उसके समान मिलती-जुलती दूसरी वस्तुका जो ज्ञान होता है, उसे 'उपमान प्रमाण' कहते हैं। जैसे

नमक सफेद होता है। कोई कहे जैसा नमक होता है, वैसी ही फिटकरी भी होती है। किन्तु यह फिटकरीका पूर्ण ज्ञान नहीं है। उसके गुण अलग होते हैं। इसलिए यह उपमान भी सर्वथा निर्भरयोग्य प्रमाण नहीं है।

(५) अर्थापत्ति—जो वस्तु अत्यन्त प्रसिद्ध होनेके कारण अस्वीकार भी न की जा सके, अर्थात् उसका कोई कारण नहीं दिखाई पड़े तो उसकी स्वीकृतिके अनुकूलमें जिस कारणकी कल्पना की जाती है, उसका नाम 'अर्थापत्ति' है। जैसे कोई व्यक्ति दिनमें नहीं खाता, उसको दिनमें भोजन करते हुए नहीं देखते हैं। किन्तु वह बहुत हृष्ट-पुष्ट दीखता है। यहाँ यदि वह दिनमें नहीं खाता, तो रातमें अवश्य भोजन करता है। ऐसे प्रमाणको 'अर्थापत्ति प्रमाण' कहते हैं। किन्तु यह अर्थापत्ति प्रमाण भी निर्भरयोग्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि किसी देवताके कृपासे या किसी औषधिके सेवनसे भी मनुष्य कई दिनों तक अन्न इत्यादि ग्रहण न करके भी बलवान और हृष्ट-पुष्ट रह सकता है।

(६) अभाव—कोई वस्तु नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंके निकट न रहनेपर वह इन्द्रियोंकी उपलब्धिका विषय नहीं होता है। कोई वस्तु हमारे ज्ञान-इन्द्रियोंसे दूर रहनेपर उसकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए इसको अभाव प्रमाण कहा जाता है। जैसे एक उच्च प्राचीरके एक ओर कोई व्यक्ति रहे और दूसरी ओर कोई वस्तु रहे तो वह व्यक्ति दूसरी ओर रहनेवाली वस्तुको देख नहीं पाता है। इसलिए कुछ लोग इस अनुपलब्धिको 'अभाव प्रमाण' कहते हैं।

(७) सम्भव—हजारोंकी संख्यामें सौ अन्तर्भुक्त है। बुद्धिमें इस प्रकारकी जो सम्भावना होती है, उसे 'सम्भव प्रमाण' कहते हैं।

(८) ऐतिह्य—इतिहासमें जो उल्लेख मिलता है, अथवा किसीने कब कुछ कहा, यह पता नहीं, किन्तु एक दूसरेसे सुननेसे जो बात जनसमाजमें प्रसिद्ध चली आ रही है, उसे 'ऐतिह्य प्रमाण' कहते हैं।

(९) चेष्टा—अंगुली इत्यादि उठाते हुए, जिस प्रमाणसे द्रव्य और संख्या आदिका ज्ञान होता है, उसका नाम 'चेष्टा प्रमाण' है। ऐतिह्य और चेष्टाकी भी परमार्थतत्त्व निरूपणमें कोई प्रामाणिकता नहीं है।

(१०) शब्द—अपौरुषेय शास्त्रवचन ही शब्द प्रमाण हैं। इसको 'आप्तवचन' भी कहा जाता है। किसी विशेष व्यक्तिके द्वारा लिखी हुई मौलिक रचनाको पौरुषेय शास्त्र कहते हैं। किन्तु किसी विशेष व्यक्तिके द्वारा लिखा हुआ नहीं है, भगवान्‌के द्वारा प्रकट किया गया है, उसे अपौरुषेय शास्त्र कहते हैं। इसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (वञ्चनाकी कामना) तथा इन्द्रियोंकी अपटुता अथवा असावधानता रूप भ्रम आदि नहीं रहता है। भगवान्‌के वचनोंमें, वेदके वचनोंमें कहीं भी कोई त्रुटि, कोई भ्रम सम्भव नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, मङ्गलमय और परम करुणामय हैं। इसलिए सब दोषोंसे रहित होनेसे शब्द प्रमाणको ही सर्वश्रेष्ठ अभ्रान्त माना गया है। शब्द प्रमाण स्वतः प्रमाण है, निर्भरयोग्य है और अन्य-निरपेक्ष है। इसलिए अप्राकृत रसमय ब्रह्मको जाननेके लिए केवल शब्द प्रमाण, वेद प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि शब्द प्रमाण अथवा अपौरुषेय शास्त्र क्या है? इसके उत्तरमें कहा गया है—

ऋग्यजुःसामाथर्वाञ्च भारतं पञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणञ्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥
यत्त्वानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्।
अतोऽन्यविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्॥
(मध्वभाष्यधृत स्कान्दवचन)

ऋक्, यजुः, साम, अथर्व—ये चार वेद, महाभारत, मूल रामायण और पञ्चरात्र—ये सब 'सत्-शास्त्र' हैं। जो ग्रन्थ इनके अनुकूल हैं उनकी भी सत्-शास्त्रोंमें गणना की जाती है। इसके अतिरिक्त जो ग्रन्थ हैं वे सभी असत्-शास्त्र हैं।

"एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणम्॥" (मैत्रेयी उपनिषद्) अर्थात् "अरे मैत्रेयि! ऋग् वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास (महाभारत और रामायण) और पुराण (श्रीमद्भागवतादि अठारह पुराण)। ये सब सर्वव्यापक परब्रह्मके निःश्वासस्वरूप हैं अर्थात् उनके

श्वाससे प्रकटित हुए हैं।" अतः ये किसी पुरुषके द्वारा बनाए हुए नहीं हैं या लिखे गए नहीं हैं। भगवान्‌के निःश्वाससे निकलनेके कारण इन्हें अपौरुषेय शास्त्र कहते हैं। इसीको शब्द प्रमाण कहते हैं। इनके द्वारा ही परतत्त्ववस्तु परब्रह्म भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपका पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

आजकलके युगमें बौद्धवादी, निरीश्वरवादी, भौतिकवादी तथा अनेकों प्रकारके परमार्थरहित मत-मतान्तर जगतमें प्रचलित हो रहे हैं, उसका प्रधान कारण केवल शब्द प्रमाणकी अवहेलना करना है, वेद-शास्त्रोंके प्रति अविश्वास और उसका अध्ययन-मनन न करना है। वेद स्वतः प्रमाण हैं। अन्यान्य प्रमाण श्रुति-प्रमाणकी सहायतासे ही प्रामाणिक हो सकते हैं। किन्तु स्वतः प्रमाण श्रुतिके वचनोंके लिए अन्यान्य नौ प्रमाणोंकी कोई आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए आजकल वेदोंके प्रति आदर नहीं होनेसे भगवत्-बहिर्मुखता, नास्तिक्यवाद और दूसरे-दूसरे मत-मतान्तर प्रचलित हो रहे हैं और इससे जगतका अकल्याण ही हो रहा है।

कुछ लोगोंका ऐसा प्रश्न है कि बुद्धदेव तो भगवान्‌के अवतार हैं। क्या उनके वचन और उपदेश भी प्रमाण हो सकते हैं? इस प्रश्नका उत्तर श्रील जीव गोस्वामीने सर्व-सम्वादिनी ग्रन्थमें दिया है—"न च बुद्धस्यापीश्वरत्वे सति तद्वाक्यं च प्रमाणं स्यादिति वाच्यम्। येन शास्त्रेण तस्य ईश्वरत्वं मन्यामहे, तेनैव तस्य दैत्यमोहनशास्त्र-कारित्वेनोक्तत्वात्।" तात्पर्य यह है कि बुद्धदेव ईश्वर हैं। फिर भी उनके वचन या उपदेश प्रामाणिक रूपमें ग्रहण नहीं किए जा सकते। क्योंकि, जिस शास्त्रमें बुद्धदेवको ईश्वर कहा गया है, उसी शास्त्रमें यह भी कहा गया है कि दैत्योंको मोहित करनेके लिए ही उन्होंने निरीश्वर शास्त्रोंको लिखा है। उन्होंने जो कुछ उपदेश दिया है वह केवल दैत्योंको मोहित करनेके लिए है, परमार्थ-निरूपण करनेके लिए नहीं है।

इसलिए श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने ग्रन्थके प्रारम्भमें कहा है कि श्रुति सर्वश्रेष्ठ शब्द प्रमाण है और उसीके आधारपर वे अपने प्रतिपाद्य विषयको प्रतिष्ठित कर रहे हैं। तैत्तिरीयोपनिषदमें "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"

वचनके द्वारा अन्नादि समस्त कोषोंके मूल आश्रय परमानन्दमय पुरुषसे 'ब्रह्म' का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्मसे रसस्वरूप भगवानका उत्कर्ष श्रुतियोंने निरूपण किया है। वे रसतत्त्व कौन हैं? वे रसतत्त्व स्वयंभगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर हैं। निखिल शब्द प्रमाणोंमें भी उत्तम पुराणशिरोमणि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥
(श्रीमद्भा. १०/४३/१७)

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजीके साथ कंसकी रङ्गभूमिमें पधारे, उस समय कंसके चाणूर–मुष्टिकादि महामल्लोंको श्रीकृष्ण वज्रसे भी कठोर शरीरवाले दिखाई दिए, साधारण मनुष्योंको नररत्नके रूपमें, स्त्रियोंको साक्षात् कामदेवके रूपमें, गोपोंको अपने बन्धु, दूसरे राजाओंको दण्ड देनेवाले कठोर शासक और माता–पिताको शिशुके रूपमें, कंसको मृत्युके रूपमें, अज्ञानियोंको साधारण बालकके रूपमें, योगियोंको परतत्त्वके रूपमें तथा यादवोंको परम देवताके रूपमें दिखाई दिए। सभीने श्रीकृष्णको अपने अपने भावोंके अनुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, सख्य, हास्य, वीर, वात्सल्य, करुण, भयानक, वीभत्स, शान्त और दास्यरसस्वरूपमें अनुभव किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णको रसस्वरूपमें वर्णन किया गया है। श्रुतियोंमें भी "रसो वै सः" इत्यादि बतलाया है। गीतोपनिषद्में भी श्रीकृष्णने स्पष्टरूपसे कहा है "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" अर्थात् "मैं ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ।" तात्पर्य यह है कि यदि श्रीकृष्ण नहीं हैं तो ब्रह्म भी नहीं है। श्रीकृष्ण यथार्थमें परमब्रह्म हैं। ब्रह्म—श्रीकृष्णके पदनखकी ज्योति स्वरूप हैं। इस तरहसे समस्त शास्त्रोंमें श्रीकृष्णको रसस्वरूप बतलाया है।

वे परब्रह्म श्रीकृष्ण अपने भक्तोंका विनोदन करनेके लिए जगतमें अवतीर्ण होते हैं। आनुषङ्गिक रूपमें उनके शरीरमें विष्णु इत्यादि जो

रहते हैं, उनके द्वारा ही संहारका कार्य होता है। इसलिए श्रीकृष्णके द्वारा जिन असुरोंका निधन प्रतीत होता है, उन्हें श्रीकृष्णने नहीं मारा, उनके भीतर स्थित विष्णुने ही उनको मारा। श्रीकृष्ण अखिलरसामृतसिन्धु हैं, असुरोंको मारनेसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वे "भक्तानां विनोदाय"—भक्तोंका विनोदन करनेके लिए, आनन्द वर्धनके लिए प्रकट होते हैं। जिस समय वे प्रकट होते हैं, अभक्तलोग उन्हें पहचान नहीं पाते, उन्हें साधारण मानव समझते हैं। कंस, जरासन्ध, दुर्योधन, कालयवन—ये सब भगवत्-विरोधी लोग थे, ये लोग उनको भगवान्के रूपमें समझ नहीं पाए। दुर्योधनने उनको बन्दी बनाना चाहा। जरासन्धने उनके ऊपर अठारह बार आक्रमणकर उनको मार डालना चाहा। पौंड्रक वासुदेव अपने दो हाथोंके साथ दो और नकली हाथ लगाकर कहता था कि मैं ही चतुर्भुज वासुदेव हूँ, मेरी पूजा करो। इस तरह वे दुष्ट लोग, असुर लोग उनको समझ नहीं सके। यद्यपि गीता (४/८) में लिखा है—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥" भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि धर्मकी स्थापना, असुरोंका संहार और भक्तोंकी रक्षाके लिए मैं अवतरित होता हूँ। किन्तु उनके अवतारका मूल कारण भक्तोंका विनोदन करना, रसका आस्वादन करना और दूसरोंको रसका आस्वादन कराना ही है। वे स्वेच्छासे ही अवतरित होते हैं।

इस प्रकार उपनिषदोंमें श्रीकृष्णको रसस्वरूप बतलाया गया है, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं केवलमात्र रस ही नहीं हैं, वे रसराज हैं। वे एक रस ही नहीं, बल्कि अखिल रसस्वरूप हैं। मूर्त्तिमान रस हैं। शृङ्गार ही रसका राजा या रससार है। लीलाशुकजीने कहा है—"शृङ्गाररससारसर्वस्वम्", प्रेमके देवता शृङ्गाररसमय व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर राधाकान्त हैं। जयदेव गोस्वामीने भी कहा है—"सखि! श्यामसुन्दर मूर्त्तिमान शृङ्गार हैं।" इसलिए रसशास्त्र कहते हैं—"रसः शृङ्गारानामयं श्यामलः कृष्णदैवतः।" शृङ्गाररसका वर्ण श्याम है। श्रीकृष्ण उसके देवता हैं। श्रुति-स्मृति आदि द्वारा निर्दिष्ट भगवान् श्रीकृष्ण यदुकुलमें और भगवान् श्रीराम रघुकुलमें स्वेच्छापूर्वक जैसे स्वयं अवतीर्ण होते हैं, उसी प्रकार वे अपने भक्तोंके श्रवण, नयन,

मन, बुद्धि आदि इन्द्रिय-वृत्तिमें भी अवतरित होते हैं। इसीलिए भक्तजन भगवान्‌को पहचान लेते हैं। किन्तु अभक्त लोग उन्हें साधारण मनुष्यके रूपमें ही जानते हैं।

भक्तिदेवी स्वयं प्रकाशित है

तस्य भगवत इव तद्‌रूपाया भक्तेरपि स्वप्रकाशतासिद्ध्यर्थमेव हेतुत्वानपेक्षता, तथापि—"यतो भक्तिरधोक्षजे अहैतुक्यप्रतिहता।" इत्यादौ हेतुं विनैवाविर्भवतीति तत्रार्थः। तथैव "यदृच्छया मत्कथादौ" "मद्‌भक्तिञ्च यदृच्छया" "यदृच्छ्‌यैवोपचिता" इत्यादावपि यदृच्छयेत्यस्य स्वाच्छन्देनेत्यर्थः। यदृच्छा स्वैरितेत्यभिधानात्।

भावानुवाद—सर्वशक्तिमान भगवान्‌की भाँति उनकी स्वरूपशक्ति भक्ति भी स्वयंप्रकाश है। उसकी स्वप्रकाशताकी सिद्धिके लिए और किसी भी कारणकी अपेक्षा नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—"यतो भक्तिरधोक्षजे अहैतुक्यप्रतिहता" इत्यादि। अर्थात् अधोक्षज भगवद्भक्ति बिना किसी कारणके ही स्वयं उदित हुआ करती है। अन्यत्र श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है—"यदृच्छया मत्कथादौ।" अर्थात् मेरी स्वरूपशक्ति भक्तिकी कृपासे ही मेरी लीलाकथा आदिमें रुचि उत्पन्न होती है। "मद्भक्तिं च यदृच्छया" अर्थात् 'यदृच्छा' स्वच्छन्द रूपमें मेरी भक्ति प्राप्त होती है। तथा "यदृच्छयैवोपचिता" इत्यादि अनेक स्थानोंपर यही कहा गया है कि भक्ति बिना किसी कारणके स्वच्छन्द रूपसे उदित हुआ करती है। क्योंकि 'यदृच्छा' शब्दका अर्थ ही है स्वेच्छापूर्वक। कोषमें भी 'यदृच्छा' का अर्थ स्वैरिता या स्वेच्छा ही किया गया है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—भगवान् जिस प्रकार स्वेच्छासे यदुवंशमें श्रीकृष्ण एवं रघुवंशमें श्रीराम आदिके रूपमें आविर्भूत होते हैं और पुनः भक्तोंकी अन्तरेन्द्रियों और बहिरेन्द्रियोंमें स्वेच्छापूर्वक स्फुरित अथवा अनुभूत होते हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूपा उनकी स्वरूपशक्ति स्वप्रकाश भक्ति भी स्वेच्छासे ही भक्तोंके अन्तरेन्द्रियों और बहिरेन्द्रियोंमें स्फुरित या अनुभूत होती है। किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं

रखती। भक्ति श्रीकृष्णकी भाँति सच्चिदानन्दमयी है। गोपाल उत्तरतापनी उपनिषद् (२/९५) में स्पष्ट रूपसे इसका वर्णन प्राप्त होता है—"विज्ञानघन आनन्दघन सच्चिदानन्दैक-रसे भक्तियोगे तिष्ठति।" अर्थात् जो विज्ञान और आनन्दकी घनीभूत मूर्त्ति हैं, वे ही श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दरूपा भक्तियोगमें प्रकाश प्राप्त हुआ करते हैं। यदि भक्ति सच्चिदानन्दमयी नहीं होती तो वे कभी भी भगवान्‌को वशीभूत नहीं कर पाती। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि भक्ति जड़प्रतियोगी स्वप्रकाश-लक्षणा सच्चिदानन्दमयी है, तो साधकोंकी जड़ इन्द्रियों आदिमें वह कैसे आविर्भूत होती है? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि ज्वलन्त आगमें तपकर लोहेका एक टुकड़ा जिस प्रकार अग्निका तादात्म्य प्राप्तकर अग्निकी भाँति लाल रङ्गको धारण करता है और दाहिका शक्ति प्राप्त होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमयी भक्ति भी अपनी स्वशक्तिसे भक्तोंके जड़ इन्द्रियोंमें भी प्रकाशित होकर उनके जड़त्वको ध्वंसकर उनको अपनी भाँति चिन्मय बना लेती है।

परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं। सत्-अंशसे सन्धिनी, चित्-अंशसे सम्वित् और आनन्द-अंशसे ह्लादिनी—ये तीन शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं। जैसे सत्, चित्, आनन्द इन तीनोंमेंसे एकको दूसरी दो शक्तियोंसे पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार तीन शक्तियोंमेंसे किसी एकको दूसरी दो शक्तियोंसे अलग नहीं किया जा सकता। जहाँ भी स्वरूपशक्तिका प्रकाश होता है, वहाँपर सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी तीनोंका एक साथ विकास होता है।

चिद्वस्तु परब्रह्म भगवान् स्वयंप्रकाश हैं, उनकी चित्-शक्ति भी स्वयं प्रकाश है तथा चित्-शक्तिकी वृत्ति भी स्वयं प्रकाश है। स्वप्रकाश वस्तु अपनेको प्रकाशित करती है और दूसरेको भी प्रकाशित करती है। जैसे सूर्य उदित होकर अपनेको प्रकाशित करता है और विश्वकी दूसरी समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करता है।

चित्-शक्तिकी स्वप्रकाश लक्षणयुक्त जिस वृत्तिविशेषके द्वारा परब्रह्म अपने स्वरूप और स्वरूपशक्तिकी परिणतिको विशेष रूपसे प्रकाशित करते हैं या आविर्भूत कराते हैं, उस वृत्तिविशेषको विशुद्धसत्त्व कहते हैं। विशुद्धसत्त्वमें सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये तीनों शक्तियाँ

एक साथ रहते हुए भी प्रत्येक शक्तिकी अभिव्यक्तिका परिमाण सब जगह एक समान नहीं रहता। कहीं-कहीं वे तीनों समान रूपसे व्यक्त होती हैं, कहीं एक की ही प्रधान अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार जहाँ ह्लादिनीशक्तिकी प्रधानता होती है उसे ह्लादिनी प्रधान शुद्धसत्त्व या ह्लादिनी प्रधान स्वरूपशक्ति कहा जाता है। शास्त्रोंमें उसे गुह्य-विद्या कहा गया है। गुह्य-विद्याकी दो वृत्तियाँ हैं—एक भक्ति और दूसरी भक्तिकी प्रवर्त्तक। इसी गुह्य-विद्याके द्वारा प्रेमभक्ति प्रकाशित होती है। अतः भक्ति स्वरूपतः ह्लादिनी प्रधान स्वरूपशक्तिकी विशेष वृत्ति है जो स्वप्रकाश और चिद्वस्तु है। उसे प्रकाशित करनेके लिए अन्य किसी भी कारणकी अपेक्षा नहीं रहती है।

श्रीमद्भागवतके अनेक स्थलोंमें भक्तिको अहैतुकी और स्वेच्छासे स्वयं प्रकाशित होनेवाली वर्णन किया गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(श्रीमद्भा. १/२/६)

मनुष्यमात्रके लिए भगवान् अधोक्षजके श्रीचरणोंमें अहैतुकी भक्तिको ही परम धर्म कहा गया है। वह अहैतुकी अर्थात् बिना किसी कारणसे उदित होनेवाली और निर्बाध गतिसे अर्थात् बिना किसी बाधाके उदित होती है।

और भी—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्व्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/८)

भक्तियोगका वही अधिकारी है, जो न तो अधिक विरक्त है और न संसारके प्रति अति आसक्त है। विशेषतः जिसमें स्वच्छन्दस्वरूपा मेरी भक्तिकी कृपासे मेरी लीलाकथामें श्रद्धा उत्पन्न हो गई है।

अस्मिंल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/११)

अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति इसी शरीरमें रहते–रहते निष्पाप होकर पवित्र हो जाता है। तत्पश्चात् उसे विशुद्ध तत्त्वज्ञान अर्थात् भगवत्तत्त्व और अपने स्वरूप (कृष्णदासत्व) का ज्ञान उदित होता है और फिर मेरी स्वच्छन्द–अहैतुकी भक्ति उसे प्राप्त होती है।

इसी प्रकार "यदृच्छयैवोपचिता" इत्यादि तथा उपर्युक्त श्लोकोंमें जो 'यदृच्छा' शब्दका प्रयोग हुआ है उसका अर्थ है 'स्वेच्छा'। अर्थात् भक्ति स्वयं अपनी इच्छासे ही उदित होती है। इसलिए भक्तिको अहैतुकी कहा गया है। वह स्वयंप्रकाश है, अर्थात् अपनी इच्छासे ही स्वयं उदित हुआ करती है।

श्रील जीवगोस्वामीने प्रीतिसन्दर्भके ६५वें अनुच्छेदमें कहा है—"भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी इति श्रूयते। तस्माद् एवं विविच्यते। या चैवं भगवन्तं स्वानन्देन मादयति सा किं लक्षणा स्यात् इति, न तावत् सांख्यानाम् इव प्राकृतसत्त्वमयमायिक आनन्दरूपा, भगवतो मायानभिभाव्यत्वश्रुतेः, स्वतस्तृप्तत्वाच्च। न च निर्विशेषवादिनाम् इव भगवत्स्वरूपानन्दरूपा अतिशयानुपपत्तेः। अतो नतरां जीवस्य स्वरूपानन्दरूपा अत्यन्तक्षुद्रत्वात् तस्य। ततो ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्व संस्थितौ। ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते।" इति श्रीविष्णुपुराणानुसारेण ह्लादिन्याख्यतदीय–स्वरूपशक्त्यानन्दरूपैवेत्यवशिष्यते—यया खलु भगवान् स्वरूपानन्दविशेषी भवति, ययैव तं तमानन्दम् अन्यानप्यनुभावयतीति। अथ तस्या अपि भगवति सदैव वर्तमानतयातिशयानुपपत्तेस्त्वेवं विवेचनीयं श्रुतार्थन्यथानुपपत्त्यर्था–पत्ति प्रमाणसिद्धत्वात्। तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिर्नित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाणा भगवत्प्रीत्याख्यया वर्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवान् अपि भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति।"

तात्पर्य यह है कि भक्ति ही भक्तको भगवान्‌के निकट ले जाती है, भक्ति ही भक्तको भगवान्‌का दर्शन कराती है और भगवान् भक्तिके ही वशीभूत हैं। इसलिए भक्ति भगवत्-प्राप्तिका प्रधान साधन है। यहाँपर यह विचारणीय है कि जो भक्ति भगवान्‌को अपने आनन्दसे उन्मत्त करा देती है, उस भक्तिका लक्षण क्या है? उसीको कह रहे हैं—सांख्यवादियोंके सिद्धान्तके अनुसार भक्तिको कभी भी प्राकृत सत्त्वमय मायिक आनन्दस्वरूप नहीं कहा जा सकता। क्योंकि श्रुतिमें भी देखा जाता है—स्वतःतृप्त भगवान् मायागुणमें कभी भी आसक्त नहीं होते। पुनः निर्विशेषवादियोंकी भाँति भक्तिको भगवत्-स्वरूपानन्द भी नहीं कहा जा सकता। भगवान् अपने स्वरूपानन्दकी अपेक्षा भक्त्यानन्दकी ही अधिक आकांक्षा किया करते हैं। फिर भक्ति जीवकी स्वरूपानन्दभूता भी नहीं है, क्योंकि जैवानन्द अत्यन्त तुच्छ है। वह भगवान्‌को वशीभूत नहीं कर सकता। इसलिए सर्वशक्तिमान भगवान्‌में ही केवल उनकी स्वरूपभूता ह्लादिनी, सान्धिनी और सम्वित्—ये तीनों शक्तियाँ नित्य विराजमान रहती हैं।

हे भगवन्! गुणवर्जित तुममें ह्लादकारी (सात्त्विकी), तापकारी (तामसिक), मिश्रा (राजसिक) भाव नहीं है। विष्णुपुराणके इस प्रमाणके अनुसार ह्लादिनी नामक उनकी स्वरूपशक्त्यानन्द ही अवशिष्ट रहता है, क्योंकि इसी शक्तिके द्वारा ही भगवत्-स्वरूपमें आनन्द विशेष लक्षित होता है। श्रीभगवान् भी इसी शक्तिके द्वारा भक्तोंको आनन्द प्रदान करते हैं। तत्पश्चात् वही ह्लादिनीशक्ति सदैव भगवान्‌में विराजमान रहती है, इसलिए उसके द्वारा उसकी आनन्दातिशयता सम्भवपर नहीं हो सकती—इस संशयको दूर करनेके लिए कह रहे हैं—श्रुतार्थकी अन्यथा अनुपपत्ति (असङ्गति) अर्थापत्ति प्रमाण-सिद्ध है। जो सुना जाता है अथच वह हुआ नहीं, (नहीं होता) अन्यथाकी अनुपपत्ति है। इस अन्यथाकी अनुपपत्ति अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध है। जिस प्रकार देवदत्त दिनमें भोजन नहीं करता, किन्तु वह हृष्ट-पुष्ट है। यहाँ अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा यह अनुमान होता है कि रात्रिमें वह भोजन करता है। उसी प्रकार ह्लादिनी शक्तिके बिना कोई भी भगवान्‌को आनन्द नहीं दे सकता। अथच ह्लादिनीके द्वारा जो आनन्द

वे नहीं पा सकते, उसे पा रहे हैं। इस आनन्द प्राप्तिका कारण देवदत्तके रात्रिमें भोजनकी भाँति ह्लादिनी ही दूसरे रूपमें उनको प्रचुर आनन्द प्रदान करती हैं, अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा यह सिद्ध होता है। इसलिए ह्लादिनीकी ही सर्वानन्दातिशायिनी नित्यवृत्ति भक्तवृन्दमें निक्षिप्त होकर वहाँ भगवत्-प्रीति कहलाती है। भगवान् भी उसी प्रीतिको भक्तोंके हृदयमें अनुभवकर भक्तोंके प्रीतिभाजन हुआ करते हैं।

पहले भक्तिको भगवान्‌की स्वरूपशक्ति कहा गया है। भगवान्‌का स्वरूप सत्, चित् और आनन्दमय है। इसलिए उनकी चित्-शक्तिकी भी तीन वृत्तियाँ हैं—सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी। सत्ता-सम्बन्धिनी शक्तिको सन्धिनी कहते हैं। इसके द्वारा भगवान् अपनी और दूसरोंकी सत्ताओंकी रक्षा करते हैं। ज्ञान-सम्बन्धिनी शक्तिको सम्वित् कहते हैं। इसके द्वारा भगवान् अपनेको जानते हैं और अन्यान्योंको जनाते हैं। ह्लादिनी आनन्द-सम्बन्धिनी शक्ति है। इसके द्वारा भगवान् स्वयं आनन्द अनुभव करते हैं और दूसरोंको भी आनन्द प्रदान करते हैं।

भक्ति किसी भी कर्मके अधीन नहीं

यदृच्छया केनापि भाग्यनेति व्याख्याने भाग्यं नाम किं शुभकर्मजन्यं, तदजन्यं वा? आद्ये भक्तेः कर्मजन्य-भाग्यजन्यत्वे कर्मपारतन्त्र्ये स्वप्रकाशतापगमः। द्वितीये भाग्यस्यानिर्वाच्यत्वेनाज्ञेयत्वादसिद्धेः कथं हेतुत्वम्। भगवत्कृपैव हेतुरित्युक्ते तस्या अपि हेतावन्विष्यमाणेऽनवस्था। तत्कृपाया निरुपाधिकाया हेतुत्वे तस्या असार्वत्रिकत्वेन तस्मिन् भगवति वैषम्यं प्रसज्जेत। दुष्टनिग्रहेण स्वभक्तपालनरूपन्तु वैषम्यं तत्र न दूषणावहं-प्रत्युत भूषणावहमेव। भक्तवात्सल्यगुणस्य सर्वचक्रवर्त्तित्वेन सर्वोपमर्दकत्वेनो-परिष्टादष्टम्यमृतवृष्टौ व्याख्यास्यमानत्वात्।

भावानुवाद—प्रथमतः किसी-किसी महानुभावने कदाचित् 'यदृच्छा' शब्दकी व्याख्या 'किसी भाग्योदयसे' किया है। किन्तु यह विवेचनीय है कि वह भाग्य क्या शुभकर्मसे उदित होता है? अथवा अशुभकर्मके अभावसे उदित होता है? यदि शुभकर्मसे उदित होनेवाले भाग्यसे

भक्ति उदित होती है, ऐसा माना जाए तो कर्मजन्य भाग्यसे उदित होनेवाली भक्ति शुभकर्मोंके अधीन हो पड़ती है और ऐसा होनेसे भक्तिकी स्वप्रकाशताकी हानि होती है।

द्वितीयतः यदि शुभकर्मोंके अभावसे उदित होनेवाले भाग्यको भक्तिका कारण माना जाए तो उस भाग्यका कारण अज्ञात है। भाग्य उदय होनेका कारण अज्ञात होनेके कारण वह भाग्य ही असिद्ध हो पड़ता है। जो स्वयं ही असिद्ध है, वह फिर दूसरेका कारण कैसे हो सकता है? अर्थात् जो भाग्य स्वयं असिद्ध है वह भक्तिका कारण कैसे हो सकता है?

तृतीयतः यदि भगवत्कृपाको ही भक्तिका कारण माना जाए, तो उस कृपाका भी कारण ढूँढ़नेकी स्वाभाविक इच्छा जग उठती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कारण ढूँढ़नेसे किसी भी स्थायी परिणाम तक नहीं पहुँचा जा सकता। अतः इस विचारमें भी अनवस्थाका दोष स्पर्श करता है।

चतुर्थतः यदि भगवान्की अहैतुकी कृपाको ही भक्तिका कारण मानते हैं, तो भक्तिको सर्वत्र न देखकर भगवान्में विषमता दिखलाई पड़ती है। क्योंकि भगवान्की अहैतुकी कृपा भक्तिका कारण है, तो वह अहैतुकी कृपा सबपर होनी चाहिए, क्योंकि भगवान् समदर्शी हैं। परन्तु हम ऐसा नहीं देखते। सबको भक्ति नहीं होती। कहीं उपलब्ध होती है, कहीं उपलब्ध नहीं होती। ऐसी दशामें यहाँ स्वीकार करना होगा कि भगवान्का सबके प्रति समान भाव नहीं है। उनमें विषमता या पक्षपात दोष है। परन्तु भगवान्में कभी भी विषमता दोषकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः इन्हीं कारणोंसे भगवान्की अहैतुकी कृपाको भक्तिका कारण नहीं माना जा सकता है।

यदि कोई शङ्का करे कि भगवान् दुष्टोंको दण्ड देते हैं और अपने भक्तोंका पालन करते हैं, क्या यह भगवान्में विषमता नहीं है? इसके उत्तरमें कहते हैं—दुष्टोंको दण्ड देना और अपने भक्तोंका पालन करना भगवान्में विषमताका दोष नहीं, बल्कि यह उनका महान गुण है। भगवान्में जितने गुण हैं, उन समस्त गुणोंका चक्रवर्ती सम्राट भक्तवात्सल्य है। समस्त गुणोंको पराजितकर भक्तवात्सलता गुण

सबके ऊपर विराजमान है। इस विषयकी सम्यक् विवेचना इसी ग्रन्थकी आठवीं वृष्टिमें की जाएगी।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीमद्भागवतके श्लोकों द्वारा 'यदृच्छा' शब्दकी व्याख्या स्वेच्छाकर भक्तिकी स्वप्रकाशता धर्मका प्रतिपादन किया है। पूर्वोक्त श्रीमद्भागवतके "यदृच्छा मत्कथादौ", इस श्लोकमें प्रयुक्त शब्द 'यदृच्छा' की व्याख्यामें श्रीधरस्वामीने इस प्रकार लिखा है—"यदृच्छया केनापि भाग्योदयेन", अर्थात् 'यदृच्छा' शब्दका अर्थ 'किसी भाग्यके उदयसे' है। इस व्याख्याके अनुसार शुभकर्मजनित भाग्य अथवा श्रीभगवान्‌की कृपाजनित भाग्यको, भक्तिका कारण माननेपर भक्तिकी स्वतन्त्रता अर्थात् स्वप्रकाशता धर्मकी हानि होती है। इसलिए ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने "केनापि भाग्योदयेन" इस टीकाकी इस प्रकारकी व्याख्याका खण्डनकर इसकी यथार्थ व्याख्या "यदृच्छा महत्सङ्ग" अर्थात् महत्कृपाजनित भाग्य बतलाया है।

यदि 'यदृच्छा' शब्दकी व्याख्या किसी भाग्य उदयसे किया जाए तो यहाँ प्रश्न उठता है कि भाग्य किसके द्वारा उत्पन्न हुआ? शुभकर्म करनेसे एक प्रकारका भाग्य उदित होता है। यदि उसी शुभकर्म जनित भाग्यको स्वीकार किया जाए, तब भक्ति शुभकर्मके अधीन हो जाती है। ऐसी दशामें भक्तिमें कर्मकी परतन्त्रताका दोष स्पर्श करता है एवं उसकी स्वप्रकाशताकी भी हानि होती है। क्योंकि सभी शास्त्रोंमें भक्तिको स्वप्रकाश बतलाया गया है। सभी श्रुतियों और स्मृतियोंमें भक्तिको भगवान्‌की भाँति सच्चिदानन्दमयी और स्वरूपशक्तिकी वृत्ति बतलाया गया है। अतः भक्तिको परतन्त्र मानने और उसकी स्वप्रकाशताको अस्वीकार करनेसे श्रुतिवचनोंकी अवहेलाजनित अपराध होगा।

द्वितीयतः उस भाग्यको शुभकर्मोंके अभावजनित कहा गया है। तो ऐसा होनेपर उस भाग्य उदय होनेका कारण अज्ञात रहनेसे वह भाग्य ही असिद्ध हो जाता है। जो स्वयं असिद्ध है, वह दूसरे किसीका कारण कैसे हो सकता है?

तृतीयतः यदि भगवान्‌की कृपाको ही उस भाग्य उदयका कारण कहा जाए, तब उनकी कृपा प्राप्तिका कारण क्या है? फिर उसका कारण क्या है? इत्यादि उत्तरोत्तर कारण ढूँढ़नेसे कोई कारण निश्चित न होनेपर अनवस्था दोष स्पर्श करता है।

चतुर्थतः भगवान्‌की अहैतुकी कृपाको ही भाग्य उदयका कारण माना जाए तो उस अहैतुकी कृपासे सभी जीवोंको भक्ति लाभ करनेका भाग्य प्राप्त होना उचित है, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। कोई-कोई उस भाग्यको प्राप्त करते हैं, और कोई-कोई नहीं करते हैं। इसमें भगवान्‌में विषमताका दोष स्पर्श करता है। यदि कोई कहे कि भगवान्‌में विषमताका दोष तो है। क्योंकि वे भक्तोंका पालन करते हैं और असुरोंका संहार करते हैं। इसके उत्तरमें कह रहे हैं दुष्टोंको दमन करनेमें और अपने भक्तोंका पालन करनेमें श्रीभगवान्‌में जो विषमता देखी जाती है, वह दोष नहीं, बल्कि उनका महत् भूषण स्वरूप है या उनके महान गुणका ही परिचय है। क्योंकि भगवान्‌में भक्तवात्सल्य गुण अनन्य समस्त गुणोंसे ऊपर विराजमान होता है। विशेषतः असुरोंके संहारमें भी असुरोंके प्रति भगवान्‌की महत्कृपा ही प्रकाशित होती है। क्योंकि श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके विद्वेषके फलस्वरूप असुरोंकी आत्मा अनन्तकाल महादुःखमय नरकादिका भोग करेगी और कभी भी वे भक्ति प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इसलिए भगवान् कृपा करके संहारके बहाने उनको योगियोंके लिए भी दुर्लभ मुक्ति प्रदानकर उनके प्रति भी अशेष कृपा ही प्रकाश किया करते हैं। इस विषयकी विशेष विवेचना इसी ग्रन्थकी आठवीं वृष्टिमें की जाएगी।

भगवद्भक्तोंकी कृपा ही भक्तिप्राप्तिका कारण

निरुपाधिकायास्तद्भक्तकृपाया हेतुत्वे वस्तुतो भक्तानामपि वैषम्यानुचितत्वेऽपि "प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥" (श्रीमद्भा. ११/३/४६) इति मध्यमभक्तवैषम्यस्य विद्यमानत्वाद् भगवतश्च स्वभक्तवश्यत्वेन तत्कृपानुगामिकृपत्वे न किञ्चिदसामञ्जस्यम्। यतो भक्तकृपाया हेतुर्भक्तस्यैव

तस्य हृदयवर्त्तिनी भक्तिरेव। तां विना कृपोदयसम्भवाभावादिति भक्तेः स्वप्रकाशत्वमेव सिद्धम्।

भावानुवाद—भक्तों या महत्पुरुषोंकी कृपाको भक्तिका कारण कहा जा सकता है। भगवद्भक्तकी कृपा भी भगवत्कृपाकी भाँति निरुपाधिक है। अतएव यद्यपि इससे भगवद्भक्तोंमें भी विषमता या पक्षपातका दोष स्पर्श करता है, जो अनुचित प्रतीत होता है। परन्तु जो ईश्वरके प्रति प्रेम, भक्तोंके प्रति मैत्री, अज्ञानियोंके प्रति कृपा और विद्वेषियोंके प्रति उपेक्षा करते हैं, वे मध्यमभक्त हैं। इस लक्षणके अनुसार मध्यमभक्तमें विषमता विद्यमान रहती है। बाहरसे दिखनेवाली ये विषमताएँ मध्यम भक्तका गुण हैं। श्रीभगवान् भक्तोंके अधीन होते हैं। उसी प्रकार भगवान्‌की कृपा भी भक्तोंकी कृपाकी अनुगमिनी होती है, अर्थात् भक्तकृपा होनेपर ही भगवत्कृपा होती है। इसमें कोई भी असामञ्जस्य या दोष नहीं है। भक्तके हृदयमें सर्वदा भक्ति होती है, इसलिए भक्तोंकी हृदयवर्तिनी भक्ति ही दूसरोंके प्रति कृपा करनेका मूल कारण है। भक्तिके बिना किसीपर कृपाका होना भी सम्भव नहीं है। इसलिए भक्तिके उदय होनेमें प्राक्तन भाग्यादिकी अपेक्षा नहीं होनेसे एकमात्र भक्ति ही भक्तिका कारण होनेसे भक्तिकी स्वप्रकाशता सिद्ध हुई।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने भगवान्‌की भाँति ही सच्चिदानन्दस्वरूपा भक्तिकी स्वतन्त्रता और स्वप्रकाशकताका निरूपण करते हुए किसी शुभकर्मजनित भाग्यसे भक्ति उत्पन्न नहीं होती, अथवा भगवान्‌की निरुपाधिक कृपासे भी भक्ति उदित नहीं होती, ऐसा वर्णन किया है। अब यहाँपर वे सुयुक्तिके साथ यह सिद्धान्त स्थापन कर रहे हैं कि किसी भक्त अथवा महत्पुरुषकी कृपासे भक्ति उदित होती है, यदि ऐसा मान लिया जाए तो कोई असामञ्जस्य पैदा नहीं होता।

जैसे भगवत्कृपा अहैतुकी और निरुपाधिक है, उसी प्रकार भक्तोंकी कृपा भी अहैतुकी और निरुपाधिक है। क्योंकि भगवद्भक्तोंमें भी भगवान्‌के गुण किञ्चिद् अंशमें सञ्चारित होते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत

(म. २२/७२) में ऐसा कहा गया है—"कृष्णभक्ते कृष्णेर गुण सकल सञ्चारे" वे गुण भी अल्पमात्रामें क्यों न हों, उनका स्वरूप अपरिवर्तित ही रहता है। किन्तु भगवत्कृपा सर्वत्र परिव्याप्त नहीं दीखती। इसमें विषमताका दोष अवश्य ही आता है। किन्तु श्रीभगवान्‌में विषमता रहना जिस प्रकार दोष युक्त और अनुचित है तथा भगवत्-स्वरूपके लक्षणके विपरीत है, भक्तोंमें इस प्रकारकी विषमता अनुचित प्रतीत होते हुए भी मध्यमभक्तके लक्षणके अनुकूल है। क्योंकि श्रीमद्भागवतके अनुसार भक्तोंमें इस प्रकारकी विषमता रहना मध्यमभक्तका लक्षण माना गया है—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४६)

अर्थात् जो भगवान्‌से प्रेम करता है, भगवद्भक्तोंसे मित्रता करता है, अज्ञानी पुरुषोंपर कृपा करता है तथा भगवत्-विद्वेषी व्यक्तियोंकी उपेक्षा करता है, वह भगवान्‌का मध्यम-कोटिका भक्त है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें नवयोगेन्द्रके अन्यतम श्रीपाद हवि योगेन्द्रने मध्यमभक्तके लक्षणमें साधारण अज्ञानियोंके प्रति कृपा और भगवद्भक्तोंके द्वेषियोंके प्रति उपेक्षा इस वैषम्यका स्पष्ट रूपसे वर्णन किया है। इसलिए मध्यमभक्तोंका यह वैषम्य भक्तिके लिए हानिकर नहीं है यह सहज ही बोध होता है। ऐसे मध्यमभक्तोंकी कृपासे ही साधारण मनुष्य भक्तिलाभ किया करते हैं एवं भक्तोंकी कृपा होनेपर उनके प्रति भगवान्‌की कृपा भी उदित होती है। क्योंकि श्रीभगवान् भक्तके अधीन होते हैं। यदि भलिभाँति विचार किया जाए तो यह समझा जा सकता है कि भक्तके हृदयमें सर्वदा भक्ति विराजमान रहती है। उसी भक्तिके द्वारा ही साधारणके प्रति उनकी कृपा होती है और उसीके द्वारा जनसाधारण भक्तिलाभ करते हैं। अतएव भक्तिका हेतु भक्ति ही है। वह अपने प्रकाश होनेके लिए किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखती, यह सिद्ध हुआ। अतएव भक्तिकी स्वतन्त्रता या स्वप्रकाशकताकी हानि होनेकी और कोई आशङ्का नहीं रही।

भक्त द्वारा भगवान्‌की कृपाका प्रकाश

अतो ''यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने'' इत्यत्र अतिभाग्येन शुभकर्मजन्यभाग्यमतिक्रान्तेन केनापि भक्तकारुण्येनेति तत्त्वार्थो ज्ञेयः ॥३ ॥

न च भक्तानां कृपायाः प्राथम्यासम्भवस्तेषामपीश्वरप्रेर्यत्वादिति वाच्यम्। ईश्वरेणैव स्वभक्तवश्यतां स्वीकुर्वता स्वकृपाशक्ति–सम्प्रदानीकृत–स्वभक्तेन तादृशस्य भक्तोत्कर्षस्य दानात्। अन्तर्यामिनश्च ईशितव्यानां स्वादृष्टोपार्जित–बहिरिन्द्रियव्यापारेषु नियमनमात्रकारित्वेऽपि स्वभक्तेषु स्वप्रसाद एव दृश्यते। यदुक्तं श्रीगीताषु ''तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानम्'' इति। प्रसादश्च स्वकृपाशक्तिदानात्मकः पूर्वम् उक्त एव।

भावानुवाद—इसलिए "यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने", अर्थात् जो व्यक्ति किसी अतिशय भाग्यवश भगवान्‌की सेवा करनेके लिए श्रद्धायुक्त होता है—इस श्लोकमें 'अति भाग्येन' शब्दका वास्तविक अर्थ शुभकर्मजन्य भाग्यका अतिक्रमण करनेवाली किसी भक्तकी कृपा ही अभिप्रेत है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि भगवान्‌की प्रेरणाके बिना सर्वप्रथम भक्तकी कृपा होना असम्भव है, क्योंकि भगवान्‌ने भक्तोंकी वशीभूतता स्वीकार करते हुए अपनी कृपाशक्ति अपने भक्तोंको प्रदानकर भक्तोंका उत्कर्ष स्थापन कर रखा है। भक्तोंके अपने प्रारब्ध द्वारा उपार्जित बाह्य–इन्द्रियोंके व्यापारमें अन्तर्यामी भगवान्‌का नियन्त्रणमात्र रहता है। वस्तुतः अपने भक्तोंके प्रति उनका अनुग्रह ही दीखता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है, "तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानम्", अर्थात् "तुम उन ईश्वरके प्रसादसे परमशान्ति और नित्यधामको प्राप्त करोगे।" यहाँपर 'प्रसाद' शब्दसे अपनी कृपाशक्ति दानरूप अनुग्रहको ही समझना चाहिए। यह पहले कहा जा चुका है।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने इससे पूर्व यह सिद्धान्त स्थापन किया है कि भक्तकी कृपाको यदि भक्ति प्राप्तिका कारण माना जाए तो भक्तिकी स्वप्रकाशकताकी कोई हानि नहीं होती। क्योंकि वस्तुतः भक्तके हृदयमें विराजमान भक्ति होनेसे भक्ति ही उस

भक्तिका कारण होती है। अतएव भक्तिका कारण भक्ति होनेसे भक्तिकी स्वप्रकाशकता और भी सुसिद्ध होती है। अब यहाँ ग्रन्थकार शास्त्रोंसे प्रमाण देकर भक्तकृपाको भक्तिका कारण प्रतिपादन कर रहे हैं। "यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने" अर्थात् जो व्यक्ति किसी अतिशय भाग्यवश भगवान्‌की सेवा करनेके लिए श्रद्धायुक्त होता है। इस श्लोकमें 'अति भाग्येन' शब्दका वास्तविक अर्थ शुभकर्मजन्य भाग्यका अतिक्रमण करनेवाली किसी भक्तकी कृपा ही अभिप्रेत है। शुभकर्मजन्य भाग्यका अतिक्रमण करनेमें एकमात्र महत्कृपाजनित भाग्य ही समर्थ है। क्योंकि भगवत्कृपामें वैषम्यका दोष स्पर्श करता है, किन्तु महत्कृपामें वह वैषम्य दोष सम्भव नहीं है। अतएव महत्कृपारूप भाग्यसे ही मनुष्य भक्ति प्राप्त करता है। ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्तिपाद विविध प्रकारकी युक्ति और तर्क उठाकर भक्तिकी स्वप्रकाशताका निरूपण कर रहे हैं। कोई ऐसा कह सकते हैं कि भक्त तो भगवान्‌की इच्छाके अधीन हैं। अतएव ईश्वरकी इच्छा या प्रेरणाके बिना भक्तोंकी कृपा स्वतन्त्र रूपसे किस प्रकार उदित होगी? अतएव भक्तोंकी कृपाके मूलमें भी ईश्वरकी प्रेरणा होनेके कारण ईश्वरकी उस प्रेरणाको महत्कृपारूप भाग्यका प्राथमिक कारण मानना चाहिए।

अतएव भक्तिकी स्वप्रकाशकता कैसे सिद्ध होगी? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रील चक्रवर्तिपाद कहते हैं कि भगवान्‌ने स्वयं ही भक्तवश्यताके कारण भक्तोंके हृदयमें वैसी कृपाशक्ति दे रखी है कि भक्तोंकी कृपा ईश्वरकी इच्छा या प्रेरणाकी अपेक्षा नहीं रखती। भक्त स्वतन्त्र रूपसे जनसाधारणपर कृपा कर सकते हैं। भगवान्‌ने स्वेच्छापूर्वक अपने भक्तोंके इस प्रकार उत्कर्षका विधान किया है। विशेषतः महत्कृपा—तद् भक्तोंकी कृपा ऐसी स्वतन्त्र नहीं होनेसे इस जगतमें भगवत्कृपा प्राप्त करना किसीके लिए सम्भव नहीं हो सकता था। भगवान् परिपूर्ण आनन्दैकघन, अपापविद्ध, मायास्पर्शरहित हैं, जीवोंसे यही उनकी विलक्षणता है।

जिस प्रकार प्रचुर तेजके आधार सूर्यमें तनिक भी अन्धकार रहनेकी सम्भावना नहीं है, उसी प्रकार परिपूर्ण सुखस्वरूप भगवान्‌में

दुःखका स्पर्श नितान्त असम्भव है। श्रुति भी कहती है "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।" इसलिए जीवोंका कोई भी दुःख भगवान्‌को स्पर्श नहीं कर सकता। वे आनन्दस्वरूप होनेके कारण अपने स्वयंके आनन्दमें विभोर रहते हैं। अथच यह बात भी ठीक है कि परदुःख, दूसरोंका दुःख चित्तमें स्पर्श होनेपर ही कृपाका उद्रेक होता है। परमानन्दैकघन श्रीभगवान्‌में पूर्णशक्ति रहनेपर भी बहिर्मुख जीवोंके प्रति उनकी करुणा सर्वथा असम्भव है। इसलिए पतित और दुःखी जीवोंके उद्धारके लिए एकमात्र स्वतन्त्र महत्कृपा ही उपाय है।

यद्यपि साधु या महत्-जन भी रजस्तमोगुणात्मक दुःखसे अतीत शुद्धसत्त्वमय आनन्दके राज्यमें विचरण करते हैं, तथापि निद्रासे जागरित मनुष्य जिस प्रकार स्वप्नावस्थाके दुःखोंको स्मरण कर सकता है, उसी प्रकार महत्पुरुष भी अपने पूर्व-पूर्व जीवनके संसार-दुःखोंका स्मरणकर दयार्द्र चित्तसे बहिर्मुखोंके प्रति कृपा करनेमें समर्थ होते हैं। इसलिए करुणामय भगवान्‌ने जनसाधारणको अपने प्रति उन्मुख करनेके लिए अपनी कृपाको महत्पुरुषोंके हृदयमें रखकर महत्कृपाको सम्पूर्ण स्वतन्त्र कर रखा है। अतएव भगवान्‌की करुणा महत्कृपाकी अनुगामिनी होकर ही जीवोंके हृदयमें संक्रमित होती है, स्वतन्त्र भावसे नहीं। (भक्तिसन्दर्भ १८० अनुच्छेद)

और भी प्रश्न हो सकता है, अन्तर्यामी भगवान् अन्तर्यामी रूपसे समस्त जीवोंके हृदयमें प्रेरणा या अन्तरेन्द्रियों और बहिरेन्द्रियोंमें क्रियाशक्ति क्यों देते हैं? गीता (१८/६१) में इसके उत्तरमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

अर्थात् अन्तर्यामी भगवान् सब जीवोंके अन्तरमें विराजमान रहकर उनको विविध कर्मोंमें प्रवृत्तकर यन्त्रारूढ़की भाँति उनको परिचालित करते हैं।

क्या भक्तोंकी किसी क्रियापर उस सर्वशक्तिमान स्वतन्त्र ईश्वरका कोई नियन्त्रण नहीं है? इस विषयमें कह रहे हैं, भक्तोंके अपने-अपने

अदृष्टोपार्जित बहिरेन्द्रियोंके व्यापारमें भगवान्की कृपाशक्तिके प्रकाश आदिके विषयमें यद्यपि भगवान्का नियन्त्रणमात्र रहता है। अर्थात् भगवान्से प्राप्त शक्तिके यथायोग्य नियमन करनेके लिए शक्ति भगवान्की ही है, भक्तकी इस विषयमें सम्पूर्ण स्वाधीनता नहीं है, तथापि भक्तोंके प्रति भगवान्का अनुग्रह दिखलाई पड़ता है। तात्पर्य यह है कि अन्तर्यामी रूपसे भगवान् जैसे प्रारब्धकर्मोंके अधीन बहिर्मुख जीवोंके अन्तर और बहिरेन्द्रियोंमें प्रेरणा या शक्ति देकर, उनको सक्रिय करते हैं, भक्तोंकी इन्द्रियोंके नियमन व्यापारमें उनका वैसा नियमन नहीं है। भक्त अपने सुख-दुःखको प्रारब्ध हेतु समझनेपर भी, यथार्थमें भक्तगण प्रारब्ध कर्मके अधीन नहीं होते। उनका सुख-दुःख, सब कुछ, भक्तिकी पुष्टिके अनुकूल रूपमें भगवान्की इच्छासे हुआ करता है। इस विषयमें भगवान्की कृपाशक्ति भक्तकी इन्द्रियों आदिमें प्रकाशित होती है, उसके नियन्ता भगवान् ही हैं। इस विषयमें भक्तकी सम्पूर्ण स्वाधीनता नहीं है। फिर भी अन्य जीवोंके प्रति करुणा वितरणके व्यापारमें भगवान्ने स्वयं अपनी कृपाशक्तिका सञ्चार करके ही भक्तोंको वैसी सम्पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की है। जैसे गीता शास्त्र (१८/६२) में भगवान् स्वयं कहते हैं—"तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।" अर्थात् मेरी कृपासे ही मेरे भक्तगण मुझमें भलीभाँति स्थित जो पराशान्ति है, उसे प्राप्त करते हैं। यहाँ 'प्रसाद' शब्दसे भगवान्की कृपाशक्ति दानरूप अनुग्रहको ही समझना चाहिए।

निष्काम कर्म आदि भक्तिप्राप्त करनेके द्वारस्वरूप

किञ्च "स्वेच्छावतारचरितैः" इति "स्वेच्छामयस्य" इत्यादि प्रमाण-शतैरवगतेन स्वाच्छन्द्येनावतरतोऽपि तस्य भूभारहरणादेः स्थूलदृष्ट्या हेतुत्वे इव निष्कामकर्मादेः क्वापि द्वारत्वेऽपि न क्षतिः। किञ्च—

"यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्याय-संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥"

इत्यादिना दानव्रतादीनां स्पष्टमेव हेतुत्वखण्डनेऽपि—

“दानव्रततपोहोम–जपस्वाध्याय–संयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥”

इति यद् हेतुत्वं श्रूयते तत् खलु ज्ञानाङ्गभूतायाः सात्त्विक्या एव भक्तेर्न तु निर्गुणायाः प्रेमाङ्गभूतायाः। केचित् तु दानं विष्णुवैष्णव–सम्प्रदानकं व्रतान्येकादश्यादीनि तपस्तत्प्राप्तिहेतुको भोगादित्याग इति साधनभक्त्यङ्गान्येवाहुः। तत्साध्यत्वे भक्तेः “भक्त्या सञ्जातया भक्त्या” इतिवत् निर्हेतुकत्वमेव सिद्धमिति सर्वं समञ्जसम्॥४॥

भावानुवाद—शास्त्रोंमें लिखित “स्वेच्छावतारचरितैः” (अर्थात् स्वेच्छामय अवतारोंके चरित्रोंके द्वारा) तथा ‘स्वेच्छामय’ इत्यादि सैकड़ों वचनोंके द्वारा यह विदित होता है कि भगवान् स्वेच्छासे ही विश्वमें अवतरित हुआ करते हैं। तथापि स्थूल दृष्टिसे जिस प्रकार भूभार हरण आदिको भगवान्‌के अविर्भावका कारण कहा गया है, उसी प्रकार निष्काम कर्म आदिको किसी–किसी स्थलपर जो भक्तिका द्वार कहा गया है, उसमें कोई हानि नहीं है।

श्रीमद्भागवत (११/१२/९) में “यत्र योगेन” यह स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि यत्नशील व्यक्ति भी योग, सांख्य, ज्ञान, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, शास्त्र–व्याख्या, वेदाध्ययन तथा संन्यास आदिके द्वारा भगवद्भक्तिको प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसके द्वारा इन शास्त्रवचनोंमें दान–व्रत आदिको भक्ति प्राप्तिका हेतु स्पष्ट रूपमें खण्डन होनेपर भी, किन्तु अन्यत्र दान, व्रत, तपस्या, होम, जप, वेदाध्ययन इत्यादि विविध कल्याणजनक कर्मोंके द्वारा भक्ति साधित होती है—ऐसा कहा गया है, इसे ज्ञानाङ्गभूता सात्त्विकी भक्तिके सम्बन्धमें ही जानना चाहिए, प्रेमाङ्गभूता निर्गुणा भक्तिके सम्बन्धमें नहीं।

पुनः इस श्लोककी व्याख्यामें कोई–कोई दान कहनेसे विष्णु एवं वैष्णवोंके उद्देश्यसे दान, व्रत कहनेसे एकादशी इत्यादि व्रत, ‘तपस्या’ शब्दसे भगवत्–प्राप्तिके उद्देश्यसे भोग आदि त्यागको साधनभक्तिका अङ्ग बतलाते हैं। इस प्रकार भक्ति–अङ्गोंके द्वारा साध्य कहनेसे भक्तिके द्वारा उत्पन्न भक्ति समझना चाहिए; इस प्रकार भक्तिका

अहैतुकी होना प्रतिपन्न होनेसे शास्त्रोंके समस्त वचनोंका सामञ्जस्य सिद्ध हुआ।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—श्रील चक्रवर्तिपाद भक्तिकी स्वप्रकाशताके विरोधी प्रतीत होनेवाले शास्त्रोंके वचनोंका सामञ्जस्य कर रहे हैं। शास्त्रोंमें किसी–किसी स्थानपर निष्काम कर्म अथवा श्रीभगवान्‌के प्रति कर्मार्पण प्रभृत्तिको भक्तिका द्वार कहा गया है। इसके द्वारा किसी–किसीके हृदयमें यह शङ्का हो सकती है कि निष्काम कर्म अथवा भगवान्‌के प्रति कर्म समर्पण भक्तिका कारण है, तब भक्तिकी स्वप्रकाशता कैसे सिद्ध हो सकती है? उसके उत्तरमें दृष्टान्तके सहित इस विषयकी मीमांसा कर रहे हैं। "स्वेच्छावतारचरितैः" (श्रीमद्भा. ४/८/५७) "स्वेच्छामयस्य" (श्रीमद्भा. १०/१४/२) इत्यादि श्रीमद्भागवतके वचनोंसे विदित होता है कि सर्व–तन्त्र–स्वतन्त्र भगवान् स्वेच्छापूर्वक जगतमें अवतरित होते हैं। फिर भी स्थूलदृष्टिसे भूभार हरण आदिको भगवान्‌के अवतारका हेतु बतलाया गया है। सूक्ष्मदृष्टिसे विवेचना करनेपर विदित होता है कि जिनकी इच्छामात्रसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका प्रलय हो जाता है, इच्छा करनेसे क्या कतिपय असुरोंका विनाशकर भूभार हरण नहीं कर सकते? फिर भी लीलामय भगवान् स्वेच्छासे जगतीतलपर अवतीर्ण होकर भक्त–विनोदन आदि विविध प्रकारकी लीलाएँ करते हैं। इसी प्रकार स्थूलदृष्टिसे निष्काम कर्म आदि भक्तिका द्वार प्रतीत होनेपर भी, सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर एकमात्र भक्तकी कृपाके बिना भक्ति प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय दिखाई नहीं देता। इसलिए निष्काम कर्म आदिको भक्तिका द्वार कहे जानेपर भी भक्तिकी स्वप्रकाशताकी कोई हानि नहीं होती।

पुनः श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्याय–संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/९)

अर्थात् बहुत यत्न करनेपर भी लोग योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, शास्त्र–व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास आदिके द्वारा

भक्तिको प्राप्त नहीं कर पाते। इस श्लोकके द्वारा स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि महत्कृपा व्यतीत योग, सांख्य आदि अन्यान्य दूसरे साधन भक्तिके उदयका कारण नहीं हो सकते। ऐसा स्पष्ट रूपसे खण्डन करनेपर भी श्रीमद्भागवतमें ही देखा जाता है—

दानव्रततपोहोम–जपस्वाध्याय–संयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥
(श्रीमद्भा. १०/४७/२४)

अर्थात् दान, व्रत, तपस्या, होम, जप, वेदाध्ययन, संयम और अन्यान्य विविध श्रेयःजनक कार्योंके द्वारा कृष्णभक्ति साधित होती है। इस श्लोकमें जो दान, व्रतादिको भक्तिका साधन कहा गया है, वह ज्ञानाङ्गभूता सात्त्विकी भक्तिके सम्बन्धमें कहा गया है। प्रेमाङ्गभूता निर्गुणा या स्वरूपसिद्धा भक्तिके सम्बन्धमें नहीं कहा गया है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकपिलदेवजीने अपनी माता देवहूतिको स्वरूपसिद्धा निर्गुणा भक्तिका लक्षण वर्णन करनेसे पूर्व सकामा भक्ति या सगुणा भक्तिका लक्षण वर्णनके प्रसङ्गमें सात्त्विकी भक्तिका लक्षण बतलाया है—

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥
(श्रीमद्भा. ३/२९/१०)

अर्थात् जो लोग पापोंका क्षय करनेके लिए, परमात्माको अर्पण करनेके लिए और पूजन करना कर्त्तव्य है—इस बुद्धिसे मेरा भेदभावसे पूजन करते हैं, वे सात्विक भक्त हैं। भक्ति श्रीभगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है। कभी भी सात्त्विकी या मायिकी नहीं है, किन्तु निर्गुण होकर भी वे स्वेच्छापूर्वक अपना अपकर्ष स्वीकारकर ज्ञानाङ्गभूता होकर ज्ञानियोंको मुक्ति प्रदान करती है, इसलिए तब उनको सात्त्विक भक्ति कहा गया है। जो लोग मुक्ति प्राप्त करनेके लिए ज्ञानका साधन करते हैं, किन्तु भक्तिकी सहायताके बिना ज्ञान किसी भी प्रकार मुक्ति देनेमें समर्थ नहीं है, इसलिए ज्ञानी लोग मुक्ति प्राप्त करनेके लिए

भगवान्‌की भक्ति करते हैं। "दानव्रततपोहोम" आदि आलोच्य श्लोकमें इसी ज्ञानाङ्गभूता सात्त्विक भक्तिकी ही बात कही गई है। प्रेमप्रदान करनेवाली शुद्धाभक्तिकी बात नहीं कही गई है।

पुनः किसी-किसीने इस श्लोकके दान, व्रत, तपस्या, होम आदिकी व्याख्या शुद्धाभक्तिके अङ्गके रूपमें ही की है। इस श्लोककी सारार्थदर्शिनी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने लिखा है—"तत्र दानं विष्णु वैष्णव सम्प्रदानकम्। व्रतम् एकाश्यादिकम्। तपः कृष्णार्थभोग-त्यागादि। होमो वैष्णवः। जपो विष्णुमन्त्राणाम्। स्वाध्यायो गोपालतापन्यादि पाठः। श्रेयांस्यपि भक्त्यङ्गान्यपि ज्ञेयानि। अन्येषां दानादीनां भक्तिहेतुत्वाभावस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात्।" अर्थात् यहाँ दान कहनेसे विष्णु और वैष्णवोंके प्रति दिए हुए दान, विष्णु और वैष्णवोंकी सेवाके लिए अर्थादि दान। व्रत कहनेसे एकादशी इत्यादि वैष्णव व्रत। तपस्याका तात्पर्य श्रीकृष्णके लिए भोगादिका त्याग। होम शब्दसे वैष्णव होम अथवा वैष्णवोंको भगवत्-निवेदित प्रसादादि दान। जपका तात्पर्य विष्णुमन्त्र गायत्री इत्यादि जप। गोपालतापनी श्रुति प्रभृतिका पाठ ही स्वाध्याय है। इस प्रकार श्रेयः कहनेसे अन्यान्य भक्ति-अङ्गसमूहका ही बोध होता है। अन्य प्रकारके दानादि कभी भी भक्तिके हेतु नहीं हो सकते। यह पहले ही प्रतिपादित हो चुका है। इस प्रकार भक्तिका निर्गुणत्व प्रतिपादित होनेसे सब प्रकारसे सुसामञ्जस्य हुआ।

भक्तिके बिना ज्ञान-कर्म-योगादि सब कुछ निष्फल

"श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो" इति "को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः" इति "पुरेव भूमन् बहवोऽपि योगिनः" इत्यादिभ्यो ज्ञानकर्मयोगादीनां प्रतिस्वफलसिद्ध्यै भक्तिमवश्यमपेक्षमाणानामिव भक्तेः स्वीयफलप्रेमसिद्ध्यै स्वप्नेऽपि न तत्तत्सापेक्षत्वं, प्रत्युत "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इति "धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः" इत्यादिभ्यस्तस्याः सर्वथानन्यापेक्षित्वं किं वक्तव्यं तेषामेव ज्ञानकर्मयोगादीनां प्रतिस्वेकेषु फलेष्वपि कदाचिदात्मना साध्यमानेषु न तत्तद्गन्धापेक्षत्वमपि। यदुक्तम्—

"यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।" इत्यादौ "सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।" इति। तां विना तु तेषाम्—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।
अप्राणस्येव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्॥

इत्यादेर्वैफल्यायैव स्यादिति। तस्याः परममहत्या अधीनत्वं तेषां संप्राणायैवास्ताम्। अपितु कर्मयोगस्य कालदेशपात्रद्रव्यानुष्ठानशुद्ध्याद्यपेक्षा च तत्तत्स्मृतिप्रसिद्धैव।

अस्यास्तु न तथा—

न देश-नियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति हरेर्नामनि लुब्धकः॥ इत्यादेः।

किञ्चास्याः प्रसिद्धसापेक्षत्वमपि न।

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा,
भृगुवरं नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥ इत्यादेः।

किमन्यद्वक्तव्यं स्वशुद्धिपर्यन्तापेक्षापि नैवास्य दृष्टा शुद्धं वाऽशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यमित्यादेः।

भावानुवाद—"श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो" एवं "को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः" तथा "पुरेह भूमन बहवोऽपि योगिनः" इत्यादि शास्त्रवचनोंसे ज्ञात होता है कि कर्म, योग, ज्ञानादिको अपना फल प्राप्त करानेके लिए भक्तिकी निश्चित रूपमें अपेक्षा रहती है, किन्तु भक्तिको अपना फल प्रेम प्रदान करनेमें स्वप्नमें भी कर्म, योग, ज्ञानादिकी अपेक्षा नहीं होती। केवल ज्ञान एवं वैराग्यसे भक्तिपथमें तनिक भी कल्याण सिद्ध नहीं होता। श्रीभगवान्ने कहा है, "जो समस्त धर्मोंका परित्यागकर मेरा भजन करता है, वही श्रेष्ठ साधु है।" इत्यादि वचनोंसे भक्तिकी अन्य-निरपेक्षता ही सिद्ध होती है। ऐसा तो कहना ही क्या है, ज्ञान, कर्म, योगादिको अपना फल प्रदान करनेमें भक्तिकी सहायता लेनी पड़ती है। उन्हें भक्तिके ऊपर निर्भर होना पड़ता है। किन्तु भक्तिको अपना फल प्रेम प्रदान करनेमें इनमेंसे किसीसे तनिक भी सहायता नहीं लेनी पड़ती है। इसलिए भगवान्ने कहा है "यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् सर्वं मद्भक्ति-

योगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा" अर्थात् यज्ञादि कर्मोंके द्वारा, तपस्याके द्वारा और ज्ञान-वैराग्यके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, वह फल मेरा भक्त भक्तिके अनुष्ठानसे अनायास ही प्राप्त कर लेता है। परन्तु भक्तिके बिना मनुष्यकी जाति, शास्त्रज्ञान, जप, तपस्या इत्यादि ऐसे ही निष्फल और व्यर्थ हैं, जैसे लोकरञ्जनके लिए प्राणहीन देहको वेश-भूषाके द्वारा सजाना व्यर्थ और निष्फल है।

तात्पर्य यह है कि भक्तिके बिना मनुष्यका उच्चवंशमें जन्म, शास्त्रज्ञान, जप तथा तपस्यादि सब निष्फल हैं। जैसे शरीर प्राणोंके अधीन है, उसी प्रकार ज्ञान, जप-तप, योगादि भक्तिके ही अधीन हैं और कर्मयोग अर्थात् याग-यज्ञादिके अनुष्ठानमें काल, देश, पात्र, द्रव्य, अनुष्ठान और पवित्रता आदिकी अपेक्षा रहती है। भक्तिके लिए ऐसा विधान नहीं देखा जाता। इसीलिए शास्त्रोंमें ऐसा देखा जाता है—"हे लुब्धक! हरिनामकीर्त्तन आदि भक्ति-अङ्गोंके अनुष्ठानमें देश, काल आदिका कोई विचार नहीं है, बल्कि उच्छिष्ट अवस्थामें भी नामकीर्त्तनका निषेध नहीं है। श्रद्धासहित हो अथवा अवहेलापूर्वक एकबार मात्र परिगीत होनेपर भी श्रीकृष्णनाम नरमात्रको समस्त प्रकारके दुःखोंसे परित्राण कर देते हैं।" इत्यादि।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने भक्तिके स्वप्रकाशत्वका प्रतिपादनकर अब यहाँ कर्म, ज्ञान, योगादिकी साधनमें भक्तिकी अपेक्षा एवं भक्तिकी निरपेक्षता तथा अन्यान्य साधनाओंके लिए भक्ति ही प्राणस्वरूप है इत्यादि विषयोंका वर्णन किया हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद्यथा स्थूल-तुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/४)

श्रीब्रह्मा श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभावको देखकर उनका स्तव कर रहे हैं—"हे भगवन्! निखिल कल्याणको प्राप्त करनेके एकमात्र उपाय भक्तिको त्यागकर जो लोग केवल ज्ञान प्राप्त करनेके निमित्त कठोर

क्लेश स्वीकार किया करते हैं, चावलरहित थोथी भूसी कूटनेकी भाँति उनको केवलमात्र क्लेश ही क्लेश सार होता है।" श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीमद्भगवद्गीता (१८/५५) के श्लोककी सारार्थवर्षिणी टीकामें चार प्रकारके केवल ज्ञान या ब्रह्मज्ञानके साधकोंका उल्लेख किया है। जो लोग भक्तिरहित केवल ज्ञान ही मुक्ति देनेमें समर्थ है, ऐसा जानकर ज्ञानसाधनाके लिए प्रचुर क्लेश स्वीकार किया करते हैं, उनको केवल क्लेश-ही-क्लेश प्राप्त होता है। ये लोग अति निन्दित लोग हैं। इस आलोच्य श्लोकमें ऐसे ही ज्ञानियोंकी बात कही गई है। और जो लोग "सर्वासामेव सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्" अर्थात् समस्त साधनाओंकी सिद्धिका मूल श्रीकृष्णके चरणोंका अर्चन करना है। इस शास्त्रवाणीको देखकर जो भक्तिमिश्र ज्ञानकी साधना करते हैं, किन्तु भगवान्‌के श्रीविग्रहको मायिक उपाधियुक्त समझते हैं, वे बहुत कष्टसे योगारूढ़ दशामें आरोहण करके भी श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अपराधके फलसे मुक्तिलाभसे वञ्चित होकर अधःपतित हो जाते हैं। ये लोग निन्दित ज्ञानी हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्यकृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदंघ्रयः॥
(श्रीमद्भा. १०/२/३२)

अर्थात् ब्रह्मा आदि देवगण गर्भस्तोत्रमें श्रीकृष्णका स्तव कर रहे हैं—"हे कमललोचन! जो लोग आपके श्रीचरणोंका अनादरकर अपनेको मुक्त अभिमान करते हैं, आपके प्रति भक्तिका अभाव रहनेके कारण उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है। वे कठोर कष्टदायक साधनाओंके फलसे जीवन्मुक्तिदशामें आरोहण करके भी पुनः अधःपतित हो जाते हैं।" और एक श्रेणीके ज्ञानी वे हैं, जो भक्तिमिश्र ज्ञानकी साधना करते हैं और श्रीभगवान्‌का विग्रहको सच्चिदानन्दमय समझते हैं। वे ही विद्या और अविद्याके दूर हो जानेपर तत्पदार्थविषयक अपरोक्ष ज्ञान प्राप्तकर ब्रह्मसायुज्य प्राप्त करते हैं। ये लोग कुछ प्रशंसनीय हैं। और एक प्रकारके ऐसे ज्ञानी होते हैं, जो परम सौभाग्यवान हैं। वे ज्ञानकी साधनाके समय भगवत्कृपासे किसी

महाभागवतका सङ्ग प्राप्तकर, उनके प्रभावसे मुक्तिकी वासना छोड़कर, श्रील शुकदेव गोस्वामी आदिकी भाँति भक्तिरसके माधुर्यका आस्वादन करनेमें मग्न हो जाते हैं। ये अत्यन्त प्रशंसनीय ज्ञानी हैं। इस प्रकार समस्त ज्ञानी साधकोंको सिद्धि प्राप्त करनेके लिए भक्तिकी प्रबल अपेक्षा दृष्टिगोचर होती है।

अब कर्मियोंकी भक्तिकी अपेक्षाका वर्णन कर रहे हैं—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥
(श्रीमद्भा. १/५/१७)

देवर्षि नारद खिन्न चित्तवाले श्रीव्यासदेवके प्रति कह रहे हैं—"हे मुने! जो लोग अपने नित्य-नैमित्तिक वर्णाश्रमादि धर्मोंका त्यागकर श्रीहरिके श्रीचरणकमलोंका भजन करते-करते भजन परिपक्व होनेसे पूर्व ही यदि पतित हो जायँ तो क्या उनका कोई अहित हो सकता है? अर्थात् कभी भी उनका अमङ्गल नहीं होता, किन्तु जो लोग भगवान्का भजन अर्थात् भक्ति न कर केवल अपने नित्य-नैमित्तिक वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हैं, उन्हें क्या प्राप्त होता है? अर्थात् उनको कुछ भी लाभ नहीं होता।" तात्पर्य यह है कि भगवद्भक्तिका अनुष्ठान करते हुए भगवत्-प्राप्तिसे पूर्व ही यदि किसी साधककी मृत्यु हो जाती है अथवा रोगादि अनेक कारणवश उनका भजन छूट भी जाता है या पथभ्रष्ट हो जाते हैं, तो भी उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता। उनका अमङ्गल नहीं होता। परन्तु भगवद्भक्तिको छोड़कर जो व्यक्ति नित्य-नैमित्तिक अन्यान्य धर्मोंके पालनमें, दान-व्रत, तपस्याके पालनमें लगे रहते हैं, उन्हें अन्त तक कुछ भी प्राप्त नहीं होता। क्षणिक सुख अथवा स्वर्गादि लोकोंके क्षण-भंगुर सुख भोगनेके बाद वे पुनः संसारमें आवागमनको प्राप्त होते हैं। भगवद्भक्तिके बिना उन लोगोंका व्रत, स्वधर्म पालन आदि सभी कुछ व्यर्थ हो जाता है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म. २२/२६) में भी ऐसा लिखा गया है—"चारि वर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे। स्व-स्वकर्म करिते से रौरवे पड़ि' मजे।"

इसी प्रकार भक्तिके बिना योग-कर्मादिकी कुछ भी सार्थकता नहीं है, इसी विचारको दिखाते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/५)

श्रीब्रह्माजी श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं, "हे अच्युत! हे अपरिच्छन्न! हे अनन्त! पूर्वकालमें इस लोकमें बहुतसे योगी योगके द्वारा आपका ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ होनेपर, अन्तमें उन्होंने अपने लौकिक, वैदिक समस्त कर्मोंको आपके श्रीचरणकमलोंमें समर्पित कर दिया और उनके समर्पित कर्मोंके फलसे तथा रुचि सहित आपकी लीलाकथाओंके श्रवणजनित भक्तिके प्रभावसे आत्मतत्त्व और आपके स्वरूपतत्त्वको अवगत होकर सुखसे परमगति अर्थात् आपके श्रीचरणोंको प्राप्त हुए हैं।"

ग्रन्थकार श्रीपाद चक्रवर्ती ठाकुर कह रहे हैं—कर्मी, ज्ञानी और योगियोंकी साधनाका फल सिद्धिके लिए जिस प्रकार भक्तिकी अपेक्षा रखता है, उस प्रकार भक्ति अपना फल कृष्णप्रेम सिद्धिके लिए, स्वप्नमें भी, ज्ञान, योग, कर्मादिकी अपेक्षा नहीं रखती। अन्यकी अपेक्षाकी बात तो दूर रहे, उक्त ज्ञान, कर्मादिके स्पर्शसे भक्तिकी शुद्धताकी हानिका प्रसङ्ग ही अवगत हुआ जाता है। श्रीमद्भागवतमें यह देखा जाता है—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/३१)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवके प्रति कह रहे हैं—मुझमें भक्तियुक्त मद्गतचित्त भक्तके लिए विश्वमें ज्ञान-वैराग्यादि कल्याणके रूपमें गण्य नहीं होते। भक्ति निर्गुण और निरपेक्ष है। वह किसीकी अपेक्षा नहीं रखती, परन्तु ज्ञान-वैराग्यादि भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं और भक्तिके बिना वे कोई फल नहीं दे सकते हैं। भगवद्भक्त ज्ञान, वैराग्यादिकी

कामना न करनेपर भी वे भक्तिका अनुगमन करते हैं। "ज्ञान-वैराग्यादि—भक्तिर कभु नहे 'अङ्ग'। अहिंसा-यम-नियमादि बुले कृष्णभक्त-सङ्ग॥" (चै. च. म. २२/१४१)

श्रीमद्भागवतमें यह कहा गया है कि भक्तिदेवी स्वयं ही अतिशीघ्र शुद्ध वैदिक ज्ञान और युक्तवैराग्यको उत्पन्न करती हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥
(श्रीमद्भा. १/२/७)

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसकी टीकामें कहते हैं—"ज्ञान-वैराग्यार्थं पृथक् यत्नो भक्तैर्न कर्तव्य इति भावः।" अर्थात् भक्तोंको ज्ञान और वैराग्यकी सिद्धिके लिए पृथक् रूपमें यत्न नहीं करना चाहिए। यही भाव है। वर्णाश्रम आदिका सम्पूर्ण रूपसे त्यागकर भगवद्भजन करनेका ही उपदेश दिया गया है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्तज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥
(श्रीमद्भा. ११/११/३२)

अर्थात् "हे उद्धव! मैंने शास्त्रोंके रूपमें मनुष्योंके धर्मका उपदेश किया है, उसके गुण-दोषोंका विचारकर उस धर्म प्रवृत्तिको छोड़कर जो मेरा भजन करते हैं, वे ही परम सन्त हैं।" गीताके उपसंहारमें भी भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(श्रीगी. १८/६६)

"हे अर्जुन! तुम लोकधर्म, वेदधर्म आदि समस्त नैमित्तिक धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरी (भगवान् श्रीकृष्णकी) शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें धर्म त्यागसे उत्पन्न सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा। शोक मत करो।"

प्रीतिसन्दर्भमें श्रील जीव गोस्वामिपाद कहते हैं—"भक्ति तात्पर्यान्तम-सहमाना।" अर्थात् भक्ति ज्ञान, कर्मादि अन्य साधनाओंका मिश्रण सह्य नहीं कर पातीं। भक्तिको अपना प्रेमफल दान करनेमें कर्म, ज्ञानादिकी सहयोगिताकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं होती, बल्कि भक्ति अपनी गन्धमात्रसे या आभासमात्रसे कर्म, ज्ञान, योगादिके साध्य फलको अनायास ही प्रदान किया करती है। श्रीकृष्ण उद्धवके प्रति कहते हैं—

यत्कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञान-वैराग्यतश्च यत्।
योगेन दान-धर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/३२-३३)

अर्थात् कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दानधर्म या तीर्थयात्रा, व्रतादिके द्वारा जो कुछ लाभ होता है, मेरा भक्त भक्तियोगके द्वारा अनायास उन सबको प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि भक्तोंको कृष्णसेवाके अतिरिक्त कोई भी कामना नहीं होती, तथापि यदि किसी विशेष परिस्थितिमें कभी भक्त प्रार्थना करते हैं, तो वे अनायास ही स्वर्ग, मोक्ष, मेरे धामको भी प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर, भक्तिके बिना कर्म, तपस्या, ज्ञानादि निष्फल होते हैं। हरिभक्तिसुधोदय (३/११) में कहा गया है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।
अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्॥

भगवद्भक्तिरहित लोगोंकी ब्राह्मणादि उत्तम जाति, वेदादि शास्त्र अध्ययन, तपस्या—यह सब कुछ मृत शरीरको वस्त्रालङ्कारोंसे भूषित करनेकी भाँति लोकरञ्जनमात्र है। इन शास्त्रवचनोंसे भक्तिहीन साधनोंकी विफलता ज्ञात होती है। उनके अनुष्ठानसे जो कुछ फल प्राप्त होता है, वह भक्तिकी सहायतासे ही प्राप्त हो जाता है। देह

जिस प्रकार प्राणोंके अधीन है, जप, तपस्यादि भी उसी प्रकार परम महीयसी भक्तिदेवीके अधीन ही है, ऐसा जानना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि कर्म, ज्ञानादिकी साधनाओंमें जिस प्रकार देश, काल, पात्र, द्रव्य, अनुष्ठान, शुद्धि इत्यादिकी अपेक्षा रहती है, भक्तिकी साधनामें उस प्रकार देश, काल, नियमादिकी कोई अपेक्षा नहीं होती। जो कोई व्यक्ति जिस किसी भी देशमें, किसी कालमें, किसी भी अवस्थामें हरिभजन कर सकता है। वैष्णवस्मृतिमें यह प्रसिद्ध है—

न देशनियमस्तस्मिन् न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्निलुब्धक॥

हे लुब्धक! हरिनामका ऐसा ही अनिर्वचनीय माहात्म्य है कि हरिनाम-संकीर्त्तनमें देश, कालका कोई नियम नहीं है। यहाँ तक कि उच्छिष्टावस्थामें भी नामसंकीर्त्तन किया जा सकता है। पवित्र-अपवित्र सभी अवस्थाओंमें नामसंकीर्त्तन करनेके लिए कोई भी निषेध नहीं है। भक्ति अपनी सिद्धिके लिए किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखती। इसलिए कहा गया है—"सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा, भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।" (प्रभास खण्ड) हे भृगुवर! श्रद्धा सहित या अश्रद्धा सहित कृष्णनाम एक बार उच्चरित होनेसे ही मनुष्यमात्रको समस्त दुःखोंसे परित्राण कर देते हैं।

श्रीहरिभक्तिविलासधृत इस श्लोककी टीकामें लिखा गया है—"यथाकथञ्चित् सकृत् तत् कीर्तनादप्यानुषङ्गिकत्वेन सर्वस्यापि मोक्षो भवेदेवेत्याह-सकृदपीति। परीत्यर्द्धे अव्यक्तमसम्पूर्णमुच्चारितमपीत्यर्थः।" इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णनाम-कीर्त्तनका मुख्यफल कृष्णप्रेम है। अतएव जो किसी प्रकारसे एक बार कृष्णनामका कीर्त्तन करता है तो उसके आनुषङ्गिक फल स्वरूप अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। 'परिगीतं' शब्दके 'परि' इस अंशका तात्पर्य यह है कि अव्यक्त या असम्पूर्ण नाम उच्चरित होनेपर भी इस प्रकार फल लाभ हुआ करता है, ऐसा समझना चाहिए।

कर्मयोगमें मन्त्र आदिके दोषसे महा अनर्थकी उत्पत्ति

कर्मयोगस्य तथाभूतत्वे महानर्थकारित्वमेव। ''मन्त्रहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथो प्रयुक्तो न तमर्थमाह। यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् स वाग्वज्रो यजमानं हि हिनस्ति॥'' इत्यादेः। एवं ज्ञानस्यान्तःकरणशुद्ध्यधीनत्वं प्रसिद्धमेव। निष्फलकर्मयोगेनान्तःकरणस्य शुद्धौ निष्पादितायामेव तत्र तस्य प्रवेशात् कर्माधीनत्वञ्च। तदधिकृतस्य दैवात् दुराचारत्वलवेऽपि ''स वै वान्ताश्यपत्रपः'' इति निन्दा। कंसहिरण्यकशिपुरावणादीनां तत्तत्प्रकरणदृष्ट्या ज्ञानाभ्यासवतामपि न तत्त्वेन व्यपदेशलवोऽपि।

भावानुवाद—कर्मयोगमें विधि और निषेध है। देश-कालका नियम भी है। उसमें त्रुटि हो जानेपर महा अनर्थ उत्पन्न हो जाता है। शास्त्रोंमें कहा गया है, यज्ञ इत्यादिमें किसी मन्त्रके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर उच्चारणमें भूल हो जाए अथवा कोई वर्ण छूट जाए या यथार्थ रूपमें वर्णविन्यास न हो और उचित रूपमें उसका प्रयोग न हो, तो वह मन्त्र वज्र बनकर यज्ञ करनेवाले यजमानका सर्वनाश कर देता है।

जैसे त्वष्टा ऋषि यज्ञमें आहुति प्रदान करते समय "इन्द्र-शत्रु तुम वर्धित हो" ऐसा उच्चारण किया था। किन्तु उनके उच्चारणका फल विपरीत हुआ। इसी प्रकार ज्ञानयोगमें भी अन्तःकरण शुद्धिकी आवश्यकता होती है। बिना अन्तःकरणकी शुद्धि हुए उस ज्ञानयोगका फल नहीं होता। फलकी आकांक्षासे रहित कर्मयोगके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही ज्ञानयोगमें प्रवेश करनेका अधिकार होता है। अतएव ज्ञानयोगमें कर्मकी अधीनता देखी जाती है। ऐसा भी देखा जाता है कि ज्ञानयोगका कोई साधक दुर्भाग्यवश थोड़े-से दुराचारमें भी लिप्त हो जाए तो उसे निर्लज्ज वमनभोजी कहकर शास्त्रोंमें उसकी निन्दा की गई है। कंस, हिरण्यकशिपु, रावण आदि इसी दोषके कारण ज्ञानवान होते हुए भी सर्वत्र उनकी निन्दा सुनी जाती है। ज्ञानाभ्यास करनेवालोंका तत्त्वतः कोई भी थोड़ा-सा असदाचार साधुसम्मत नहीं है। ऐसा निश्चित होता है।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—श्रीभगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति परम प्रबला भक्तिकी साधनामें जिस प्रकार देश–काल–पात्रादिका विचार नहीं है, भजनमें त्रुटि होनेपर भी भक्तिसाधकोंके पतनकी कोई सम्भावना नहीं होती। किन्तु कर्म–ज्ञानादिकी साधनामें ऐसा नहीं है। कर्मयोगमें विधि–निषेधका विचार होनेके कारण उनके अनुष्ठानमें यदि बिन्दुमात्र भी त्रुटि रह जाए, तब कर्मीके लिए वह महा अनिष्टदायक हो जाता है। कभी–कभी ऐसे साधकोंका सर्वनाश भी हो जाता है। प्रमाणस्वरूप श्रीमद्भागवतके षष्ठ स्कन्धमें त्वष्टा ऋषिका चरित्र वर्णन किया गया है।

एक समय इन्द्रका अभिमान देखकर देवगुरु बृहस्पति उन्हें शिक्षा देनेके लिए कुछ दिनोंके लिए छिप गए। देवशत्रु दैत्योंको भी यह समाचार प्राप्त हुआ कि देवगुरु बृहस्पति इन्द्रसे अत्यन्त असन्तुष्ट होकर अन्तर्ध्यान हो गए हैं, दैत्यगुरु शुक्राचार्यकी सहायतासे बृहस्पतिके द्वारा परित्यक्त दुर्बल देवताओंको अनायास ही पराजितकर स्वर्गराज्य छीन लिया। उस समय देवतालोग ब्रह्माके शरणापन्न हुए, उन्होंने त्वष्टा ऋषिके पुत्र विश्वरूपको पुरोहितके रूपमें वरण करनेके लिए देवताओंको परामर्श दिया। श्रीब्रह्माजीके निर्देशके अनुसार देवताओंने विश्वरूपको पुरोहित वरण किया। उन्होंने इन्द्रको नारायण–कवच प्रदान किया और इस प्रकार इन्द्रादि देवताओंने दैत्योंको पराजित किया। विश्वरूप त्वष्टा ऋषिके पुत्र होनेपर भी असुरोंके दौहित्र (बेटीका बेटा) लगते थे। इसलिए आहुतिके समय वे छिप–छिपकर असुरोंको भी यज्ञका भाग अर्पण कर रहे थे। एक समय इन्द्रने ऐसा देखकर क्रोधसे विश्वरूपकी हत्या कर दी। त्वष्टा ऋषिने यह जानकर इन्द्रकी मृत्युके लिए एक यज्ञका अनुष्ठान किया और "इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व" अर्थात्, "इन्द्रशत्रु तुम वर्धित होओ।" ऐसा मन्त्र उच्चारणकर यज्ञमें आहुति प्रदान करने लगे। स्वर तीन प्रकारके होते हैं—'उदात्त', अर्थात् उच्च स्वर, 'अनुदात्त' निम्न स्वर और 'स्वरित' अर्थात् मध्यम स्वर। "इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व" यह शब्द उच्चारण करनेके समय यदि 'इन्द्र' शब्द अनुदात्त है झटकेसे इसका उच्चारण

हो जाए, और 'शत्रु' शब्द उदात्त अर्थात् दीर्घ रूपमें इसका उच्चारण हो जाए, तो उससे जो सन्तान होगा वह इन्द्रकी हत्या करेगा। किन्तु दैववश त्वष्टा ऋषिने 'इन्द्र' शब्दका उदात्त और 'शत्रु' शब्दका अनुदात्त उच्चारण किया। इसलिए मन्त्रका अर्थ उलट गया "इन्द्र जिसको मारेंगे ऐसी सन्तान लाभ हो।" अतः उस यज्ञसे वृत्रासुरका जन्म हुआ और इन्द्रने उसकी हत्या की। थोड़ी-सी त्रुटि होनेपर—थोड़े-से स्वरके उच्चारणमें त्रुटि हो जानेसे त्वष्टा ऋषिके यज्ञका फल इष्टदायक न होकर अनिष्टदायक हुआ तथा सम्पूर्ण विपरीत हुआ, इन्द्रने ही वृत्रासुरका वध किया।

किन्तु भक्तिमार्गमें "मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे उभयोस्तु समं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः।" जिस प्रकार पिता अपने शिशु सन्तानकी अधबोली सुनकर प्रसन्न होता है, बुद्धिमान सन्तानकी शुद्ध बोलीकी अपेक्षा भी शिशु सन्तानकी अशुद्ध बातोंको सुनकर पिताको प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार भक्तिमें भक्त यदि भगवान्‌की स्तवस्तुति करनेके समय अशुद्ध उच्चारण करता है, भावग्राही जनार्दन उसके आन्तरिक भावोंको समझकर प्रसन्न हुआ करते हैं। किन्तु कर्ममय यज्ञमें ऐसा नहीं होता। त्वष्टा ऋषिके थोड़े-से उच्चारणकी त्रुटिसे फल विपरीत हो गया। इसलिए कर्मयोगसे भक्तियोगका महान वैशिष्ट्य है।

इस प्रकार कर्मयोग या याग-यज्ञ इत्यादि निर्भूल और पवित्र अनुष्ठानके अधीन है। इसी प्रकार ज्ञानयोग भी अन्तःकरण शुद्धिके एकान्त अधीन है, शास्त्रोंका ऐसा अभिमत है। अन्तःकरण अशुद्ध रहनेसे ज्ञानकी साधना सफल नहीं होती। इसलिए निष्काम कर्मयोगके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिसम्पन्न होनेपर ही ज्ञानयोगमें प्रवेशका अधिकार होता है। अतः ज्ञानयोग भी कर्मके अधीन है। गीता (३/१९) में स्वयं श्रीकृष्णने कहा है—

तस्मादासक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥

अर्थात् "हे अर्जुन! तुम अनासक्त होकर अर्थात् फलकी आकांक्षासे रहित होकर सदैव कर्त्तव्य कर्मोंका आचरण करो। क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है और चित्तकी शुद्धि होनेपर ही ज्ञानका अधिकारी हुआ जाता है। तत्पश्चात् मोक्षकी प्राप्ति होती है।" तात्पर्य यह है कि कर्म, ज्ञानादिके अनुष्ठानोंमें थोड़ी-सी त्रुटि और दुराचार आनेपर साधकोंके लोक-परलोक बिगड़ जाते हैं, यहाँ तक कि उनका सर्वनाश हो जाता है। किन्तु भक्तिमार्गमें काम, क्रोध, दुराचार आदि दोषोंके हृदयमें रहते हुए भी पराभक्ति अर्थात् सर्वगुणातीत भक्ति हृदयमें प्रवेश करते ही, उसकी कृपासे काम, क्रोध, दुराचारादि सब प्रकारके दोष दूर हो जाते हैं। परन्तु साधकोंको दुराचार आदिसे बचनेके लिए सदा सचेष्ट रहना चाहिए; भक्ति भी करता रहे तथा दुराचार भी, यह सर्वथा अनुपयुक्त है। ऐसा करनेसे भक्ति देवी अन्तर्हित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि साधकभक्तोंके जीवनमें पूर्वजन्मकी दुष्कृति अथवा संस्कारवश दुराचार लक्षित होनेपर भी उसकी निन्दा नहीं सुनी जाती, क्योंकि निष्कपट भक्तिसाधकोंके हृदयमें भक्तिदेवी प्रकट होकर भक्तोंके चित्तको—अन्तःकरणको शीघ्र ही शुद्ध कर देती हैं। किन्तु ज्ञानीसाधकोंके लिए किसी प्रकारके दुराचारका लेशमात्र भी साधुसम्मत नहीं है। जैसे कंस, हिरण्यकशिपु, रावण आदि बड़े ही ज्ञानी थे, फिर भी उनके दुराचारके कारण सर्वत्र ही उनकी निन्दा सुनी जाती है। उन्हें दैत्य-दानव कहा जाता है।

भक्ति द्वारा हृद्रोग कामका विनाश

भक्तेस्तु "विक्रीड़ितं व्रजवधूभिः" इत्यादौ—

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं।
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/३९)

इत्यत्र "क्त्वा" प्रत्ययेन हृद्रोगवत्येवाधिकारिणि परमाया अपि तस्याः प्रथममेव प्रवेशस्ततस्तयैव परमस्वतन्त्रया कामादीनामपगमश्च। तेषां कदाचित् सत्त्वेऽपि "अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम्" इति "बाध्यमानोऽपि मद्भक्त" इत्यादिभ्यश्च तद्वतां न क्वापि शास्त्रेषु निन्दालेशोऽपि। अजामिलस्य

भक्तत्वं विष्णुदूतैर्निरूपितम्। 'सङ्केतभगवन्नाम पुत्रस्नेहानुषङ्गजम्' इत्यादिदृष्ट्या तदाभासवतामप्यजामिलादीनां भक्तत्वं सर्वैः सङ्गीतमेव। तदेवं कर्मयोगादीनामन्तःकरणशुद्धिद्रव्यदेशशुद्ध्यादयः साधकास्तद्वैगुण्यादयो बाधका भक्तिस्तु प्राणदायिन्येवेति। सर्वथा पारतन्त्र्यमेव तेषाम्। नहि स्वतन्त्राः केनापि साध्यन्ते बाध्यन्ते वेति।

भावानुवाद—भक्तिमार्गमें कामादि दोषोंके रहते हुए भी प्रवेशाधिकार देखा जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है "विक्रीड़ितं व्रजवधूभिः" अर्थात् सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजवधुओंके साथ इस रास-लीलाका जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक निरन्तर श्रवण और कीर्त्तन करता है, वह भगवान् श्रीकृष्णके प्रति पराभक्ति लाभकर शीघ्र ही धीर अर्थात् जितेन्द्रिय होकर हृद्रोग कामसे शीघ्र ही छुटकारा प्राप्त कर लेता है। इस श्लोकमें 'प्रतिलभ्य' भक्तिलाभकर यह असमापिका क्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि हृद्रोग अर्थात् कामादिके रहते हुए भी रासक्रीड़ा श्रवण या कीर्त्तन करनेका अधिकार है। तत्पश्चात् परम स्वतन्त्र भक्तिके प्रभावसे कामादि हृद्रोग दूर होनेकी बात कही गई है। यद्यपि कदाचित् भजनसाधन करनेपर भी कामकी स्थिति रहती है तथापि "अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम्" अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी यदि मेरा भजन करता है, "बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः" मेरा भक्त कामादिके अधीन रहनेपर भी, इत्यादि शास्त्र वचनोंके अनुसार भक्तोंकी दुराचारिता रहनेपर भी, कहीं भी भक्तोंकी निन्दाका लेश भी नहीं सुना जाता। अजामिलका भक्तत्व विष्णुदूतोंने निरूपण किया है। पुत्रके स्नेहवश होकर पुत्रके नामके सङ्केतसे दुराचारी रहनेपर भी उसने नारायण नाम उच्चारण किया था। इस शास्त्रोक्त प्रमाणके अनुसार भगवन्नामका आभास होनेपर भी अजामिल आदिके भक्तित्वकी प्रशंसा ही सुनी जाती है।

इसलिए यह सिद्ध होता है कि अन्तःकरणशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, देशशुद्धि आदि कर्म-योगादिके साधक हैं और कोई त्रुटि या साधकके दोष—दुराचारादि कर्म-योगादिके बाधक हैं। फिर भी भक्तिके बिना कभी भी वे फल प्रदान नहीं कर सकते। भक्ति ही उनको प्राण

देनेवाली है। इस तरह कर्म–योग–ज्ञानादि हर प्रकारसे भक्तिके परतन्त्र हैं। जो स्वतन्त्र वस्तुएँ होती हैं, वे न तो किसीसे साधित होती हैं, और न किसीसे बाधित होती हैं।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—कर्म, योग, ज्ञानके साधक या अधिकारी जहाँ कामादि दोष या दुराचारोंके आ जानेसे हर प्रकारसे निन्दित होकर सर्वनाशको प्राप्त करते है, वहाँ भक्तिमार्गमें यह कभी भी सम्भव नहीं है, बल्कि भक्तिमार्गमें कामादि दोषोंके रहते हुए भी मनुष्य भक्तिका अधिकारी है। भक्तिके अङ्गोंका पालन करते ही उनके हृदयमें परम स्वतन्त्र भक्तिदेवी आविर्भूत होती हैं और अत्यन्त शीघ्र ही समस्त दोषोंको दूर कर देती हैं।

श्रील ग्रन्थकार महोदय शास्त्रोंके प्रमाणसे इसी तत्त्वका यहाँ प्रतिपादन कर रहे हैं। भक्तिके उदयमें सर्वप्रथम अङ्ग है—श्रद्धा और तत्पश्चात् रति। श्रद्धा या रति महत्पुरुषोंके मुखसे भगवान्की लीलाकथाओंको श्रवण करनेसे हृदयमें उदित होती है। भगवान्की समस्त रसमयी लीलाओंका सार है रासलीला। उस दिव्यतम रासलीलाके वर्णनके बाद उसकी फलश्रुति अर्थात् उस लीलाके श्रवण और वर्णन करनेके फलको बताते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा है—

विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/४०)

जैसे पूर्वमें कहा जा चुका है, इस श्लोकका भावार्थ यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजगोपियोंके साथ रासलीलाका निरन्तर श्रद्धायुक्त होकर श्रवण, कीर्त्तन करनेसे पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और शीघ्र ही हृद्रोग कामादि विकार दूर हो जाते हैं। इस श्लोकमें “भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य” अर्थात् “श्रीभगवान् श्रीकृष्णमें पराभक्ति लाभकर”

इस प्रकार असमापिका क्रियाके बाद "कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोति" अर्थात् "हृद्रोग—कामको शीघ्र ही परित्याग किया करता है।" यहाँ इस श्लोकमें समापिका क्रियाके प्रयोग होनेसे कामके रहते हुए भी पराभक्ति या प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्तिके बाद—तत्पश्चात् परम स्वतन्त्र प्रबला भक्तिके प्रभावसे हृद्रोग अर्थात् काम या कामना नाशकी बात जानी जाती है। इस श्लोककी वैष्णवतोषणी टीकामें लिखा गया है—"अत्र तु हृद्रोगापहानात् पूर्वमेव परमभक्तिप्राप्तिः, तस्मात् परमबलवदेवेदं साधनमिति भावः।" अर्थात् साधनाके द्वारा पहले हृद्रोग या कामना-वासनाका नाश और तत्पश्चात् साध्य वस्तुकी प्राप्ति होती है, यही सर्वत्र नियम है; किन्तु यहाँ हृद्रोग या कामके रहनेपर भी पराभक्ति प्राप्तिकी बात कही गई है। इससे रासलीला श्रवण-कीर्त्तनादि पराभक्ति प्राप्तिका अतिशय बलवान साधन है, यह इसके द्वारा सूचित किया गया है। यहाँ पराभक्तिसे गोपीप्रेम जैसे सर्वोत्तम प्रेमलक्षण भक्तिको ही समझना चाहिए।

हृद्रोग अर्थात् हृदयमें कामके रहने की तो बात ही अलग रहे, अत्यन्त दुराचारी व्यक्तिकी भी, जो अनन्य रूपसे भजन करता है, उसके भजनकी और भक्तिपथमें उसकी कोई भी निन्दा नहीं सुनी जाती। श्रीगीताके वचनोंसे यह प्रमाणित है—

अपि चेत् सुदुराचरो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥
(श्रीगी. ९/३०)

अर्थात् स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन! जो अनन्य चित्तसे मेरा भजन करते हैं, वे यदि अत्यन्त दुराचारी भी होते हैं, तो भी उन्हें साधु ही मानना चाहिए। क्योंकि उनका अध्यवसाय अत्यन्त साधु है। जो व्यक्ति मुझे छोड़कर किसी और देवी-देवताका भजन नहीं करता, मेरी भक्तिको छोड़कर ज्ञान-कर्म-योगादिका अनुष्ठान नहीं करता, मेरी तृप्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, ऐसा व्यक्ति यदि परहिंसा, परदार-परद्रव्यादि ग्रहणरूप दुराचारपरायण भी है, तो उसे साधु या भक्त ही मानना चाहिए, यही मेरी आज्ञा

है। ऐसा अनन्य भजनपरायण होनेपर इन दुराचारोंका रहना यद्यपि नितान्त असम्भव है, फिर भी कदाचित् यदि ऐसा देखा भी जाए तो भी उसे साधु ही मानना चाहिए। इस श्लोककी सारार्थवर्षिणी टीकामें ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने जो लिखा है उसका भावार्थ यह है कि भक्तोंके प्रति भगवान्की आसक्ति अत्यन्त स्वाभाविक है। इसलिए भक्त यदि दुराचारी भी होता है, फिर भी उसकी भक्ति कभी नष्ट नहीं होती। भगवान् उसे अत्यन्त उत्तम कर देते हैं। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए ही इस श्लोककी अवतारणा हुई है।

जो लोग अन्य देवताओंकी उपासना नहीं करते, भक्ति व्यतीत कर्म, ज्ञान इत्यादिका आश्रय ग्रहण नहीं करते एवं श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके अतिरिक्त और कोई वासना जिनके हृदयमें नहीं है, वे अनन्य भक्त हैं। ऐसा भक्त यदि पूर्वजन्मकी दुष्कृतिवशतः परहिंसा, परदार, परद्रव्य इत्यादि ग्रहण परायण भी हों, तो उनको साधु ही समझना चाहिए। "मन्तव्यः" पद यहाँपर विधिवाक्य है। अर्थात् भगवान्की आज्ञा है, उसे नहीं माननेसे पाप लगना अवश्यम्भावी है। विशेषतः उसे नहीं माननेसे भगवान्की श्रीमुखवाणीको भी लंघन करना होगा। अतः ऐसे दुराचारीका साधुत्व कैसे सम्भव है? इस प्रकार तनिक भी सन्देह करनेका अवकाश नहीं है।

यहाँपर किसी-किसीका मत है कि जो व्यक्ति जितने अंशमें भगवान्का भजन कर रहे हैं, उतने अंशमें वे साधु हैं और जितने अंशमें दुराचार करते हैं, उतने अंशमें वे असाधु कहे जाएँगे? इसके उत्तरमें कहते हैं 'साधुरेव' अर्थात् 'एव' कारके द्वारा किसी भी अंशमें उसे असाधु नहीं समझना होगा। सर्वांशमें ही उसे साधु ही मानना होगा। और भी एक कारण भगवान् उसके साधु माननेका प्रस्तुत करते हैं कि वह मेरी भक्तिमें सम्यक् प्रकारसे निश्चित बुद्धिवाला है अर्थात् उसने यह निश्चय कर लिया है कि अपने दुस्त्यज्य पापोंके कारण उसे नरकमें जाना पड़ेगा, तो भी वह ऐकान्तिक भक्ति कृष्ण भजनको किसी प्रकार त्याग नहीं करेगा। तात्पर्य यह है कि गीताके इस श्लोकमें अनन्य भक्तिकी महिमाका वर्णन किया गया है।

दुराचारको छूट नहीं दी गयी है। भक्तोंके हृदयमें ऐसे दुराचारकी वासना कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिए श्लोकके प्रारम्भमें 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है। यदि कोई पूर्वजन्मके बुरे संस्कारवशतः या किसी प्रबल असत्सङ्ग वशतः साधक जीवनमें दैवात् ऐसी सुदुराचारिता हो भी जाए तो स्वतन्त्र एवं प्रबला भक्तिदेवी शीघ्र ही उसके हृदयसे उस दुर्भावनाको दूर कर देती है, पश्चात्तापकी आगसे साधकोंका हृदय तप्त होकर शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है। इसीलिए इसके बादवाले श्लोकमें श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(श्रीगी. ९/३१)

"हे अर्जुन! वह भजननिष्ठ व्यक्ति अत्यन्त शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है और उसका कभी भी विनाश नहीं होता। अतएव तुम प्रतिज्ञा पूर्वक कह सकते हो कि मेरे भक्तोंका कभी भी विनाश नहीं होता।" जो लोग गीताके इन वचनोंके पूर्वापरका विचार न कर या उनका मर्मार्थ अथवा तात्पर्य न समझकर "अपि चेत् सुदुराचारो" श्लोकको देखकर भजन करनेके साथ-साथ ही बुद्धिपूर्वक दुराचार करते हैं और उसके लिए अनुतप्त नहीं होते, उनमें साधुत्वका लेश भी नहीं है, अधिकन्तु नामके बलपर पापाचरणकी प्रवृत्तिके कारण भयङ्कर अपराध ही होता है, ऐसा ही समझना चाहिए। दुराचार इत्यादिको छोड़कर निरन्तर अनुताप और प्रबल दुःख भोगके साथ निरन्तर नामसंकीर्त्तनके द्वारा श्रीनाम प्रसन्न होनेपर ही वे साधुत्वको पुनः पा सकते हैं, अन्यथा नहीं। प्रसङ्गवशतः इसको भी समझ लेना चाहिए।

ज्ञानमार्गमें ज्ञानीका तनिक भी दुराचारित्व रहनेसे ज्ञानीकी निन्दा सुनी जाती है। उसी प्रकार उसका ज्ञानीत्व भी निषिद्ध हुआ करता है। यथा श्रीमद्भागवतमें "यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः। ज्ञानवैराग्य-रहितस्त्रिदण्डमुपजीवति॥" (श्रीमद्भा. ११/१८/४०) अर्थात् ज्ञानमार्गका आश्रय करनेवाले जिस संन्यासीका मन और इन्द्रियाँ असंयत रहती

हैं, ज्ञान-वैराग्य रहित प्रबल इन्द्रियाँ सारथिरूप बुद्धिके द्वारा परिचालित होकर वह केवल जीविका निर्वाहके लिए ही दण्ड धारणका अभिनय किया करता है। परन्तु पक्षान्तरमें भक्त दुराचारी होनेपर भी उसकी निन्दा नहीं सुनी जाती। उसी प्रकार उसका भक्तत्व भी निषिद्ध नहीं होता, ग्रन्थकार उसीका प्रतिपादन कर रहे हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/१८)

श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"हे उद्धव! मेरे जो भक्त सब प्रकारसे इन्द्रियोंको वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हैं, वे भी मेरी प्रबला भक्तिके प्रभावसे विषयोंके द्वारा वशीभूत नहीं होते।" प्रबला भक्तिकी तो बात दूर रहे, दुराचारीमें भक्तिका आभास होनेपर भी उनका भक्तत्व निषिद्ध नहीं होता। उदाहरणस्वरूप दुराचार रहनेपर भी विष्णुदूतोंके द्वारा अजामिलके भक्तत्वका निरूपण हुआ था। पुत्रस्नेहके वशीभूत होकर, पुत्रका नाम नारायण होनेके कारण अजामिलने सङ्केतके द्वारा भगवन्नाम किया था। शास्त्रोंके इन प्रमाणोंके द्वारा भगवन्नामके आभासमात्रसे दुराचारी अजामिलके भक्तत्वकी बात प्रसिद्ध है।

इस प्रकार यहाँ यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि कर्म-ज्ञान-योगादि साधनमें कोई-कोई विषय उसका साधक है और कोई-कोई विषय बाधक है। जिस प्रकार चित्तशुद्धि आदि उनके लिए साधक हैं और काम विकार आदि बाधक हैं। जिस साधनमें कोई साधक या बाधक विषय रहता है, उसको कभी भी स्वतन्त्र साधन नहीं कहा जा सकता। परन्तु स्वतन्त्र और प्रबला भक्तिके साधनमें चित्तशुद्धि इत्यादिकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अशुद्ध चित्त रहनेपर भी श्रवण-कीर्त्तनादि हुआ करता है और कामादि भी भक्तिसाधनमें बाधक नहीं है। क्योंकि कामके रहते हुए भी श्रवण-कीर्त्तनादि भजन क्रियाएँ होती हैं। अतएव भक्तिसाधना परम स्वतन्त्र है। इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है। जो परम स्वतन्त्र हैं, वे कभी भी किसी विषयके द्वारा बाध्य या साध्य नहीं हैं।

मोक्षकी अपेक्षा भक्तिका श्रेष्ठत्व

किञ्च ज्ञानैकसाधनमात्रत्वं भक्तेरित्यज्ञैरेवोच्यते यतो ज्ञान–साध्यान्मोक्षादपि तस्याः परमोत्कर्ष एवालोच्यते। "मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" (श्रीमद्भा. ५/६/१८) इति।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभो प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥
(श्रीमद्भा. ६/१४/५)

इत्यादिभ्यः।

भावानुवाद—कोई अज्ञव्यक्ति ही कहते हैं कि एकमात्र ज्ञान ही भक्तिका साधक है। परन्तु ज्ञानका साध्य जो मुक्ति है, उससे भी भक्तिका परमोत्कर्ष शास्त्रोंमें निर्णय किया गया है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है कि "श्रीहरि भले ही मुक्ति दे दें, परन्तु भक्तियोग कभी भी प्रदान नहीं करते।" और भी कहा गया है कि "हे महामुने! करोड़ों-करोड़ों सिद्ध मुक्त व्यक्तियोंमें भी श्रीनारायणके सेवापरायण प्रशान्त-चित्त एक भक्तका मिलना भी बड़ा ही दुर्लभ है।" इस प्रकारके अनेक वचन शास्त्रोंमें मिलते हैं, जिनसे ज्ञानसे भक्तिका उत्कर्ष अथवा ज्ञानके परम फल मुक्तिसे भी भक्तिका परम उत्कर्ष प्रतिपादित होता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती महोदयने इससे पूर्व कर्म, ज्ञान, योगादिके साधनमें कोई-कोई विशेष साधक और कोई-कोई विशेष बाधक होनेके कारण इनकी परतन्त्रता और भक्तिसाधनमें साधक और बाधक विषयोंका अभाव होनेके कारण इसकी परम स्वतन्त्रताका वर्णन किया है। कोई-कोई अज्ञव्यक्ति शास्त्रोंका यथार्थ मर्म उपलब्ध न कर सकनेके कारण ज्ञानको भक्तिका साधक बतलाता है। श्रील ग्रन्थकार शास्त्रोंके प्रमाणसे इन अज्ञ व्यक्तियोंके सिद्धान्तका खण्डनकर भक्तिका परम उत्कर्ष स्थापन कर रहे हैं।

कुछ लोग ज्ञानको भक्तिका साधक कहते हैं। उनके मतानुसार आत्मतत्त्व और परतत्त्व आदिके ज्ञानके बिना वस्तुतः भक्तिमें प्रवृत्ति

सम्भव ही नहीं है, क्योंकि भक्तिके साधनमें भले ही दूसरी साधनाओंकी आवश्यकता नहीं होनेपर भी ज्ञानको भक्तिका साधक माननेके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है। श्रील ग्रन्थकार उनको अज्ञ मानकर उनके विचारोंका खण्डन कर रहे हैं तथा भक्तिकी स्वतन्त्रताका प्रतिपादन कर रहे हैं।

यहाँ ज्ञानके सम्बन्धमें कुछ विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। 'ज्ञान' शब्दसे ज्ञानके तीन अङ्ग समझे जाते हैं—(क) 'तत्पदार्थ' अर्थात् परब्रह्म या भगवत्-तत्त्वका ज्ञान, (ख) 'त्वं पदार्थ' अर्थात् जीवके स्वरूपका ज्ञान, और (ग) परब्रह्म और जीवके परस्पर सम्बन्धका ज्ञान।

(क) तत्पदार्थ विषयक ज्ञान—परतत्त्व स्वरूप भजनीय श्रीकृष्ण विषयक ज्ञान। परब्रह्म श्रीकृष्णका साकारत्व या सविग्रहत्व, सच्चिदानन्दमयत्व, इनकी स्वयं भगवत्ता, नराकृति परब्रह्मत्व, अखिल-रसामृतमूर्त्तित्व, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, रूप, गुण, लीला, कारुण्य, भक्तवात्सल्यादि गुण, इनका धाम, इनके परिकर, इनकी स्वरूपशक्ति, तथा मायाशक्ति विषयक ज्ञानको तत्पदार्थ विषयक ज्ञान कहते हैं।

(ख) त्वंपदार्थ विषयक ज्ञान—जीव विषयक ज्ञान। जीवके चित्कणत्व, स्वरूपत्व, उनके तटस्थ शक्तित्व, विभिन्नांशत्व, श्रीकृष्णके नित्यदासत्व, उनका अणुस्वातन्त्रादिके ज्ञानको त्वं पदार्थ विषयक ज्ञान कहते हैं।

(ग) दोनोंका परस्पर सम्बन्ध-ज्ञान—परतत्त्वरूप श्रीकृष्ण प्रभु हैं और जीव इनका नित्य दास है, श्रीकृष्ण विभु हैं और जीव अणु, श्रीकृष्ण मायाधीश हैं और जीव मायावशयोग्य है। श्रीकृष्णपादपद्मोंकी विस्मृति ही जीवोंके मायाबन्धन अथवा अशेष दुःखका कारण है, श्रीकृष्णभजन ही मायामुक्ति और परमानन्द प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। इस ज्ञानको दोनोंके बीच परस्पर सम्बन्धज्ञान कहते हैं।

कोई-कोई ब्रह्म और जीवके ऐक्यविषय ज्ञानकी बातें कहते हैं। वे परब्रह्मकी शक्ति या साकार, सविशेष रूपको स्वीकार नहीं करते। उनके विचारसे ब्रह्म निर्विशेष और निराकार हैं तथा जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। ब्रह्मसायुज्य मुक्ति जीवोंके लिए चरम साध्य है।

ये लोग क्षुद्र जीवोंको ब्रह्म, सविशेष परब्रह्म श्रीकृष्ण-रामादिको मायोपाधी (माया-उपाधि-ग्रस्त) माननेके कारण भगवान्‌का अपराधी हैं। जीव और ब्रह्मका ऐक्यविषयक ज्ञान भक्तिका विरोधी है, अतएव सर्वथा परित्यज्य है।

सत्सङ्ग भक्तिसाधनका एक मुख्य अङ्ग है। किसी परम स्वतन्त्र महत्पुरुषकी कृपासे साधुसङ्गमें उनके मुखसे निरन्तर विगलित भगवतीकथा श्रवण करनेसे भक्तिसाधकोंके हृदयमें अपने आप ही उल्लिखित तीनों प्रकारके ज्ञानोंका उन्मेष हुआ करता है। यदि पृथक् रूपमें उस ज्ञानको प्राप्त न करनेपर सत्सङ्गादि भजनमें प्रवृत्ति असम्भव होती, तभी ज्ञानको भक्तिका साधक कहा जा सकता था। कभी-कभी किसी-किसी क्षेत्रमें ऐसे ज्ञानका भक्तिमें प्रवेशके समय प्रारम्भ कालमें कुछ उपकारकी योग्यता होनेपर भी उसे भक्ति या भजनका अङ्ग न होनेके कारण उसे भक्तिका साधक भी नहीं कहा जा सकता। श्रील रूपगोस्वामीने लिखा है—

ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता ।
ईषत् प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः॥
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते।
सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता॥
(भ. र. सि. १/२/२४८-२४९)

अर्थात् ज्ञान और वैराग्य भक्तिमार्गके अविरोधी होनेपर, अर्थात् भक्तिके अनुकूल होनेपर, भक्तिमार्गमें प्रवेशके लिए उनकी कुछ उपयोगिता स्वीकृत है। भक्तिमें प्रवेश हो जानेके बाद उनकी और आवश्यकता नहीं होती, अतएव ज्ञान और वैराग्य भक्तिके कदापि अङ्ग नहीं हैं। महत्पुरुषोंके विचारसे भक्तिमें प्रवेशके पश्चात् ज्ञान, वैराग्य रहनेसे चित्त कठोर हो जाता है, इसलिए सुकोमल स्वभाववाली भक्ति ही भक्तिमें प्रवेशके लिए हेतु या द्वारस्वरूप है। इसलिए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सम्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम्।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये
प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/३)

श्रीब्रह्मा श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं—हे अजित! जो लोग इस विश्वमें आपके स्वरूप, ऐश्वर्य, महात्मादि ज्ञानके लिए लेशमात्र भी प्रयास न कर, आपके भक्तोंके निकट रहकर उनके श्रीमुखसे स्वतः विगलित आपके नाम, गुण, रूप, लीलाकथाका तन, मन, वचनसे सेवन और श्रवण करते हुए प्राण धारण करते हैं, आप प्रायशः अजित वा त्रिभुवनमें किसीके द्वारा वशीभूत न होनेपर भी उन लोगोंके द्वारा वशीभूत हुआ करते हैं।

अतएव अज्ञ व्यक्ति ही ज्ञानको भक्तिका साधक कहा करते हैं, तत्त्वज्ञजन ऐसा नहीं कहते। क्योंकि अनेकानेक शास्त्रोंमें ज्ञानसाध्य मुक्तिकी अपेक्षा भी भक्तिका परम उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है। श्रील ग्रन्थकार श्रीमद्भागवतसे उसका दृष्टान्त दे रहे हैं—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥
(श्रीमद्भा. ५/६/१८)

"हे परीक्षित! भगवान् मुकुन्द स्वयं पाण्डवों और यदुवंशियोंके स्वामी, गुरु, इष्टदेव, सुहृद् और कुलपति अर्थात् पालक थे। वे कभी-कभी उनके आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे, परन्तु भगवान् ऐसे जनहितकारी होते हुए भी भजन करनेवालोंको मुक्ति दे देते हैं, किन्तु प्रेमभक्ति कभी किसीको नहीं देते।" इस श्लोककी सारार्थदर्शिनी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीने जो लिखा है, उसका मर्मार्थ यह है कि श्रीमद्भागवतके श्रवणकालमें महाराज परीक्षित अपने पुरुवंशमें भगवान्‌का कोई अवतार नहीं हैं—ऐसा जानकर मन-ही-मन खेद करने लगे, उस समय सर्वज्ञ श्रीशुकदेवगोस्वामीने यह जानकर

मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिका उत्कर्ष प्रतिपादनकर परीक्षित महाराजके खेदको दूरकर उनको आनन्द प्रदानके लिए इस श्लोककी अवतारणा की है। श्रीशुकदेव गोस्वामीका अभिप्राय यह है कि जिस कुलमें भगवान्‌का अवतार होता है, उस कुलकी अपेक्षा जिस कुलमें भक्तिका अवतार होता है, वही अधिक प्रसंशनीय है; क्योंकि भगवान् भक्तिके द्वारा ही वशीभूत होते हैं। पुरुवंशमें भगवान्‌का कोई अवतार नहीं है, यह सत्य है, किन्तु उसमें भक्तका अवतार हुआ है, यह निश्चित है। क्योंकि भगवान् यदुकुलकी भाँति पाण्डव वंशके भी पालक हैं, उनके उपदेष्टा, उपास्य, सुहृद्, नियन्ता यहाँ तक कि दूतका कार्य करते हुए, इनके दास भी हुए हैं। भक्ति व्यतीत और किसी भी उपायसे भगवान्‌को ऐसे वशीभूत होते हुए नहीं देखा जाता। वह भक्ति अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। भगवान् उपासकोंको भले ही मुक्ति दे दिया करते हैं (इसीलिए उनका नाम मुकुन्द है), किन्तु प्रेमभक्ति कदापि नहीं देते।

उल्लिखित श्लोकमें 'कर्हिचित्' शब्दका तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान् सब समय अर्थात् कभी भी प्रेमभक्ति दान नहीं करते, ऐसी बात नहीं है। जब तक प्रेमभक्ति प्राप्तिके लिए हृदयमें तीव्र आकांक्षा नहीं जग जाती, तब तक वे प्रेमभक्ति नहीं देते। अर्थात् भक्त भजन कर रहा है, यह ठीक है, किन्तु उनके हृदयमें यदि कृष्ण सेवाके अतिरिक्त अन्य दूसरी कामनाएँ भी रहती हैं अथवा उनका गन्ध भी रहता है, तो भगवान् उनको प्रेम दान नहीं करते हैं। इसलिए श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृत (आ. ८/१८) में लिखा है—"कृष्ण यदि छुटे भक्ते भुक्ति मुक्ति दिया। कभु भक्ति ना देन राखेन लुकाइया॥" यदि भजनशील भक्तोंके हृदयमें भुक्ति और मुक्तिकी वासना रहती है, तब श्रीकृष्ण उनको प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते। ऐसे लोगोंके निकट वे भक्तिको छिपाकर रखते हैं। स्नेहमयी जननी जिस प्रकार अपनी रोगी सन्तानके निकट रसगुल्ला, खीर इत्यादि छिपा कर रखती है। स्वस्थ्य होनेपर ही उस सन्तानको उन वस्तुओंको देती है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार भगवान् भी वैसे अयोग्य भक्तोंके निकट भक्तिको छिपा कर रखते हैं। श्रीकृष्ण अपने

भक्तोंको प्रेमभक्ति दान करना ही नहीं चाहते, ऐसी बात नहीं है। इसलिए श्रीचैतन्यचरितामृत (म. २२/३७) में दूसरी जगह ऐसा भी देखा जाता है—"अन्यकामी यदि करे कृष्णेर भजन। ना मागिलेह कृष्ण तारे देन स्व-चरण॥" अर्थात् अन्य कामनाओंको रखनेवाले भी यदि कृष्णका भजन करते हैं, तो उनके नहीं माँगनेपर भी श्रीकृष्ण अपने श्रीचरणोंकी सेवा उन्हें प्रदान करते हैं।

कोई-कोई ऐसा समझ सकते हैं कि यदि श्रीकृष्ण भक्तको भुक्ति-मुक्ति देकर छुटकारा पा लेते हैं, तब कभी भी प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते, क्योंकि श्रीकृष्ण प्रेमभक्तिके वशीभूत हो जाते हैं। उनके मतानुसार भक्तवश्यता श्रीकृष्णके लिए कष्टकर है। किन्तु प्रेमभक्ति श्रीकृष्णकी ह्लादिनीशक्तिकी वृत्ति होनेसे, श्रीकृष्ण स्वयं अपने स्वरूप-आनन्दकी अपेक्षा भी उससे परमानन्द प्राप्त करते हैं। इसलिए भक्तवश्यता श्रीकृष्णके लिए परम सुखकर होनेपर उनके लिए सदैव आकांक्षनीय है। वह श्रीकृष्णके लिए कभी भी कष्टकर या त्याग करने योग्य नहीं है—यह भक्ति शास्त्रोंका सिद्धान्त है।

जैसे भी हो जिस ज्ञानसाध्य मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिका इतना श्रेष्ठत्व है, वह ज्ञान क्या भक्तिका साधक हो सकता है? श्रीपाद ग्रन्थकार ज्ञानके लिए भक्तिकी साधकताका खण्डनकर ज्ञानसाध्य मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिके श्रेष्ठत्वका प्रतिपादनकर अब यहाँ मुक्तपुरुषकी अपेक्षा भगवद्भक्तके विपुल श्रेष्ठत्वका प्रतिपादन कर रहे हैं। महाराज परीक्षित श्रीपाद शुकदेव मुनिसे कह रहे हैं—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्ल्लभ प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुनेः॥
(श्रीमद्भा. ६/१४/५)

"हे महामुने! जो लोग जीवन्मुक्त हैं और ब्रह्मसायुज्य मुक्तिके निकट पहुँच गए हैं, ऐसे कोटि-कोटि व्यक्तियोंमें भी नारायणपरायण प्रशान्त चित्त एक भगवान् नारायणका भजन करनेवाला व्यक्ति सुदुर्लभ अथवा विरल है।" इस श्लोककी टीकामें श्रील जीवगोस्वामीजीने लिखा है—"मुक्तानां प्राकृतशरीरस्थत्वेऽपि तदभिमानशून्यानाम्। सिद्धानां

प्राप्तसालोक्यादीनाञ्च कोटिष्वपि मध्ये नारायणसेवामात्राकांक्षी सुदुर्ल्लभः। प्रशान्तात्मा सर्वोपद्रवरहितः॥" अर्थात् जो प्राकृत देहमें अवस्थित होकर भी उस देहके अभिमानसे रहित है, ऐसे मुक्तजनको जीवन्मुक्त पुरुष समझना चाहिए। ऐसी दशा प्राप्त होनेवाले जीवन्मुक्त पुरुषको भी ब्रह्मसायुज्य मुक्तिके लिए प्रारब्धनाश पर्यन्त प्रतीक्षा करनी पड़ती है। केवल ब्रह्मज्ञानसे ज्ञानीके प्रारब्धका खण्डन नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानका साधन आत्मा-अनात्मा विषयक विवेक है। इस विवेकके फलसे चित्त शुद्ध होनेपर जीव-तादात्म्यसे अभेद ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। इसमें परतत्त्वके किसी विशेष गुणका ज्ञान तो रहता है, परन्तु क्रियादिरूप उपासना नहीं है। अतः साधक देहमें साधकको आश्रयकर परतत्त्वकी ऐसी किसी शक्तिका उदय नहीं होता, जिसके फलस्वरूप भगवान्‌की शक्तिके द्वारा प्रारब्धका खण्डन हो सके। इसलिए ब्रह्मज्ञान लाभ होनेपर भी साधकके सञ्चित राशि-राशि बीज, कूटादि अनन्त कर्मफल नाश होनेपर भी वर्त्तमान देहके आरम्भक उस प्रारब्धके नाश होने तक उनको सायुज्य मुक्तिके लिए प्रतीक्षा करती पड़ती है, उसीको जीवन्मुक्त कहा जाता है। शरीर रहनेपर भी उस मुक्तपुरुषका शरीरके लिए कोई अभिमान नहीं रहता।

'सिद्धानां' कहनेसे जो लोग मुक्तिके निकट पहुँच चुके हैं, ऐसा समझना चाहिए। ऐसे कोटि-कोटि जीवन्मुक्त और सिद्ध पुरुषोंकी अपेक्षा एक नारायणका भक्त अथवा श्रीनारायणकी सेवा व्यतीत और किसी प्रकारकी कामनाओंसे रहित भक्त अत्यन्त दुर्लभ या विरल है, क्योंकि वह प्रशान्तात्मा है अथवा सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जीवन्मुक्त या सिद्ध पुरुषोंके लिए भी क्या उपद्रव रह सकते हैं? शास्त्रमें कहा गया है अचिन्त्य महाशक्तिशाली भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपराध होनेपर जीवन्मुक्त महापुरुष भी संसार दशाको प्राप्त हो जाते हैं। "जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः। यदचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥" इसलिए श्रीरूप-शिक्षामें श्रीमन्महाप्रभुने कहा है—"कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'। भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'॥" (चै. च. म. १९/१४९) इसलिए ज्ञानसिद्ध पुरुषोंसे भगवद्भक्तोंकी प्रचुर श्रेष्ठता है। भक्तिका

तनिक भी आस्वादन प्राप्त होनेपर ब्रह्मानन्दी पुरुष भी ज्ञानपथको छोड़कर हरिभजन किया करते हैं। "ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस। ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्मवश॥" जिन लोगोंको भक्तिका लेशमात्र भी आस्वादन नहीं हुआ है, उन्हींके निकट ब्रह्मानन्द अधिक सुखके रूपमें प्रतीत होता है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा. १/७/१०)

अर्थात् ब्रह्मानन्दमें मग्न और ब्रह्मचिन्तामें निरत मुनिगण क्रोध, अहङ्कारसे मुक्त होकर भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं, क्योंकि भगवान्‌के गुण ऐसे मधुर हैं कि सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

ललितमाधव-नाटकमें भी लिखा गया है—

ऋद्धा-सिद्धिव्रजविजयिता सत्यधर्मा समाधि-
र्ब्रह्मानन्दो गुरुरपि चमत्कारयत्येव तावत्।
यावत् प्रेम्णा मधुरिपुवशीकारसिद्धौषधीनां
गन्धोऽप्यन्तःकरणसरणीपान्थतां न प्रयाति॥
(ललितमाधव-नाटक ५/६)

अर्थात् श्रीकृष्णको वशीभूत करनेमें प्रेम एक सिद्ध महौषधि स्वरूप है। ऐसे प्रेमका लेशमात्र जब तक अन्तःकरणमें नहीं होता, तभी तक समृद्धिशालिनी अणिमादि सिद्धियाँ उत्कृष्ट जान पड़ती हैं, तभी तक सत्यादि धर्मोंके साधनका फल समाधि, यहाँ तक कि गुरुतर ब्रह्मानन्द अन्तःकरणमें चमत्कारिता पैदा कर सकता है। इसलिए मुक्तपुरुषोंकी अपेक्षा भक्तोंकी श्रेष्ठता करोड़ों गुना अधिक प्रतिपादित हुई है। श्रीरूप-शिक्षामें श्रीमन्महाप्रभुने श्रेष्ठत्वका एक क्रम प्रदान किया है—

एइत ब्रह्माण्ड भरि' अनन्त जीवगण।
चौराशी-लक्ष योनीते करये भ्रमण॥

★ ★ ★

तारे मध्ये 'स्थावर' 'जङ्गम'—दुइ भेद।
जङ्गमे तिर्यक्-जल-स्थलचर-विभेद॥
तार मध्ये मनुष्य-जाति अति अल्पतर।
तार मध्ये म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध, शबर॥
वेदनिष्ठ-मध्ये अर्द्धेक वेद 'मुखे' माने।
वेदनिषिद्ध पाप करे, धर्म नाहि गणे॥
धर्माचारि-मध्ये बहुत 'कर्मनिष्ठ'।
कोटिकर्मनिष्ठ-मध्ये एक 'ज्ञानी' श्रेष्ठ॥
कोटिज्ञानि-मध्ये हय एकजन 'मुक्त'।
कोटिमुक्त-मध्ये 'दुर्ल्लभ' एक कृष्णभक्त॥

(चै. च. म. १९/१३८, १४४-१४८)

अर्थात् यह ब्रह्माण्ड अनन्त कोटि जीवोंसे भरा है। उसमें जीव दो प्रकारके हैं—स्थावर (जो चल-फिर नहीं सकते, जैसे वृक्ष) और जङ्गम (जो चल-फिर सकते हैं, मनुष्य, पक्षी, पशु आदि)। ऐसी तिर्यक्—जलचर, स्थलचर आदि चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य जातिकी संख्या अति अल्प है। उस मनुष्य जातिमें भी म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध, शबर आदि ऐसी जातियाँ हैं, जो वेदोंको नहीं मानती हैं। बाकी जो वेदको मानते हैं, उनमें आधे तो ऐसे मनुष्य हैं, जो केवल मुखसे ही वेद-वेद कहते हैं, परन्तु वेद विधिके अनुसार वे धर्म-कर्मादिका अनुष्ठान कुछ भी नहीं करते, बल्कि वेदविरुद्ध पापाचरण करते हैं। बाकी लोगोंमें जो वेद-धर्मका आचरण करते हैं, उनमें भी बहुत लोगोंकी निष्ठा यज्ञ आदि कर्मोंमें होती है। ऐसे करोड़ों कर्मनिष्ठोंमें एक ज्ञानी दुर्लभ है। फिर करोड़ों ज्ञानियोंमें भी कोई एक विरला व्यक्ति ही देहादि अभिमानशून्य सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है। ऐसे कोटि मुक्त व्यक्तियोंमें कोई एक विरला ही कृष्णभक्त हुआ करता है। कोटि-कोटि कृष्णभक्तोंमें वास्तविक कृष्णभक्त कोई एक विरला ही होता है, जो प्रशान्त चित्त होता है अर्थात् श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णसेवाके अतिरिक्त अन्य सभी कामनाओंको छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता, उसे ही कृष्णसेवापरायण प्रशान्त-चित्त-भक्त कहा गया है।

भुक्ति–मुक्ति चाहनेवालोंकी भी प्रशान्त–चित्त व्यक्तियोंमें गिनती नहीं है, वे सब अशान्त रहते हैं। क्योंकि भुक्ति–मुक्तिको चाहनेवाले कभी शान्त हो ही नहीं सकते। जो अणिमादि सिद्धियोंको चाहनेवाले हैं, वे आत्मसुख चाहते हुए प्रतिष्ठा भी चाहते हैं। वे सदा अशान्त ही रहते हैं। मुक्तिकामी भी वास्तवमें अशान्त होते हैं। सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य एवं सामीप्य मुक्तिप्राप्त जीवोंमें तो धामोचित ऐश्वर्यकी कामना रहनेसे चञ्चलता रहती ही है, सायुज्य मुक्तिमें जहाँ अपना अस्तित्व भी कुछ नहीं होता, उसकी कामना करनेवाला पुरुष भी अशान्त माना गया है। क्योंकि सायुज्य मुक्ति चाहनेवालोंमें अपने सुखकी वासना तो रहती नहीं, परन्तु अपने दुःखोंकी निवृत्तिकी वासना ही रहती है। संसारकी यन्त्रणासे अस्थिर होकर वह उससे छुटकारा पानेके लिए सायुज्य मुक्तिकी साधनामें तत्पर होता है। सायुज्य मुक्तिकी साधनाकी जड़ ही है अपने दुःखकी निवृत्ति। जहाँ अपने दुःखकी निवृत्तिकी वासना है, उसे शान्त कैसे कहा जा सकता है?

यदि कोई यह कहता है कि ब्रह्मकी एकता प्राप्त करनेके अभिप्रायसे ही मुक्तिकी कामना है, न कि दुःख–निवृत्तिके लिए। यहाँ भी ब्रह्म–प्राप्तिके गौरवकी कामनाको साधनका प्रवर्त्तक मानना होगा। गौरवकी कामना भी चित्तकी चञ्चलताका कारण है। दुःख–निवृत्ति अथवा ब्रह्मत्व लाभके गौरवकी कामना साधनाकी शेष अवस्था तक रहती है, क्योंकि इस कामनाको छोड़कर सायुज्यमुक्ति चाहनेवालेका और कोई उद्देश्य तो हो नहीं सकता। अतः मुक्तिकामी भी अशान्त होता है।

विशेषतः जब तक एक नित्य, निश्चल एवं अनन्त वैचित्रीमय आनन्दकी प्राप्ति जीव नहीं कर पाता और जब तक उस आनन्दमें चित्तकी निबिड़ आविष्टता नहीं हो जाती, तब तक चित्तकी चञ्चलता कभी भी दूर नहीं हो सकती, यह सम्भव भी नहीं। इस प्रकारका आनन्द केवलमात्र भक्तिके द्वारा भगवत्–लीलारसके आस्वादनमें ही जीवको मिल सकता है। ऐसे भक्तिरसका आस्वादन, लीलारसका आस्वादन जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, उनके चित्तको ब्रह्मानन्द भी विचलित नहीं कर सकता। दूसरी ओर ब्रह्मानन्दमें निमग्न ज्ञानियोंको

भक्तिपूर्वक लीलारसका आस्वादन चञ्चल कर देता है। इसलिए वे लालायित हो उठते हैं और भक्तिरसास्वादनकी ओर खिंचे चले आते हैं।

ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस।
ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्मवश॥
(चै. च. म. १७/१३७)

इससे भी सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानी तब तक ब्रह्मानन्दमें अचञ्चल चित्त होकर अवस्थित रह सकते हैं, जब तक अशेष भक्तिरसामृतसिन्धु भगवान् श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलामाधुरीकी कथा उनके कानोंमें नहीं पड़ती है। श्रील शुकदेवमुनि और सनकादि चारों कुमार इस बातके प्रमाण हैं। वे जन्मसे ही ब्रह्मनिष्ठ थे, परन्तु श्रीकृष्णके गुणोंसे आकृष्ट होकर भजनमें प्रवृत्त हो गए।

अतः ब्रह्मज्ञानीमें भी चित्तकी चञ्चलताकी सम्भावना रहती है। इसलिए उन्हें भी अशान्त कहा गया है और भक्त जो नित्य भक्तिपूर्वक कृष्णलीलारसका आस्वादनकर उनकी सेवामें ही आत्मविस्मृत रहता है, वह केवल शान्त ही नहीं, प्रशान्त है—प्रकृष्ट रूपसे शान्त होता है।

भक्तिकी कृपासे ज्ञानकी पोषकता

इन्द्रमेव प्रधानीकृत्य स्वयं गुणीभवतोपेन्द्रेण तं सर्वथा पुष्णता स्वकृपालुत्वमेव यथाभिज्ञजनेषु प्रत्याय्यते न तु स्वापकर्षस्तथैव ज्ञानं पुष्णन्त्यास्तत्तत्प्रकरणवाक्येषु तस्या भक्तेरनुग्रह एव सुधीभिरनुगम्यते इति॥५॥

भावानुवाद—वामनावतारमें सर्वशक्तिमान तथा सर्वगुणशाली होते हुए भी श्रीभगवान् जिस प्रकार उपेन्द्रके रूपमें इन्द्रके कनिष्ठ भ्राता होकर भी सब प्रकारसे देवराज इन्द्रका पोषण करते हैं। ऐसा करनेमें जैसे विज्ञजन भगवान्की कृपालुता ही अनुभव करते हैं, न कि श्रीभगवान्का कुछ अपकर्ष मानते हैं, उसी प्रकार ज्ञान प्रधान शास्त्र वचनोंमें भक्तिको ज्ञानाङ्गके रूपमें प्रतिपादन करनेसे परम स्वतन्त्र

भक्तिदेवी कृपाकर सत्त्वगुणके अवलम्बनसे ज्ञानाङ्ग होकर ज्ञानकी पोषकता ही करती है। सुधीजन, विद्वज्जन, ऐसा ही निर्णय करते हैं।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—ग्रन्थकार श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अत्यन्त सूक्ष्म विचारसे विश्लेषण करते हुए श्रीभक्तिदेवीकी स्वतन्त्रताका दृढ़तापूर्वक स्थापन कर रहे हैं। यह प्रश्न हो सकता है कि जो लोग भक्तिमिश्र ज्ञानकी साधना करते हैं अर्थात् भक्तिकी सहायताके बिना कोई भी साधन फल प्रदान नहीं कर सकता—"भक्ति बिना कोन साधन दिते नारे फल" इत्यादि शास्त्र वचनोंसे जो ज्ञानके साधक मुक्ति प्राप्तिके लिए भक्तिका भी साधन करते हैं, वहाँ ज्ञानाङ्गके रूपमें भक्तिदेवी अवस्थित रहती है, वहाँ ज्ञानकी प्रधानता होती है और भक्ति वहाँ गौण रहती है। अतः वहाँ भक्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता किस प्रकारसे सिद्ध होगी? और भी उस ज्ञानीकी भक्तिको श्रीमद्भागवतमें सात्त्विकी भक्ति कहा गया है, अतएव वहाँ भक्तिका निर्गुणत्व भी किस प्रकारसे प्रमाणित होगा? श्रील ग्रन्थकार महोदय एक दृष्टान्तके द्वारा इस विषयका सुसमाधान कर रहे हैं।

श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धमें श्रीवामनदेवकी लीलाका वर्णन हुआ है। श्रीवामनदेव परम स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान और अप्राकृत सर्वगुणसम्पन्न होकर भी स्वेच्छापूर्वक देवराज इन्द्रके कनिष्ठ भ्राता श्रीउपेन्द्रके रूपमें आविर्भूत हुए। इन्द्रके अनुगत होकर इन्द्रके लिए ही उन्होंने महाराज बलिके निकट त्रिपादभूमि भिक्षा ग्रहणके बहानेसे अपने दो पगसे स्वर्ग और मर्त्यको माप लिया तथा महाराज बलिको पातालमें भेज दिया, एवं इन्द्रको स्वर्गका राज्य देकर उनका पालन-पोषण किया। श्रीवामनदेव 'उपेन्द्र' नाम ग्रहणकर इन्द्रकी अपेक्षा स्वेच्छासे छोटे भाई बने तथा देवराज इन्द्रको अपने ज्येष्ठ भ्राताकी भाँति सदैव सम्मान प्रदान किया। इस प्रकार उनका पालन-पोषण करनेसे क्या विद्वज्जन भगवान् उपेन्द्रदेवको सचमुच इन्द्रकी अपेक्षा छोटा समझ सकते हैं? विद्वज्जन जानते हैं कि भगवान् उपेन्द्र या वामनदेव जो इन्द्रको सम्मान प्रदान करते हैं और उनका पालन-पोषण करते हैं, यह सब श्रीवामनदेवकी इन्द्रपर कृपा है और इससे उनका परम उत्कर्ष ही सिद्ध होता है, अपकर्ष नहीं। क्योंकि जीव साधनके द्वारा जितना ही

महत्त्वकी ओर बढ़ता जाता है, उतना ही उसके जीवत्वका विकास होता है और उसी प्रकार भगवान् भक्तोंके वशीभूत होते जाते हैं तथा उसी प्रकार भगवान्‌की भगवत्ताका विकास भी होता है।

तात्पर्य यह है कि सर्वशक्तिमान, सर्वसमर्थ भगवान्‌ने इन्द्रका छोटा भाई बनकर इन्द्रकी रक्षा की और उनका पालन-पोषण किया। विचारपूर्वक देखा जाए तो भगवान्‌की इस लीलामें उपेन्द्रकी इन्द्रके प्रति करुणा ही है। स्वयं परम स्वतन्त्र सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ होकर भी श्रीभगवान् स्वेच्छापूर्वक इन्द्रके छोटे भाई बन गए और अपनेको 'उपेन्द्र' कहलाना भी स्वीकार कर लिया तथा इन्द्रको ही प्रधानता प्रदान की, इसमें भगवान्‌का कुछ भी अपकर्ष या छोटापन नहीं है, बल्कि उनकी भक्तवात्सल्यकी प्रधानता है।

इसी प्रकार भक्ति भी ज्ञानको पुष्ट करती है, क्योंकि बिना भक्तिका आश्रय लिए ज्ञान भी अपना फल प्रदान नहीं कर सकता।

श्रीभगवान्‌की स्वरूपशक्तिभक्ति भी भगवान्‌की भाँति ही परम करुणामय है। परतत्त्वकी सविशेष या निर्विशेष सब प्रकार भगवत्-साम्मुख्य-प्राप्तिमें भक्ति ही एकमात्र कारण है। "भक्त्या मामभिजानाति", "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इत्यादि श्रीगीता, भागवतके प्रमाणसे जाना जाता है। अतः भक्तिसाधनशून्य ज्ञानसाधनसे केवल क्लेश-ही-क्लेश प्राप्त होता है। इसलिए बुद्धिमान ज्ञानी साधक निर्विशेष ब्रह्मोपासनाके साथ-साथ भक्तिका भी साधन किया करता है। ज्ञानसाधनके साथ-साथ किञ्चित् उसमें भक्तिका साधन आनुषङ्गिक रूपसे अनुष्ठित होता है। उसीके प्रभावसे ज्ञानसाधना पूर्णताको प्राप्त होती है। इसलिए अभेदोपासनारूप ज्ञानके साधनमें भक्तिका आविर्भाव मुख्य रूपसे न होकर ज्ञानके अङ्गके रूपमें गौण रूपमें होता है। जिस प्रकार उपेन्द्र अपनी स्वाधीनशक्तिका प्रकाश न कर इन्द्रका प्रधानत्व रखकर स्वेच्छापूर्वक गौण हुए हैं, यह उपेन्द्रकी इन्द्रके प्रति कृपाका ही परिचय है। उसी प्रकार भक्तिदेवी भी कृपाकर अपनी स्वाधीनशक्तिको प्रकटित न कर स्वेच्छापूर्वक गौण रूपमें रहकर ही अर्थात् ज्ञानाङ्ग होकर ही ज्ञानके साधनको पुष्ट करती है और उसीके फलस्वरूप ज्ञानीको ब्रह्मैक्यज्ञान और मुक्ति प्रदान किया करती है। जिस प्रकार उपेन्द्रने

बलि महाराजको छलकर इन्द्रको स्वर्ग प्रदान किया था, करुणामय भक्तिदेवी भी स्वयंभगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति या निर्गुण होनेपर भी ज्ञानीके इस ज्ञान साधनको पूर्णता प्रदान करनेके लिए स्वेच्छापूर्वक या कृपापूर्वक सत्त्वगुणका अवलम्बन करती हैं। इसलिए श्रीमद्भागवतमें उस भक्तिको सात्त्विकी भक्ति कहा गया है।

पुनः यह प्रश्न हो सकता है। परतत्त्व के दो प्रकाश हैं—एक सविशेष (भगवान्) और एक निर्विशेष (ब्रह्म)। परतत्त्वका निर्विशेष स्वरूप भी मायातीत है। उस निर्विशेष स्वरूपकी उपलब्धि प्रदान करनेके लिए भक्तिको मायिक सत्त्वगुणका अवलम्बन क्यों करना होता है? निर्गुणाभक्ति क्या अपने स्वरूपमें रहकर निर्विशेष ब्रह्मकी उपलब्धि प्रदान नहीं कर सकती? इसके उत्तरमें कह रहे हैं, एक प्रकार भगवतीशक्तिका नाम ही भक्ति है। शक्ति कहनेसे कार्यक्षमताका बोध होता है। जो शक्ति परतत्त्वको प्रकाशित करती है उसीका नाम भक्ति है। निष्काम या गुणातीत भक्ति साधकोंके निकट निर्गुणा भक्तिदेवी भगवान्‌के स्वरूपको प्रकाश करती है। किन्तु ज्ञानीसाधकोंके चित्तमें मुक्तिकी वासना रहती है। हृदय निष्काम नहीं होनेसे भक्तिदेवी अपने निर्गुण स्वरूपमें उदित नहीं हो सकती। किन्तु ज्ञानियोंके चित्तमें मुक्तिकी कामनारूप काँटा विद्ध रहनेसे अर्थात् उनका हृदय सकाम या सगुण रहनेसे भक्तिदेवी उनके हृदयमें सत्त्वगुणका अवलम्बनकर उनकी वासनाओंको पूर्ण करती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

सत्त्वगुण प्रकाशक होता है, रजःगुण रंजक और तमोगुण आवरक है। सत्त्वगुण गुणातीत परतत्त्वको प्रकाशित न करनेपर भी परतत्त्वकी कुछ धारणा अवश्य प्रदान किया करता है। सात्त्विकी भक्तिके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेवने कहा है—

> कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
> यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग् भावः स सात्त्विकः॥
> (श्रीमद्भा. ३/२९/१०)

कर्मफलका नाश करनेके लिए मुक्तिके उद्देश्यसे जो व्यक्ति भगवान्‌को कर्मार्पण करते हैं, अथवा भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य

वस्तुकी कामना पूर्वक केवल कर्त्तव्य बुद्धिसे भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वे सात्त्विक हैं अर्थात् उनकी भक्ति सात्त्विकी है।

कर्मोंके क्षय या मुक्तिकी कामनासे बहुतसे लोग भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण किया करते हैं, क्योंकि भगवान्‌की प्रसन्नताके बिना कर्मक्षय या मोक्ष प्राप्त नहीं होता। भक्ति ही कर्म, योग तथा ज्ञानके फलको देनेवाली है। ये तीनों भक्ति या भगवान्‌की कृपाके बिना अपना-अपना फल प्रदान करनेमें समर्थ नहीं हैं।

श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेकी कामनाके अतिरिक्त अन्य किसी भी कामनासे भक्ति करना पृथक् भावकी भक्ति कहलाती है। अथवा शास्त्रोंमें भगवान्‌के भजनका उपदेश दिया गया है, इसलिए कर्त्तव्य जानकर भी अनेक लोग भजन करते हैं। वास्तवमें भक्तिके तत्त्वको जानकर वे भक्तिकी प्राप्तिके लिए अथवा भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए भजन नहीं करते। इसलिए उनकी भक्तिको निर्गुण नहीं कहा गया है, बल्कि सात्त्विकी भक्ति कहा गया है। इस भागवतीय श्लोकमें यह कहा गया है कि भक्ति मोक्षको प्रदान करती है। इसलिए श्रीजीव गोस्वामिपादने कहा है "कैवल्यकामा सात्त्विकी।" कैवल्य अर्थात् ब्रह्मसे एकता प्राप्त करनेकी कामना करनेवाले सात्त्विकी हैं। इससे भी प्रतीत होता है कि मोक्षकी प्राप्तिका साधन सात्त्विकी भक्ति है, क्योंकि ज्ञान स्वयं मोक्ष प्रदान नहीं कर सकता।

भक्तिदेवी स्वयं पुरुषार्थशिरोमणि

"भक्त्या सञ्जातया भक्त्या" इति भक्तेः फलं प्रेमरूपा सैवेति स्वयं पुरुषार्थमौलिरूपत्वं तस्याः। तदेवं भगवत इव स्वरूपभूताया महाशक्तेः सर्वव्यापकत्वं सर्ववशीकारित्वं सर्वसञ्जीवकत्वं सर्वोत्कर्षपरमस्वातन्त्र्यं स्वप्रकाशत्वञ्च किञ्चिदुट्टङ्कितं तदपि तां विना अन्यत्र प्रवृत्तौ प्रेक्षावत्त्वस्याभाव इति किं वक्तव्यम्। नरत्वस्यापि "को वै न सेवेत बिना नरेतरम्" इत्यादिभिरवगमो दृष्टः॥६॥

इति माधुर्य-कादम्बिन्यां भक्तेः सर्वोत्कर्षनामा प्रथमामृतवृष्टिः॥१॥

भावानुवाद—"भक्तिसे भक्ति उदित होती है।" इस श्रीमद्भागवतीय वचनसे यह सिद्ध होता है कि भक्तिसे ही भक्ति आविर्भूत होती है, क्योंकि भक्तिदेवी स्वयं सब प्रकार पुरुषार्थ शिरोमणि हैं। अतएव श्रीभगवान्‌की भाँति उनकी स्वरूपभूता महाशक्ति भक्तिदेवीकी सर्वव्यापकता, सर्ववशीकारिता, सर्वोत्कर्षता, परमस्वतन्त्रता एवं स्वयं प्रकाशकताका यहाँ किञ्चित्‌मात्र वर्णन किया गया है। फिर भी भक्तिके अतिरिक्त किसी अन्य साधनमें प्रवृत्ति दीखती है, तो उस व्यक्तिमें बुद्धिका पूर्ण विकास नहीं हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए अमानव या जड़ पशुको छोड़कर ऐसा कौन हो सकता है, जिसकी भक्तिमें प्रवृत्ति न हो—इत्यादि वचनोंसे यही सिद्ध होता है।

भक्तिका सर्वोत्कर्ष नामक प्रथमामृतवृष्टिका भावानुवाद समाप्त॥१॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके प्रमाणोंके द्वारा भक्तिकी स्वतन्त्रता, स्वप्रकाशकत्वादिका दृढ़ रूपसे स्थापनकर यहाँ प्रथम वृष्टिका उपसंहार कर रहे हैं। यह पहले कहा गया है कि किसी परम स्वतन्त्र महत्पुरुषकी कृपासे ही भक्ति प्राप्त होती है और महतोंके हृदयमें विराजमान भक्ति ही उसकी कृपाका हेतु है, क्योंकि भक्तिके बिना कृपाका उदय नहीं होता, अतएव भक्ति ही भक्तिका हेतु है। ऐसा निर्दिष्ट होनेसे भक्तिकी स्वतन्त्रता और स्वप्रकाशिता सिद्ध है। भक्ति ही भक्तिका कारण है, इसका श्रीमद्भागवतके वचनोंसे स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥
(श्रीमद्भा. ११/३/३१)

नवयोगीन्द्रके अन्यतम श्रीप्रबुद्ध योगीन्द्र महाराज निमिके प्रति कह रहे हैं, "हे राजन्! इस प्रकार साधन भक्तिसे आविर्भूत प्रेमभक्तिके द्वारा श्रीहरिको स्वयं स्मरणकर और दूसरोंको भी स्मरण कराकर जातप्रेमभक्त रोमाञ्चित और पुलकित होते हैं।" कर्म-योग-ज्ञानादि

साधनोंमें साधन और साध्य भिन्न-भिन्न हैं। कर्मियोंका याग, यज्ञ इत्यादि साधन हैं और स्वर्गकी प्राप्ति उनका साध्य है। ज्ञानियोंका शम, दम, निदिध्यासनादि साधन हैं और ब्रह्मसायुज्य साध्य है। योगियोंका यम, नियम, आसन, प्राणायामादि साधन हैं और परमात्म-सायुज्य उनका साध्य है। ये सब साधक सिद्धिके निकट जितने ही अग्रसर होते जाते हैं, उनका साधन भी कम होता जाता है और अन्तमें साधनका बोझ मस्तकसे हटाकर वे सिद्धिमें रम जाते हैं। इसलिए उनका साधन और सिद्धि ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं, यह सहज ही समझा जा सकता है।

किन्तु साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति एक ही अवस्थाकी तर और तम अवस्था है। पूर्व-पूर्वकी भक्ति ही क्रमशः भक्तिका हेतु हुआ करती है। इसलिए भक्तिसाधक प्रेमभक्तिकी ओर जितना ही अग्रसर होता है, उसका साधन भी और अधिक बढ़ता जाता है, समाप्त नहीं होता। क्योंकि साधनकी अवस्थामें जिसका आस्वादन तरल होता है, भाव और प्रेमावस्थामें उसका आस्वादन अत्यन्त प्रगाढ़ होता है। श्रील नरोत्तम ठाकुरने कहा है, "पाकिले से प्रेमभक्ति, अपक्वे साधनरीति, भकति लक्षण तत्त्वसार।" जैसे एक ही आम अपक्व अवस्थामें खट्टा एवं परिपक्व अवस्थामें अत्यन्त सुस्वादु हुआ करता है, उसी प्रकार प्रेमके बहुत स्तर हैं, प्रेम क्रमशः परिपक्व होनेपर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और अन्तमें महाभाव नाम धारण करता है। ये प्रेमविकासके विभिन्न स्तर या प्रेमकी परिणति हैं। प्रेम ही क्रमशः सान्द्र या स्वादिष्ट होकर अपने पूर्वावस्थाका त्याग न कर स्नेह, मान, प्रणय आदि उन्नत अवस्था प्राप्त हुआ करता है। प्रेमका सर्वोच्च स्तर महाभाव है। इस महाभावकी केवल व्रजगोपियोंमें ही स्थिति है। जिस भक्तिमें श्रीकृष्णको सुख देनेकी कामनाको छोड़कर अन्य कोई कामना नहीं है, वही उत्तमाभक्ति है। वह तीन प्रकारकी होती है—साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति। यहाँ एक बात और भी विचारणीय है। सांख्यमतके अनुसार उपादान कारण अपनी पूर्वावस्थाको त्यागकर कार्यरूपमें बदलता है, जैसे दूध दहीमें परिणत होता है, तो दूध अपनी पूर्वावस्थाको त्यागकर ही दही बनता

है। दहीमें फिर दूध नहीं रहता। उसी प्रकार भावभक्ति भी जब प्रेमभक्तिके रूपमें बदलती है, तो क्या वह अपनी पूर्वावस्थाका त्याग कर देती है? रति जब स्नेह रूपमें परिणत होती है, तो क्या रतिकी पूर्वावस्था लुप्त हो जाती है? उसी प्रकार जब स्नेह प्रणयमें परिणत होता है, तो क्या स्नेहकी पूर्वावस्था नष्ट हो जाती है? इस शङ्काका उत्तर श्रील रूपगोस्वामीने दिया है कि यह सिद्धान्त भक्तिके सम्बन्धमें लागू नहीं होता है। रति श्रीकृष्णकी ह्लादिनीशक्तिकी वृत्ति-विशेष है। वह श्रीकृष्णकी अचिन्त्यशक्तिसे पूर्वावस्थाका त्याग किए बिना ही उत्तरोत्तर अवस्थाको प्राप्त होती है। श्रवण, कीर्त्तनादि अङ्ग जैसे साधनभक्तिमें रहते हैं, वैसे भावभक्तिमें तथा प्रेमभक्तिमें भी रहते हैं। अतः भावभक्ति पूर्वावस्थाका त्याग किए बिना ही प्रेमभक्तिमें परिणत हो जाती है।

यह प्रेमभक्ति सब पुरुषार्थोंकी शिरोमणि स्वरूपा है। पुरुष या जीवका जो अर्थ या काम्य वस्तु है, उसे 'पुरुषार्थ' कहते हैं। इस जगतमें जीवोंकी भिन्न-भिन्न काम्य वस्तु होनेपर भी सब लोगोंकी कामनाका मूल एक है—वह है सुख या आनन्द। श्रीभगवान्‌की ह्लादिनीशक्तिकी वृत्ति भक्ति जीवोंको आनन्दामृतसिन्धुमें डुबो देती है। ब्रह्मानन्द उसके निकट अत्यन्त तुच्छ है। फिर लौकिक सुखसम्पदा या स्वर्गके आनन्दकी तो बात ही क्या?

भगवान्‌की स्वरूपभूता महाशक्ति भक्तिदेवी भी भगवान्‌की भाँति सर्वव्यापक है। किसी भी देशमें कोई भी जीव, किसी भी समयमें, किसी भी अवस्थामें हरिभजन कर सकता है। अतएव अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें, चिन्मय वैकुण्ठ, गोलोकादि धामोंमें सर्वत्र ही भक्तिदेवी व्याप्त हैं। उसी प्रकार भगवान्‌की भाँति भक्तिकी सर्ववशीकारित्व (सबको वशीभूत करनेकी) शक्ति भी विद्यमान है। औरकी तो बात ही क्या? मुक्तपुरुष भी भक्तिकी वत्सलताके गुणसे आकृष्ट होकर हरिभजनमें प्रवृत्त होते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजते।"

यह पूर्वमें ही कहा जा चुका है कि बिना भक्तिदेवीकी सहायतासे कर्म, ज्ञान, योग, तपस्यादि कोई भी अपना फल प्रदान नहीं कर

सकते। अतएव अन्य समस्त साधन और साध्योंकी अपेक्षा भक्तिकी परमोत्कर्षता, स्वतन्त्रता और स्वप्रकाशिता इत्यादिका भी प्रतिपादन हुआ। अब श्रीपाद ग्रन्थकार कह रहे हैं कि भक्ति समस्त गुणोंकी सिन्धु स्वरूपा है। मैंने भक्तिके स्वरूपकी महिमाका थोड़ा-सा वर्णन किया है। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीरूप-शिक्षाके प्रारम्भमें कहा है—"पारावार-शून्य गभीर भक्तिरस-सिन्धु। तोमाय चाखाइते तार कहि एक 'बिन्दु'॥" (चै. च. म. १९/१३७) अर्थात् "भक्ति एक असीम, अनन्त और गभीर रसका समुद्र है, मैं तुम्हें उसकी एक बिन्दु चखानेके लिए कुछ बतला रहा हूँ।" भक्तिकी महिमा अत्यन्त अद्भुत, असमोर्ध्व है और अनुपम है। यदि भक्तिकी ऐसी अद्भुत और अनुपम महिमा है, तब समस्त जीवोंके लिए भक्ति लाभ करना ही उनके जीवनका उद्देश्य होना उचित है। इसलिए भक्तिकी प्राप्ति जिनके जीवनका उद्देश्य नहीं होता, तब उन्होंने निश्चित ही सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन नहीं किया है। उनकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है, उनकी विचारशक्ति निपुण नहीं है। इसलिए उनमें विवेकशक्तिका अभाव कहा गया है। यहाँ तक कि उनमें मनुष्य भावका विकास भी नहीं हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् मनुष्योंकी भाँति उनका आकार होनेपर भी वस्तुतः वे पशु स्वभाववाले ही हैं। यह ग्रन्थकारका केवल अपना ही मत है, ऐसा नहीं है, वे शास्त्रोंका प्रमाण देकर उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। शास्त्र कहते हैं "पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।" अर्थात् ऐसे सर्वगुणसम्पन्न श्रीभगवान्का 'पशुघ्नात्' अर्थात् पशुप्रकृति प्राणियोंके अतिरिक्त और कौन भजन नहीं करेगा? श्रीमद्भागवतमें हरिभजन विमुख व्यक्तिको स्थावर या जड़तुल्य अथवा पशुतुल्य बतलाया गया है—

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥

(श्रीमद्भा. २/३/१८-१९)

इन श्लोकोंका भावार्थ इस प्रकार है—इस जगतमें मनुष्यदेह प्राप्तकर जो लोग हरिभजन नहीं करते उनकी आयु व्यर्थ है। यदि कहें कि जीवित रहना ही परमायुकी सार्थकता है, तो उसके उत्तरमें कहते हैं, क्या वृक्ष जीवित नहीं रहते? अर्थात् एक-एक वृक्ष बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं। यदि जीवित रहना ही परमायुकी सार्थकता है, तो वृक्ष मनुष्यकी अपेक्षा बहुत गुणा श्रेष्ठ है, क्योंकि वे बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं। कोई कहते हैं वृक्ष जीवित तो रहते हैं, किन्तु वे मनुष्यकी भाँति श्वास ग्रहण और त्याग नहीं कर सकते। उसके उत्तरमें कहते हैं यदि श्वास-प्रश्वास ग्रहण करने और छोड़नेमें ही आयुकी सार्थकता है, तो लोहारकी धौंकनी ही मनुष्यकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मनुष्यकी अपेक्षा अधिक बार वायु ग्रहण और त्याग करनेमें सक्षम है। यदि कहें कि धौंकनी वायु ग्रहण और त्याग करनेमें समर्थ तो है, किन्तु उसमें भोजन और मैथुन आदि क्रियाएँ मनुष्यके समान नहीं हैं। उसके उत्तरमें कहते हैं ग्राम्यपशु अर्थात् गाय, भैंस, बकरा-बकरी, कुत्ता, सूकर, गधा और ऊँट क्या भोजन और मैथुनके कार्य नहीं करते? अतएव मनुष्य जीवनकी सार्थकता हरिभजनमें ही है, क्योंकि वे लोग भजन नहीं करते। श्रीलजीवगोस्वामिपादने 'पशवोऽपरे' अंशकी व्याख्यामें लिखा है, "तमपि नराकारं पशुं मत्वाह अपर इति।" अर्थात् हरिभजनसे विमुख मनुष्यको नराकृति पशु समझ करके ही 'अपरे' इस शब्दका प्रयोग हुआ है।

कोई ऐसा कह सकते हैं कि जो लोग अत्यन्त उच्च शिक्षित अथवा देशके नेता हैं, जगतके बहुत लोग जिनका गुणगान करते हैं, यदि वे हरिभजनसे विमुख हैं तो क्या उन्हें मनुष्य नहीं कहेंगे? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि जिनके कानोंमें कभी भी भगवान्‌का नाम प्रवेश नहीं किया, वे वृथा कलहकारी कुत्ते, विष्ठाभोजी सूकर, कंटकभोजी ऊँट और भार ढोनेवाले स्त्रीपाद-ताड़ित गधेके समान हरिभजन विमुख व्यक्तियोंके द्वारा प्रशंसित होनेपर भी उनको पशु तुल्य समझना चाहिए। श्रील जीवगोस्वामी इस श्लोककी टीकामें कहते हैं, "श्वादितुल्यैस्तत्परिकरैः सम्यक् स्तुतोऽप्यसौ पुरुषः पशुस्तेषामेव मध्ये श्रेष्ठश्चेत्तर्हि महापशुरेवेत्यर्थः।" तात्पर्य यह है कि हरिभजनविमुख

घोर विषयोंमें आसक्त व्यक्ति जो हरिकथामृतको छोड़कर कुत्तेकी भाँति वृथा विषय भोगोंमें निरत हैं, सूकरकी भाँति जो हरिनामामृतको छोड़कर सदा-सर्वदा विषयविष्ठारूप भोजनमें अत्यन्त अभ्यस्त हैं, ऊँटकी भाँति भक्तिरूप आम्रपल्लवोंको छोड़कर विषय कंटकोंके चर्वणमें आनन्दित हैं, गधेकी भाँति जो स्त्रीपाद-ताड़ित सदैव संसारके भारवहनमें ही सुखी हैं—ऐसे अपने समान व्यक्तियोंके द्वारा जो प्रशंसित हैं, उन्हें पशुओंमें श्रेष्ठ होनेके कारण महापशु कहना ही उचित है। अतएव जिन लोगोंमें मानवधर्मका विकास है, उन लोगोंके लिए हरिभजन या भक्तिपथका अवलम्बन करना अपरिहार्य है, यही प्रतिपन्न हुआ।

भक्तिका सर्वोत्कर्ष नामक प्रथमामृतवृष्टिकी
पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त॥१॥

द्वितीयामृतवृष्टिः

अथात्र माधुर्यकादम्बिन्यां द्वैताद्वैतवादविवादयोर्नावकाशः लभन्ते इति कैश्चिदपेक्षणीयाश्चेदैश्वर्यकादम्बिन्यां दृश्यतां नाम॥१॥

भावानुवाद—इस माधुर्य-कादम्बिनी ग्रन्थमें द्वैत और अद्वैत सिद्धान्तके विषयको लेकर वाद-विवादका अवकाश नहीं है। यदि कोई व्यक्ति उन सिद्धान्तोंको जानना चाहते हैं, तो ऐश्वर्य-कादम्बिनी ग्रन्थमें देख सकते हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस माधुर्य-कादम्बिनी ग्रन्थकी प्रथम वृष्टिमें भक्तिकी सर्वोत्कर्षताका प्रतिपादनकर इस द्वितीय वृष्टिमें भक्तिके अङ्गोंके प्रकारभेदका निरूपण कर रहे हैं। इस ग्रन्थमें द्वैत और अद्वैतवादके विषयमें वाद-विवाद या आलोचना करनेका अवकाश नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थका नाम माधुर्य-कादम्बिनी, अर्थात् श्रीकृष्ण और तद्भक्ति-माधुर्यामृतको वर्षण करनेवाली मेघमालाएँ हैं। अतः भक्तिकी साधनामें द्वैत और अद्वैत तत्त्वकी अर्थात् जीव और जगतके साथ ब्रह्मके द्वैताद्वैत-सिद्धान्त जाननेकी आवश्यकता रहनेपर भी ग्रन्थकार इस ग्रन्थमें इन सिद्धान्तोंकी आलोचना करना उचित नहीं समझते हैं। क्योंकि इसमें भक्तिसाधनके प्रकारभेदका निरूपण करना ही उनका लक्ष्य है। अतएव श्रीपाद ग्रन्थकार कहते हैं, यदि कोई इस विषयको जानना चाहते हैं, तो वे उनके द्वारा रचित ऐश्वर्य-कादम्बिनी नामक ग्रन्थकी आलोचना कर सकते हैं।

ग्रन्थकारके इस वक्तव्यसे यह प्रतीत होता है कि उन्होंने ऐश्वर्य-कादम्बिनी नामक एक ग्रन्थकी रचना की है और उसमें द्वैत और अद्वैतवादका विवेचन हुआ है। किन्तु कहीं भी उस ग्रन्थका पता नहीं चलता। उनके शिष्य श्रीपाद बलदेव विद्याभूषणने ऐश्वर्य-कादम्बिनी नामक एक ग्रन्थकी रचना की है, किन्तु उसमें द्वैताद्वैतवादके सम्बन्धमें कोई प्रसंग नहीं है। इससे यह निश्चित होता है कि उनके द्वारा रचित

ऐश्वर्य-कादम्बिनी, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा रचित ऐश्वर्य-कादम्बिनीसे भिन्न ग्रन्थ है। इसमें कोई भी संशयकी बात नहीं है।

साधनभक्ति तथा उत्तमाभक्तिका स्वरूप

इदानीं करणकेदारिकासु प्रादुर्भवन्त्यास्तस्या एव भक्तेर्ज्ञानकर्माद्य-मिश्रितत्वेन शुद्धायाः कल्पवल्या अपि निरस्तान्यफलाभिसन्धितयैव धृतव्रतैर्मधुव्रतैरिव भव्यजनैराश्रियमाणायाः स्वविषयैकानुकूल्यमूलप्राणायाः स्वस्पर्शेन स्पर्शमणिरिव करणवृत्तीरपि प्राकृतत्वलोहतां शनैस्त्याजयित्वा चिन्मयत्वशुद्धजाम्बुनदतां प्रापयन्त्याः कन्दलीभावान्ते समुद्‌गच्छन्त्याः साधनाभिख्ये द्वे पत्रिके विव्रियेते। तयोः प्रथमा क्लेशघ्नी द्वितीया शुभदेति। द्वयोरपि तयोरन्तस्तु लोभप्रवर्त्तकत्वलक्षणचैक्वण्येन "येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च" इत्यादि शुद्धसम्बन्धस्निग्धतया च प्राप्तोत्कर्षे देशे रागनाम्नो राज्ञ एवाधिकारः। बहिस्तु "तस्माद् भारत सर्वात्मा" इत्यादि शास्त्रप्रवर्त्तकत्वलक्षण-पारुष्याभासेन प्रियादि शुद्धसम्बन्धाभावात् स्वत एवातिस्निग्धतानुदयेन पूर्वतः किञ्चिदपकृष्टे देशे वैधनाम्नोऽपरस्य राज्ञः। क्लेशघ्नत्वशुभदत्वाभ्यान्तु प्रायस्तयोर्न कोऽपि विशेषः॥२॥

भावानुवाद—ज्ञान-कर्मादिसे अमिश्रित इन्द्रियरूप-क्षेत्रमें आविर्भूत होनेवाली शुद्धभक्ति एक कल्पलताके समान है। उस भक्तिकल्पलताका कोई भाग्यवान मनुष्य ही आश्रय लेता है। वह सौभाग्यवान जीव मधुकर (भ्रमर) की भाँति व्रत धारणकर केवल मकरन्दरसका पान करता है, उसके अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं करता। उसी प्रकार जिन्होंने केवल भक्तिरसका पान करनेके लिए भगवत्-सेवाके अतिरिक्त समस्त प्रकारके फलोंके त्यागका व्रत धारण कर रखा है, वे ही इस भक्तिलताका आश्रय ग्रहण करते हैं। इस भक्तिलताका मूल प्राण है—निरन्तर स्वाभीष्ट श्रीभगवान्‌की आनुकूल्यमयी सेवा सम्पादन करना। यह अपने स्पर्शसे पारसमणिकी भाँति इन्द्रियवृत्तिके प्राकृतत्वरूप लौहपनको क्रमशः दूरकर चिन्मयत्वरूप परम विशुद्ध सुवर्णरूपता प्राप्त करा देती है। फिर अङ्कुर रूपसे प्रस्फुटित होकर साधनभक्ति नामक दो पत्तियोंको पैदा करती है। उनमेंसे एकका नाम 'क्लेशघ्नी' और

दूसरीका नाम 'शुभदा' है। उन दोनों पत्तियोंका भीतरी भाग लोभ-प्रवर्त्तक लक्षणरूप स्निग्धतासे शोभित है। श्रीभगवान्‌ने कहा है "जिनका मैं प्रिय, आत्मा और पुत्र हूँ"—इन शास्त्रवचनोंके अनुसार शुद्ध सम्बन्धकी स्निग्धतासे वह उत्कर्षयुक्त है। उस उत्कृष्ट भागपर राग नामक राजाका अधिकार है। उन दोनों पत्तियोंका बाहरी भाग—"इसलिए हे परीक्षित्! सर्वात्मा भगवान्‌की उपासना करनी चाहिए" इत्यादि शास्त्र-प्रवर्त्तक लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण कुछ रूखा होता है। और उनके बाहरी भागमें "इसलिए सर्वदा निर्भय रहनेके इच्छुक व्यक्ति सर्वात्मा हरिकी उपासना करेंगे" इस श्लोकमें प्रकाशित शास्त्र-प्रवर्त्तक लक्षण हेतु कुछ कर्कश अथवा रूखा अर्थात् प्रियतादि शुद्ध सम्बन्धरहित होनेसे कुछ रूखा अर्थात् अपकर्षयुक्त होता है। इस भागपर वैध नामक एक दूसरे राजाका अधिकार है। परन्तु क्लेशको दूर करनेमें तथा शुभगुण प्रदान करनेमें प्रायः दोनोंमें कोई भेद नहीं है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने इस ग्रन्थकी प्रथमामृत-वृष्टिमें विविध प्रकारकी अकाट्य युक्तियों, तर्कों एवं शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा भक्तिकी स्वतन्त्रता, स्वप्रकाशिता आदिका प्रतिपादनकर इस दूसरी अमृत-वृष्टिमें साधनभक्तिके क्रमविकासका वर्णन कर रहे हैं। सर्वप्रथम साधकभक्तोंके चित्तमें भक्तिरूप कल्पलताके आविर्भाव और उसके गुण एवं जातिका वर्णन कर रहे हैं। निखिल कृष्णेतर कामना-वासनाओंसे रहित, ज्ञानकर्मादिसे अमिश्रित भक्तिको शुद्धभक्ति कहते हैं। यहाँ भक्तितत्त्वको सरल-सहज रूपमें समझानेके लिए शुद्धभक्तिको कल्पलताकी उपमा दी गई है। जिस प्रकार कल्पलता उर्वर क्षेत्रमें ही पैदा होती है, उसी प्रकार भक्तिकल्पलता निष्काम भक्तके हृदयरूप उर्वर क्षेत्रमें ही आविर्भूत होती है। यह पूछा जा सकता है कि बीजके बिना कभी भी लता पैदा नहीं होती। इसलिए भक्तिलताका बीज क्या है? श्रीमन्महाप्रभुने रूपशिक्षामें कहा है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज॥

माली हञा करे सेइ बीज आरोपण।
श्रवण-कीर्त्तन-जले करये सेचन॥
(चै. च. म. १९/१५१-१५२)

श्रीकृष्णबहिर्मुख जीव अपने कर्मफलसे इस ब्रह्माण्डमें नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करता हुआ जब अहैतुकी महत्कृपाजनित सौभाग्य प्राप्त करता है, तभी श्रीगुरु और श्रीकृष्णकी कृपासे भक्तिलताका बीज प्राप्त होता है। श्रीमन्महाप्रभुने भक्तिलताके बीजका उल्लेख तो किया है, किन्तु वह बीज क्या है? उसको स्पष्ट रूपसे नहीं बतलाया। श्रीमत् जीवगोस्वामिपादने श्रीमद्भागवतके "भवापवर्गो भ्रमतो यदा" (श्रीमद्भा. १०/५१/५३) इत्यादि श्लोककी लघुतोषणी टीकाके अन्तमें लिखा है—"सत्सङ्गमेन रत्यंकुररूपैव मतिर्जायत इति" अर्थात् साधुसङ्गमें रतिके अङ्कुर स्वरूप मति उत्पन्न होती है। इसलिए महत्पुरुषोंकी अहैतुकी कृपासे साधकोंके चित्तमें जिस मतिके द्वारा भगवद्भजनकी अथवा कृष्णसेवाकी वासना उत्पन्न होती है, उसीको भक्तिकल्पलताका बीज कहा जा सकता है। अर्थात् भगवत्-सेवाकी वासना ही भक्तिकल्पलताका बीज है। साधकोंके इन्द्रियरूपी क्षेत्रमें श्रवण, कीर्त्तनादिका जल सिञ्चित होनेपर उसी बीजसे भक्तिलता उत्पन्न होती है। श्रीकृष्णविषयक आनुकूल्य सम्पादन ही भक्तिकल्पलताका मूल है। अर्थात् श्रीकृष्णकी आनुकूल्यमयी सेवा, उनका सुख या उनका आनन्द विधान ही भक्तिका प्राण है। श्रीजीवगोस्वामीने प्रीतिसन्दर्भमें भगवत्-प्रीतिके लक्षणवर्णनके प्रसङ्गमें लिखा है, "तथा विषयानुकूल्यात्मकस्तदानुकूल्यानुगततत्स्पृहातदनुभवहेतुकोल्लासमयज्ञानविशेषः प्रियता।" अर्थात् विषयरूप श्रीकृष्णका आनुकूल्य या सुख विधान जिनकी आत्मा या जीवन है, जिससे विषय (श्रीकृष्ण) को सुख होता है, तदनुगत भावसे उनको पानेके लिए जिसमें स्पृहा जाग्रत होती है और उस स्पृहाके कारण विषयका अनुभव होनेके कारण जिसमें उल्लासमय ज्ञानविशेष या सुखविशेष उदित होता है, उसीका नाम भगवत्-प्रीति या भक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रेमको आविर्भूत करानेवाली शुद्धाभक्तिकी तीन भूमिकाएँ हैं। पहली (१)—भक्तिके विषय श्रीकृष्णको जिससे सुख या आनन्द होता है, वही भक्तिका

जीवन अर्थात् प्राण है। अर्थात् भक्तके हृदयमें श्रीकृष्णकी सेवा या उनके सुखसाधनके अतिरिक्त और कोई भी कामना नहीं होती। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भक्त भगवान्‌को पानेके लिए क्यों कामना करता है? उसके उत्तरमें (२) दूसरी भूमिकाकी बात कह रहे हैं, कृष्णकी सेवाकर उन्हें सुखी करनेकी इच्छाके लिए ही भक्तोंकी कामना उत्पन्न होती है, अपने सुखके लिए कोई कामना ही नहीं होती। पुनः यदि भक्तोंकी कोई कामना ही नहीं होती, तो वे सुख नहीं पा सकते, ऐसा होनेसे भक्तिकी पुरुषार्थता ही नहीं रहती, क्योंकि सुख या आनन्द ही पुरुषार्थ है। इसके लिए (३) तीसरी भूमिकाकी बात कह रहे हैं। भक्तोंको अपने लिए सुखकी कामना नहीं होनेपर भी उन्हें साक्षात् सुखस्वरूप श्रीकृष्णके माधुर्यानुभव या सेवानुभव जनित अतुलनीय आनन्दकी प्राप्ति अवश्य ही होती है। उसीको भगवती प्रीति या भक्ति कहते हैं।

जिस प्रकार मधुकर (भ्रमर) पुष्पोंका मकरन्द पान करनेके लिए ही लताका आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णसेवाके अतिरिक्त सब प्रकारकी कामना-वासनाओंसे रहित भक्तरूप मधुकर प्रेममकरन्दका आस्वादन करनेके लिए ही सदैव भक्तिकल्पलताका आश्रय किया करते हैं। यहाँ फिर प्रश्न हो सकता है कि भक्ति भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी एक विशेष वृत्ति है और जड़के विपरीत स्वप्रकाश-लक्षणयुक्त वस्तु है। वह किस प्रकार साधकोंकी प्राकृत इन्द्रियोंपर आविर्भूत हो सकती है? उसके उत्तरमें ग्रन्थकार कह रहे हैं—जिस प्रकार स्पर्शमणि अपने स्पर्शसे मैले लोहेको भी स्वर्णके रूपमें परिणत कर देती है, उसी प्रकार भक्ति भी अपने चिन्मय स्पर्शके द्वारा साधकोंके जड़ेन्द्रियोंको क्रमशः स्वर्णकी भाँति परम विशुद्ध या चिन्मय किया करती है।

श्रीगुरुपादाश्रय अर्थात् दीक्षाके बाद भजनक्रियाके साथ क्रमशः साधकोंकी जड़ेन्द्रियोंमें भक्तिकी अलौकिक प्रक्रियाका सूत्रपात होता है। साधक जैसे-जैसे श्रवण-कीर्त्तनादि भजनके अङ्गोंका अनुष्ठान करते हैं, श्रीभगवान्‌की भाँति सच्चिदानन्दमयी एवं स्वप्रकाशतत्त्व भक्ति साधकोंकी जड़ेन्द्रियोंमें प्रादुर्भूत होकर ज्वलन्त आगमें लोहेके टुकड़ेकी

भाँति साधकोंकी इन्द्रियोंको भी क्रमशः चिन्मय कर देती है। रतिके स्तरमें पहुँचे हुए साधकोंका मन, बुद्धि आदि अन्तरिन्द्रियसमूह एवं प्रेमके स्तरमें यथावस्थित पाञ्चभौतिक देह क्रमशः दूर होकर चिन्मय शरीर प्रकट हो जाता है। श्रील सनातन गोस्वामीने भी लिखा है—

कृष्णभक्ति-सुधापानाद्देहदैहिक-विस्मृतेः ।
तेषां भौतिक देहेऽपि सच्चिदानन्दरूपता॥
(बृ. भ. १/३/६१)

अर्थात् "कृष्णभक्तिरूप अमृतका पान करनेसे जो लोग देह और दैहिक, सब कुछ विस्मृत हो गए हैं, उनका पाञ्चभौतिक शरीर क्रमशः दूर हो जाता है और सच्चिदानन्दमय शरीर प्रकट हो जाता है।" इस विषयमें श्रीमन्महाप्रभुकी श्रीमुखवाणी है—

प्रभु कहे,—"वैष्णव-देह 'प्राकृत' कभु नय।
'अप्राकृत' देह भक्तेर 'चिदानन्दमय'॥
दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइकाले कृष्ण तारे करे आत्मसम॥
सेइ देह करे तार चिदानन्दमय।
अप्राकृत-देहे ताँर चरण भजय॥
(चै. च. अ. ४/१९१-१९३)

अर्थात् महाप्रभु कह रहे हैं कि वैष्णव शरीर प्राकृत नहीं है। उनकी देह अप्राकृत और चिदानन्दमय है। दीक्षाकालमें भक्त जब आत्मसमर्पण करते हैं, उसी समय श्रीकृष्ण उससे आत्मसात् कर लेते हैं और उनके देहको चिदानन्दमय करते हैं। और उस अप्राकृत देहसे भक्त उनके चरणोंकी सेवा करते हैं। इसके पश्चात् भक्तिलताका आविर्भाव और उसके प्रथम उत्पन्न हुए दो पत्तोंका परिचय प्रदान कर रहे हैं। महत्कृपासे आविर्भूत श्रीकृष्णभजनकी वासनारूप भक्तिकल्पलताका बीज श्रीगुरु और श्रीकृष्णकी कृपासे साधकभक्तोंकी चित्तभूमिमें बोया जाता है और तत्पश्चात् श्रवण-कीर्त्तनादि जलसे सिंचाई होनेपर उसमें शीघ्र ही अङ्कुर पैदा हो जाता है। तत्पश्चात् उसमें दो पत्ते पैदा होते

हैं। उन दोनों पत्तोंका नाम 'क्लेशघ्नी' और 'शुभदा' है। दोनों पत्तोंका भीतरी भाग अत्यन्त कोमल, चिकना और सुन्दर दीखता है। उसका बाहरी भाग कर्कश या रूखा होता है। उसी प्रकार साधनभक्ति भी दो प्रकारकी होती है। एक अत्यन्त स्निग्ध सुन्दर लोभमूला रागभक्ति और दूसरी शास्त्रशासनमूला कुछ रूखी विधिभक्ति।

तात्पर्य यह है कि साधनभक्तिके दो गुणोंका नाम क्लेशघ्नी और शुभदा है। यहाँपर ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने विषयको दृष्टान्तके द्वारा अत्यन्त सहज बोधगम्य करनेके अभिप्रायसे गुण और गुणी अभेद होनेके कारण साधनभक्तिको ही विधिभक्ति और रागभक्तिके रूपमें वर्णन किया है तथा दोनोंके गुण क्लेशघ्नी और शुभदाका भी वर्णन किया है ऐसा समझना होगा। तात्पर्य यह है कि साधनभक्तिके प्रवर्त्तक दो भाव हैं। पहला लोभ है। भक्तिकी स्निग्धता-सुन्दरता, कोमलता, स्वप्रकाशकता आदि गुणोंको देखकर स्वतः ही उसके लिए साधकका मन लालायित हो उठता है, उसकी प्राप्तिका लोभ जाग उठता है। ऐसा स्वाभाविक लोभ जिस साधन-भक्तिका प्रवर्त्तक है, उसे 'रागानुगाभक्ति' कहते हैं। इसलिए यहाँ उसके सम्बन्धमें कहा गया है कि इस स्निग्धतापूर्ण भागपर 'राग' नामक राजाका अधिकार है, अर्थात् इस रागानुगाभक्तिकी हर अवस्थापर राग और प्रेमका अधिकार रहता है। इसी प्रेमके कारण साधक श्रीभगवान्‌से अपने अनेक सम्बन्धोंको जोड़ लेता है। उन्हें अपना प्रिय, आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृद् और इष्ट मानता है। जैसे भगवान् श्रीकपिलदेवने अपनी माता देवहूतिजीसे (श्रीमद्भा. ३/२५/३८ में) कहा है। इस प्रकार रागानुगाभक्तिके साधनोंमें शुद्ध सम्बन्धकी स्निग्धता रहती है और पत्तियोंके स्निग्ध भागकी तरह वह ऊपर शोभित होती है, अर्थात् रागानुगाभक्तिका सदा उत्कर्ष रहता है।

साधनभक्तिका प्रवर्त्तक दूसरा भाव है—शास्त्रके शासनके भयसे साधककी साधनभक्तिमें प्रवृत्ति होती है। श्रीमद्भागवत (२/१/५) में कहते हैं कि भगवद्भक्तिके बिना जन्म-मृत्युरूप संसार-सागरसे जीव कभी भी पार नहीं उतर सकता। क्योंकि जन्म-मरणरूप संसारका

मूल कारण है माया–बन्धन और मायासे छुटकारा पानेके लिए केवल भगवद्भक्ति ही उपाय है।

ऐसे शास्त्रीय वचनोंको सुनकर जो साधनभक्तिमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी भक्तिको 'वैधीभक्ति' कहते हैं। वैधीभक्तिके साधकोंकी भक्तिमें प्रवृत्ति भगवान्‌की प्रीतिके लिए नहीं होती, बल्कि अपने दुःखोंकी निवृत्तिके लिए ही वे भक्ति–अङ्गोंका अनुष्ठान करते हैं। इसलिए उसे रूखा और कठोर कहा गया है। यहाँ भगवान्‌से रागमूलक शुद्ध सम्बन्ध नहीं है। पत्तेके रूखे भागकी तरह वैधीभक्ति भी नीचेकी ओर रहती है अर्थात् इसका रागानुगाभक्तिकी अपेक्षा अपकर्ष है। इसके अनुष्ठानमें शास्त्रविधिकी ही प्रधानता होती है। इसलिए इसपर 'वैध' राजाके अधिकारका यहाँ वर्णन किया गया है।

जैसे लताकी पत्तियोंके सभी भागोंमें समान गुण रहता है, पत्तिकी चिकनी ओरका गुण कुछ और हो तथा रूखी तरफका गुण कुछ और, इस प्रकार नहीं रहता। इसी प्रकार साधनभक्ति रागानुगा हो अथवा वैधी, दोनोंके गुण प्रायः समान ही होते हैं। दोनों समान रूपसे क्लेशोंको दूर करनेवाली होती हैं और समान रूपसे शुभगुण प्रदान करनेवाली होती हैं।

श्रील रूपगोस्वामीने लिखा है, "यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते। शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधीभक्तिरुच्यते॥" (भ. र. सि. १/२/६) अर्थात् "भजनके विषयमें कहीं लोभ और कहीं शास्त्रशासन प्रवर्त्तक हुआ करता है। जिस भक्तिमें लोभ प्रवर्त्तक न होकर शास्त्रशासन ही प्रयोजक होता है, उसे वैधीभक्ति कहते हैं।" श्रील जीवगोस्वामीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है "रागोऽत्रानुरागः तद्रुचिश्च" अर्थात् "यहाँ 'राग' शब्दका अर्थ रुचि या अनुराग सहित भजन है।" यह राग जिस भक्तिका प्रवर्त्तक नहीं है, उसे वैधीभक्ति कहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने भी लिखा है "रागोऽत्र श्रीमूर्त्तेर्दर्शनाद्दशमस्कन्धीय–तल्लीलाकथाश्रवणाच्च भजनलोभः" अर्थात् "श्रीमूर्त्तिके दर्शन या श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित श्रीकृष्णकी मधुर लीलाकथाओंके श्रवणसे भजनमें लोभको यहाँ राग कहा गया है।" ऐसा रागभक्तिका प्रवर्त्तक न होकर शास्त्रशासन ही जिसका प्रवर्त्तक है, उसे वैधीभक्ति

कहते हैं। जैसे श्रीशुकदेव मुनि महाराज परीक्षितके प्रति कहते हैं, "तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताभयम्॥" (श्रीमद्भा. २/१/५) अर्थात् यदि जीव देह और दैहिक विषयोंमें आसक्तिके कारण भयानक मृत्युका ग्रास हो रहा है तथा अत्यन्त भयानक नरकयन्त्रणादिका भोग करता है, तो इससे मुक्तिलाभ करनेके लिए, परमानन्दलाभ करनेके लिए अखिलात्मा सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिके नामोंका कीर्त्तन, उनकी लीलाकथाओंका श्रवण, स्मरण एकान्त आवश्यक है, ऐसा सुनकर जो लोग भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उनकी भक्तिको वैधीभक्ति कहते हैं।

दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइकाले कृष्ण तारे करे आत्मसम॥
सेइ देह करे तार चिदानन्दमय।
अप्राकृत-देहे ताँर चरण भजय॥

चैतन्यचरितामृतकी इन पयारोंकी व्याख्यामें जगद्गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' अपने अनुभाष्यमें उल्लेख करते हैं कि दीक्षाके समय भक्त अपनी प्राकृत अनुभूतियोंको समर्पणकर अप्राकृत सम्बन्धज्ञान विशिष्ट होते हैं। अप्राकृत दिव्यज्ञान प्राप्तकर वे अप्राकृत स्वरूपसे अप्राकृत श्रीकृष्णसेवाका अधिकार प्राप्त करते हैं। कृष्णेतर मायाके आश्रयसे रहित होनेपर प्रपन्न भक्तको श्रीकृष्ण आत्मसात् करते हैं, तब उनका जड़भोगराज्यके भोक्ताका जड़ीय अभिमान दूर हो जाता है और उनकी आत्माकी इन्द्रियोंमें नित्यकृष्णदासकी स्फूर्ति प्राप्त होती है। तब भक्त अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूपमें नित्यसेवा-विग्रहत्वकी उपलब्धिकर अप्राकृत देहसे श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवाका अधिकार प्राप्त करता है। भक्तकी तत्कालोचित अप्राकृत देहके द्वारा अप्राकृत भावसेवाको भी प्राकृत बुद्धिके दोषके कारण कर्मीगण अपनी भाँति भोगपर प्राप्तिका अनुष्ठान समझते हैं और उसी अपराधके कारण वे अप्राकृत गुरुकी कृपालाभसे वञ्चित होते हैं। इस सम्बन्धमें बृहद्भागवतामृतके १/३/३५ और २/३/४५ श्लोकको टीकामें श्रील सनातन गोस्वामीका विचार द्रष्टव्य है।

भक्तिलताकी दोनों पत्तियोंका अन्तर भाग चिकना, स्निग्ध और सुन्दर होता है। इसलिए उसके साथ रागभक्तिकी तुलना की गई है। यहाँ रागभक्तिसे रागानुगाभक्ति समझना चाहिए। व्रजवासी पार्षदोंमें रागत्मिकभक्ति होती है। उन्हींकी आनुगत्यमयी भक्तिको रागानुगाभक्ति कहते हैं।

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥
विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥
(भ. र. सि. १/२/२७२, २७०)

इष्टदेवमें परमाविष्टतामय स्वाभाविकी प्रगाढ़ तृष्णाका नाम 'राग' है। उस रागमयी भक्तिको रागात्मिकाभक्ति कहते हैं। व्रजवासियोंमें अर्थात् व्रजके परिकरोंमें प्रकाश्य रूपमें यह रागात्मिकाभक्ति होती है। उसीकी अनुगत भक्तिका नाम रागानुगाभक्ति है। "रागात्मिका-भक्ति— 'मुख्या' व्रजवासि-जने। तार अनुगता भक्तिर 'रागानुगा'-नामे॥" (चै. च. म. २२/१४५) जिस प्रकार चक्षु इत्यादि इन्द्रियोंका सौन्दर्यके प्रति स्वाभाविक आकर्षण देखा जाता है, उसकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती है, उसी प्रकार भगवान्के प्रति भक्तोंके स्वाभाविक प्रगाढ़ तृष्णायुक्त प्रेमको राग कहते हैं। यह दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुरादि विविध प्रकारका होता है। श्रीकपिलदेव अपनी माता देवहूतिके प्रति कहते हैं, "येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्" (श्रीमद्भा. ३/२५/३८) अर्थात् "मैं जिसका प्रिय, आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव हूँ।" इस श्लोकमें प्रिय, सुत, सखा आदि कहनेसे श्रीराधादि श्रीकृष्णकी प्रेयसी गोपियोंके मधुरभावसे, श्रीनन्द-यशोदाके वात्सल्यभावसे, श्रीदामादिके सख्यभावसे, रक्तक-पत्रकादिके दास्यभावसे, श्रीकृष्णका सुहृद् प्रेमसम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इन रागात्मिक भक्तोंकी भावपरिपाटीका श्रवण करनेसे साधकभक्तोंके हृदयमें वैसी ही सेवा प्राप्त करनेकी लालसा या लोभ उत्पन्न होता है। वही लोभ रागभजनका एक मूल माध्यम है। इस विशेष कलि कालमें श्रीचैतन्य

महाप्रभु और उनके चरणाश्रित आचार्योंने नित्यसिद्धा श्रीराधाकिङ्करी रूपमञ्जरी, रतिमञ्जरी आदिके आनुगत्यमें मञ्जरीभाव साधनाको सर्वश्रेष्ठ माना है। यह भी विचारणीय है कि लोभमूला या रागभक्ति और शास्त्रशासनमूला या विधिभक्ति इन दोनों प्रकारके आस्वादनके व्यापारमें प्रचुर पार्थक्य रहनेपर भी शुभदा और क्लेशघ्नी इन दोनों प्रकारके गुणोंके उदय विषयमें विशेष कुछ अन्तर नहीं है।

पाँच प्रकारके क्लेश, चार प्रकारके पाप तथा भक्तोंमें विराजमान शुभगुण

"तत्राविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।" प्रारब्धाप्रारब्ध-रूढबीजपापादयस्तन्मया एव। शुभानि दुर्विषयवैतृष्ण्यभगवद्विषय-सतृष्ण्यानुकूल्यकृपाक्षमासत्यसारल्यसाम्यधैर्यगाम्भीर्यमानदत्वामानित्व-सर्वसुभगत्वादयो गुणाश्च "सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" इत्यादि दृष्ट्या ज्ञेयाः ॥३॥

भावानुवाद—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच प्रकारके क्लेश हैं। प्रारब्ध, अप्रारब्ध, रूढ़ और बीज—ये चार प्रकारके पाप भी क्लेशके अन्तर्गत ही हैं। यहाँ शुभ कहनेसे दुःखजनक विषयोंके प्रति वितृष्णा, भगवत्-विषयमें सतृष्णता, आनुकूल्य, कृपा, क्षमा, सत्य, सारल्य, साम्य, धैर्य, गाम्भीर्य, मानदत्व, अमानित्व और सर्वसौभाग्य आदि गुणोंको शुभ कहते हैं। शास्त्रमें भी देखा जाता है "देवगण समस्त गुणोंके साथ भगवद्भक्तोंके हृदयमें स्थित रहते हैं।" इसलिए भक्तोंमें ये सब प्रकारके गुण विराजमान रहते हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने साधनभक्तिके क्लेशघ्नी और शुभदा इन दो गुणोंका उल्लेख किया है। वैधीभक्ति एवं रागभक्ति दोनोंमें क्लेशघ्नी और शुभदा ये गुण उदित होते हैं, ऐसा वर्णन किया है। और वहाँपर क्लेश क्या है? सुख किसको कहते हैं? इसका यहाँ निरूपण कर रहे हैं। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनके साधनपादके तृतीय सूत्रमें लिखा है, "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" अर्थात् "अविद्या, अस्मिता,

राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच प्रकारके क्लेश हैं।” अविद्याके ये पाँच पर्व हृदयमें विद्यमान रहनेपर कर्म या अकर्ममें प्रवृत्ति होती है। उनके फलसे धर्म या अधर्म अर्थात् पाप और पुण्य रूप अदृष्टका फल सुख या दुःख भोग होता है। इन क्लेशोंका वर्णन नीचे किया जा रहा है—

(१) अविद्या—अनित्य वस्तुओंको नित्य समझना, अपवित्रको पवित्र समझना, दुःखको सुख समझना तथा अनात्म वस्तुओंमें आत्मबुद्धि होना, इसे ‘अविद्या’ कहते हैं। अर्थात् देह, गेह, स्त्री, पुत्र, विषय, वैभवादि नश्वर वस्तुओंको नित्य समझना; रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मल, मूत्र आदिसे परिपूर्ण इस अपवित्र शरीरमें पवित्रता या उसके प्रति भोगबुद्धि होना; इन क्षुद्र विषयसुखोंके परिणाम स्वरूप भयावह जन्म, मरण आदि या नरक आदि दुःख होते हैं, इस विषयसुख या घनीभूत दुःखमें सुखबुद्धि रखना; देह, दैहिक आदि अनात्म वस्तुओंमें आत्मबुद्धि रखना; ये सब अविद्याके कार्य हैं।

(२) अस्मिता—दृक्‌शक्ति और दर्शनशक्तिकी एकात्मताका ज्ञान ‘अस्मिता’ कहलाता है। अर्थात् ‘मैं’ और ‘मेरा’ इस प्रकारका जो अभिमान या मोह होता है, उसे ‘अस्मिता’ कहते हैं।

(३) राग—सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिके उपायोंकी कामनाको राग कहते हैं। अथवा अभिलषित वस्तुको पाकर भी पुनः अधिक पानेकी कामनाको ‘राग’ कहते हैं।

(४) द्वेष—सुख या दुःखके कारणके प्रति विरक्तिका नाम ‘द्वेष’ है।

(५) अभिनिवेश—अनुकूल विषयोंको प्राप्त करनेके आधारस्वरूप शरीरमें आसक्त होना और मृत्युसे भयभीत होनेका नाम ‘अभिनिवेश’ है।

पुनः प्रारब्ध, अप्रारब्ध, रूढ़ तथा बीज—ये चार प्रकारके पाप भी क्लेशके अन्तर्गत हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) प्रारब्ध पाप—पूर्व जन्मोंमें किए गए संचित पापोंमेंसे कुछ पाप जिनका फल दुःख-भोग इस वर्त्तमान शरीरमें भुगतना आरम्भ हो गया है अथवा पूर्वजन्मकृत जिन पापोंका फल वर्त्तमान जन्ममें भोगना है, उन्हें ‘प्रारब्ध पाप’ कहते हैं।

(२) अप्रारब्ध पाप—अनेक जन्मोंमें किए हुए पाप जो संचित रूपमें सुरक्षित हैं, जिनका फल अभी तक भुगतना आरम्भ नहीं हुआ है, अथवा जो अनभिव्यक्त रूपमें जमा हैं, उन्हें 'अप्रारब्ध पाप' कहते हैं।

(३) रूढ़ पाप—इन्हें कूट या सूक्ष्म पाप भी कहा जाता है। जो पाप बीजका रूप धारणकर आगेवाले समयमें फूटेंगे और अपना फल लाएँगे, उन्हें 'रूढ़ पाप' कहते हैं। अप्रारब्ध फलकी समष्टि रूपमें ये अवस्थित रहते हैं।

(४) बीज पाप—ये वासनामय पाप हैं। वासनाके रूपमें रहते हैं और प्रारब्धकी पृष्ठभूमि हैं। वासनाके आकारमें चित्तमें ये गुप्तरूपसे रहते हैं और यथा समयमें भगवान्‌की इच्छासे ये प्रारब्ध होकर अपने फलोंका भोग कराते हैं। इनके सम्बन्धमें कुछ विचारणीय है। परतत्त्वसे बहिर्मुख जीवमें रहनेवाली अविद्यासे वासनाकी सृष्टि होती है। उन वासनाओंको भोगनेके लिए देव-मनुष्य-तिर्यगादि देहोंको धारण करना पड़ता है। यह अनादि कालसे चल रहा है। इन योनियोंमें मनुष्यदेह ही जीवोंके लिए कर्ममय देह है, इसके अतिरिक्त देव-तिर्यगादि देह भोगमय देह हैं। उनमें प्रचुर भोग रहनेके कारण जो वासना उदित होती है, वह भोगके अनुकूल होती है और प्रारब्धके साथ ही उनका भोग हो जाता है। वही वासना चित्तमें उदित होनेपर भी बीजके रूपमें संचित नहीं होती, एकमात्र मनुष्यदेह ही नये कर्मबीज संचयके लिए योग्य देह है। विचार करनेसे यह समझा जा सकता है कि मनुष्य भोग करनेकी अपेक्षा वासना (कामना) करनेमें ही अधिक कुशल होते हैं।

तात्पर्य यह है कि अविद्या, अस्मितादि पाँचों प्रकारके क्लेश और प्रारब्धादि चारों प्रकारके पापोंसे उत्पन्न हुए समस्त क्लेश साधनभक्तिके द्वारा, चाहे वह वैधीभक्ति हो या रागानुगाभक्ति हो, विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए साधनभक्तिको 'क्लेशघ्नी' कहा गया है। जैसे कि पद्मपुराणमें कहा गया है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेत विष्णुभक्तिरतात्मनाम्॥

"जिन लोगोंकी आत्मा और उनका शरीर, मन, प्राणादि सभी श्रीकृष्णकी भक्तिमें लगे हुए हैं, उनके अप्रारब्ध पाप, कूट पाप, बीजरूप पाप और फलोन्मुख पाप (जिनका फल भुगतना आरम्भ हो गया है), ये सब भक्तिसे क्रमशः विनष्ट हो जाते हैं।"

श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥
(श्रीमद्भा. ४/२२/३९)

श्रीसनत्कुमार महाराज पृथुसे कह रहे हैं, "हे राजन्! सन्त-महात्मा जिनके श्रीचरणकमलोंके अंगुलिदलकी छिटकती हुई छटाका स्मरणकर अहङ्कारकी हृदयग्रन्थिको, जो कर्मोंसे गठित है, इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डालते हैं कि समस्त इन्द्रियोंका प्रत्याहार करके अपने अन्तःकरणको निर्विषय करनेवाले संन्यासी भी वैसा नहीं कर पाते। तुम उन सर्वाश्रय भगवान् वासुदेवका भजन करो।" अर्थात् साधनभक्तिके द्वारा अस्मिता, जो अविद्याकी वृत्ति विशेष है, अविद्याके नाश होनेपर अविद्याके कार्यसमूह अपने आप अनायास ही विनष्ट हो जाते हैं। साधनभक्ति प्रारब्ध पापोंको विनष्ट कर देती है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्त्तनाद्-यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नुदर्शनात्॥
(श्रीमद्भा. ३/३३/६)

श्रीदेवहूति भगवान् श्रीकपिलदेवसे कह रही हैं, "हे भगवन्! आपके नामोंका श्रवण या कीर्त्तन करनेसे तथा भूले-भटके कभी आपका वन्दन या स्मरण करनेसे ही कुत्तेका मांस खानेवाला चाण्डाल भी सोमयाजी ब्राह्मणके समान पूजनीय हो सकता है; फिर आपका दर्शन करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाए—इसमें तो कहना ही क्या है?" यहाँ भगवान्के नामकीर्त्तन, लीलाकथाओंके श्रवण और स्मरणादिसे कुक्कुर-भोजी चाण्डालको भी सोमयज्ञ करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। इससे यह समझना चाहिए कि साधनभक्ति प्रारब्ध पापोंको भी नाश

करनेवाली है। क्योंकि प्रारब्ध पाप ही देहका आरम्भक होता है, अतएव चाण्डालका दुर्जातित्व प्रारब्धका ही फल है। ब्रह्मज्ञानके द्वारा भी प्रारब्ध पापका विनाश नहीं होता, ज्ञानियोंकी जीवन्मुक्त दशामें प्रारब्धभोग समाप्त होनेपर ही उनको मुक्ति लाभ होती है। इसलिए ब्रह्मज्ञानके द्वारा जो सम्भव नहीं है, वह प्रारब्ध साधनभक्तिके द्वारा अनायास ही विनष्ट हो जाता है, तब अप्रारब्ध, कूट, बीजादि पाप विनष्ट हो जाएँगे, इसमें सन्देह ही क्या है?

साधनभक्तिके फलस्वरूप अविद्यादि क्लेश, प्रारब्धादि पापसमूह विनष्ट होनेपर भक्तोंके देहमें निखिल सद्‌गुण उदय हुआ करते हैं। इसलिए भक्तिको 'शुभदा' कहा गया है। "सर्व महागुणगण वैष्णव-शरीरे। कृष्णभक्ते कृष्णेर गुण सकलि संचारे॥" (चै. च. म. २२/७२) श्रील चक्रवर्ती ठाकुर साधकभक्तोंके कतिपय शुभगुणोंका उल्लेख कर रहे हैं। सर्वप्रथम दुःखजनक विषयोंके प्रति वितृष्णा और भगवत्-विषयोंमें सतृष्णता होती है। भक्तिसाधकोंकी इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला इत्यादिका किञ्चित्‌मात्र भी आस्वादन प्राप्त होनेपर अति दुःखजनक जड़ीय रूप, रसादि विषयोंसे अपने आप वितृष्णा हुआ करती है। क्षुद्र जड़ीय विषयोंकी तो बात ही क्या? ब्रह्मानन्द तक साधकभक्तोंके निकट अत्यन्त तुच्छ हो जाता है—"कृष्णपादपद्म-गन्ध येइ जन पाय। ब्रह्मलोक-आदि सुख ताँरे नाहि भाय॥" (चै. च. अ. ६/१३६)। साधकोंकी समग्र तृष्णा क्रमशः श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें केन्द्रीभूत हो जाती है। किस प्रकारसे अभीष्टदेवकी सेवाकर उन्हें सुखी किया जा सकता है, केवलमात्र यही चिन्ता साधकोंके समग्र हृदयमें अधिकार कर बैठ जाती है। श्रीभक्तिदेवीकी कृपासे साधकोंका चित्त कृष्णानुकूल्यकी भावनासे पूर्ण होनेपर उस हृदय मन्दिरमें एक अपूर्व सौन्दर्यकी सृष्टि होती है, तब कृपा, क्षमा, सत्य, सारल्य, साम्य (समता), धैर्य, गम्भीर्य, मानदत्व, अमानित्व, सर्वसौभाग्यादि गुणसमूह अत्यन्त स्पष्ट रूपसे साधकोंके हृदयमें उदित होकर अपनी-अपनी स्निग्ध अमृतधाराका वर्षण किया करते हैं। उस समय भक्तोंके हृदयमें सचमुच एक अपूर्व शान्ति विराजमान होती है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा देखा जाता है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा. ५/१८/१२)

"जिन साधकभक्तोंकी भगवान्के श्रीचरणोंमें निष्काम भक्ति है, उनके हृदयमें समस्त देवता, धर्म, ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके साथ सदा निवास करते हैं। किन्तु जो भगवान्के भक्त नहीं हैं, उनमें महत्पुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं? वे तो नाना प्रकारके सङ्कल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ते रहते हैं।" अतएव वैष्णवोंका हृदय ही निखिल सद्गुणोंका पूर्ण भण्डार है। श्रीमन्महाप्रभुने श्रील सनातन गोस्वामीसे कहा है—

एइ सब गुण हय वैष्णव-लक्षण।
सब कहा ना जाय, करि दिग्दरशन॥
कृपालु, अकृतद्रोह, सत्यसार सम।
निर्दोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिञ्चन॥
सर्वोपकारक, शान्त, कृष्णैकशरण।
अकाम, अनीह, स्थिर, विजित-षड्गुण॥
मितभुक्, अप्रमत्त, मानद, अमानी।
गम्भीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी॥
(चै. च. म. २२/७४-७७)

अशुभ-निवृत्ति या शुभ-प्राप्ति

"भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः" इत्युक्त-प्रकारेण युगपदपि प्रवृत्तयोरपि तयोः पत्रिकयोरुद्गमतारतम्येनैव तत्तदशुभनिवृत्तिशुभप्रवृत्तितारतम्यादस्त्येव क्रमः। स चातिसूक्ष्मो दुर्लक्ष्योऽपि तत्तत्कार्यदर्शनलिङ्गेन सुधीभिरवसीयते॥४॥

भावानुवाद—श्रीमद्भागवतमें कहा गया है, "भक्ति, परमेश्वरकी अनुभूति और भगवद्भिन्न अन्य पदार्थोंसे विरक्ति—ये तीनों ही एक ही समयमें उदित हुआ करती हैं।" इस कथनसे यह समझा जा सकता है कि पहले भक्तिकल्पलताकी 'क्लेशघ्नी' तथा 'शुभदा' नामक जिन

दो पत्तियोंकी उत्पत्तिकी बात कही गई है, उन दोनोंकी एक ही समयमें उत्पत्ति होती है। फिर भी अल्प या अधिक परिमाणमें पैदा होनेका तारतम्य रहनेसे अशुभोंकी निवृत्ति तथा शुभोंकी प्राप्तिमें भी तारतम्य रहता है, किन्तु अशुभ-निवृत्ति या शुभ-प्राप्तिका एक निर्दिष्ट क्रम है। वह क्रम अत्यन्त सूक्ष्म है और सहज ही लक्ष्य नहीं किया जा सकता। फिर भी उनका कार्य दृष्टिगत होनेके कारण एवं लक्षणों द्वारा सुधीजन उस तारतम्यको या स्थितिको स्थिर कर लेते हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—पहले यहा कहा जा चुका है कि साधनभक्ति, वैधी अथवा रागानुगा, हर प्रकारके अशुभों अर्थात् क्लेशोंको नाश करनेवाली और शुभगुणोंको उत्पन्न करनेवाली है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि साधनभक्ति क्लेशोंका नाश और शुभगुणोंका प्रदान, ये दोनों काम एक ही कालमें कैसे सम्पादन कर सकती है? इसका उत्तर देते हुए श्रीचक्रवर्तिपादने निम्नलिखित श्लोकको उद्धृत किया है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४२)

"जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवनीशक्तिका सञ्चार) और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक ही साथ हो जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक ही साथमें प्राप्ति हो जाती है।"

उसी प्रकार भक्तिलताकी क्लेशघ्नी और शुभदा दोनों पत्तियाँ एक ही कालमें पैदा होनेपर भी उनकी वृद्धिके तारतम्यके अनुसार भक्तिके अविद्या आदि क्लेशोंका नाश और शुभगुणावलियोंके उदयका

तारतम्य हुआ करता है। अतएव निश्चय ही इसका एक सुनिर्दिष्ट क्रम है, किन्तु वह क्रम इतना सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य है कि वह सहज बोधगम्य नहीं है। क्योंकि भोजनमें प्रवृत्त व्यक्तिके प्रति ग्रासके साथ ही युगपत् तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति आंशिक रूपमें हुआ करती है। केवल यही नहीं, एक-एक अन्नके भीतर भी ये तीनों निहित हैं, ऐसा समझना होगा। किन्तु इसका अनुभव जैसे अत्यन्त दुर्लक्ष्य है, भक्ति या भजनके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझना चाहिए। अतएव साधारणतः यह क्रम दुर्लक्ष्य या सूक्ष्म होनेपर भी अभिज्ञ भक्तलोग साधकोंके कार्योंको या उसके लक्षणको देखकर यह स्थिर कर लेते हैं कि उनका क्लेशनाश और उनमें शुभगुणोंका उदय कितना हुआ है।

श्रद्धाका उदय

तत्र भक्त्यधिकारिणः प्रथमं श्रद्धा। सा च तत्तच्छास्त्रार्थे दृढ़प्रत्ययमयी। प्रक्रम्यमाणयत्नैकनिदानरूपतद्विषयकत्वैकनिर्वाहरूपसादरस्पृहा च। सा च सा च स्वाभाविकी केनापि बलादुत्पादिता च।

भावानुवाद—भक्तिके अधिकारियोंमें सर्वप्रथम श्रद्धाका उदय हुआ करता है। यह श्रद्धा भक्तिशास्त्रोंमें वर्णित विषयमें दृढ़ विश्वासमयी होती है। भक्तिशास्त्रोंमें कहे गए साधनोंके अनुष्ठानमें विशेष रूपसे यत्नशील होकर तदनुसार कार्य करनेकी जो आदर सहित इच्छा है, उसे भी श्रद्धा कहा जाता है। पुनः दोनों प्रकारकी श्रद्धा ही दो प्रकारकी होती है—एक स्वाभाविकी और दूसरी जो दूसरे व्यक्तिके द्वारा किसी प्रकार जबरदस्ती पैदा की जाती है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर महोदय भक्तिका स्वरूप, भक्तिकी स्वप्रकाशतादि धर्म और भक्तिका कार्य संक्षिप्त रूपमें वर्णनकर अब यहाँ ग्रन्थके मूल प्रतिपाद्य विषय भक्तिसाधनके स्तरोंका वर्णन आरम्भ कर रहे हैं। श्रद्धा ही भक्तिसाधनका प्रथम स्तर है। भक्तिमन्दिरमें प्रवेश करनेके लिए प्रथम सोपान श्रद्धा है। भक्ति सार्वजनीन और सार्वभौम साधना है, कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थान और अवस्थामें हरिभजन कर सकता है।

श्रीकृष्णभजने हय सबे अधिकारी।
किवा विप्र किवा शूद्र कि पुरुष नारी॥

अतएव भक्तिके साधनमें जाति, कुल, स्थान, काल आदि किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं होनेपर भी श्रद्धाकी अत्यन्त अपेक्षा होती है। क्योंकि श्रीचैतन्यचरितामृत (म. २२/६४) में कहा गया है, "श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी।" केवल भक्तिकी साधनामें ही नहीं, कर्म, ज्ञान, योगादि समस्त साधनाओंमें श्रद्धाकी आवश्यकता होती है। श्रद्धाके बिना किसी भी साधनसे सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीतामें कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥
(श्रीगी. १७/२८)

"हे पार्थ! अश्रद्धापूर्वक जो होम, दान, तपस्या एवं अन्यान्य कर्म अनुष्ठित होते हैं, वे असत् कहे जाते हैं। वे इस लोक या परलोकमें कहीं भी फलदायक नहीं होते।" गीताके इस वचनके अनुसार श्रद्धा विहीन सभी साधनाएँ निष्फल बतलाई गई हैं। महर्षि पतञ्जलिने भी लिखा है, "श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।" अर्थात् चित्तकी सम्प्रसन्नताको ही श्रद्धा कहा जा सकता है। चित्तकी सम्प्रसन्नता कहनेसे चित्तकी सन्दिग्धतारूपी मल दूर होनेपर वस्तुविषयक आनुकूल्यकी प्राथमिक बीजावस्थाका बोध होता है, यही श्रद्धा है। अतः यह देखा जा रहा है कि किसी विषयमें सन्देहका नाश और वस्तुके विषयमें विश्वास करना ही श्रद्धा है। मङ्गलरूपिणी यह श्रद्धा माताकी भाँति सब समय योगीकी रक्षा किया करती है। श्रद्धावान व्यक्ति ही कार्य सिद्धि करनेमें समर्थ होता है। यह श्रद्धा जितनी प्रगाढ़ होती जाती है, उसी परिमाणमें साधकोंका चित्त अनुकूल होकर साधकको सिद्धिकी ओर अग्रसर करा देता है।

कर्म, ज्ञान, योगादि सभी साधनाओंमें श्रद्धाकी आवश्यकता है, यह बात ठीक है। किन्तु भक्तिसाधनामें जो श्रद्धा होती है, वह अत्यन्त

विलक्षण होती है। वह निर्गुण और चिन्मयी भक्तिसाधनाका प्रथम स्तर या सोपानविशेष है। प्रेम ही भक्तिसाधनका अन्तिम सोपान है। श्रीमत् रूपगोस्वामीने लिखा है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥
(भ. र. सि. १/४/१५-१६)

अर्थात् "सर्वप्रथम श्रद्धा, तदनन्तर साधुसङ्ग, उसके पश्चात् भजनक्रिया, तदनन्तर अनर्थनिवृत्ति, उसके पश्चात् निष्ठा, तदनन्तर रुचि और उसके बाद आसक्ति, तत्पश्चात् भाव और भावके बादमें प्रेमका उदय होता है। साधकोंके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होनेका यह क्रम निरूपित हुआ है।" श्रील ग्रन्थकार महोदयने भक्तिसाधनके प्रथम सोपान स्वरूप श्रद्धाके दो लक्षण बतलाये हैं। पहला—भक्तिशास्त्रमें वर्णन किए गए विषयोंमें दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा है। श्रील कविराज गोस्वामीने भी लिखा है, "'श्रद्धा'-शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय। कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥" (चै. च. म. २२/६२) अर्थात् भक्तिशास्त्रमें यथार्थ विश्वास, शास्त्रोंके अर्थमें निश्चयात्मिका बुद्धि, यत्नपूर्वक उस विषयमें अनुभवकी चेष्टा एवं समाधानात्मक युक्ति; इन सब सिद्धान्तोंमें सुदृढ़ विश्वास होनेपर भगवद्भजनके बिना जीवन व्यर्थ बोध होगा, साथ-ही-साथ हरिके कारुण्यादि गुण और पतितोद्धार सम्बन्धी लीलाकथाओंका श्रवण करनेसे चित्तमें आशाका सञ्चार होनेपर चित्त प्रफुल्लित होता है। जड़ीय नश्वर भोगोंके प्रति घृणा या अरोचकता स्वाभाविक हो जाती है। भजनहीन वृथा जीवन-निर्वाह अत्यन्त असहनीय होता है और श्रीहरिके श्रीचरणोंमें शरणागति भी स्वाभाविक होती है।

श्रीजीवगोस्वामीने श्रद्धा और शरणागतिको एकार्थक अर्थात् एक ही अर्थवाला बतलाया है, "श्रद्धाशरणापत्त्योरैकार्थं लभ्यते। तच्च युक्तम्। श्रद्धा हि शास्त्रार्थविश्वासः। शास्त्रञ्च तदशरणस्य भयं तच्छरणस्यासभयं

वदति। ततो जातायाः श्रद्धायास्तच्छरणापत्तिरेव लिङ्गमिति॥" (भक्तिसन्दर्भ १७३ अनु.) अर्थात् "श्रद्धा एवं शरणापत्तिका एक ही तात्पर्य समझना चाहिए, क्योंकि शास्त्रोंके अर्थमें दृढ़ विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। शास्त्रोंमें भी भगवान्के श्रीचरणोंमें शरणागत होनेवाले भक्तोंके लिए अभय, और जो शरणागत नहीं हैं उनके लिए भयका उपदेश किया है। अतएव शास्त्रार्थमें दृढ़ विश्वासरूप श्रद्धा उदित होनेपर शरणागति ही उसका लक्षण है। अर्थात् शरणापत्तिके द्वारा ही श्रद्धाका परिचय हुआ करता है।" यह शरणागति साधकोंके हृदयमें बद्धमूल नहीं होनेसे वस्तुतः श्रीभगवान्के चरणकमलोंका भजन सम्भव नहीं है। जिन साधकोंको जिस परिमाणमें शरणागति होती है, वे भजनमें उतने ही अग्रसर होते हैं। अधिक क्या कहा जाए, शरणागति ही भक्तिसाधनाकी जीवनीशक्ति है। शरणागत भक्त ही पराशान्ति, भागवतीय परमानन्द एवं उनके परमधामको प्राप्त होते हैं। श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(श्रीगी. १८/६२)

अर्थात् "सब प्रकारसे भगवान्के शरणापन्न हो जाओ, ऐसा होनेपर तुमको पराशान्ति और उनका परम शाश्वत धाम प्राप्त होगा।" श्रील ग्रन्थकार महोदय श्रद्धाके द्वितीय लक्षणमें कह रहे हैं, शास्त्रोक्त विषयके अनुष्ठानमें विशेष रूपसे यत्नशील होकर उसके अनुसार कार्यनिर्वाहके लिए जो सादर स्पृहा देखी जाती है, उसे भी 'श्रद्धा' कहते हैं। अर्थात् श्रद्धाका पहला लक्षण शास्त्रोंके अर्थोंमें सुदृढ़ विश्वास उदित होनेपर, उसके कार्यस्वरूप दूसरा लक्षण अवश्य ही प्रकाशित होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उस समय साधक शास्त्रवर्णित विषयोंके अनुष्ठानमें विशेष यत्नवान होगा और शास्त्रमें कहे गए कार्योंके निर्वाह करनेमें भी उसकी आदरयुक्त स्पृहाका उदय होगा।

श्रीजीवगोस्वामिपादने भक्तिसन्दर्भ (१७३ अनु.) में इस विषयमें लिखा है—"किञ्च जातायां श्रद्धायां सिद्धावसिद्ध्यौ च स्वर्णसिद्धिलिप्सोरिव

सदा तदनुवृत्तिचेष्टैव स्यात्। सिद्धिश्चात्रान्तःकरण-कामादिदोषक्षयकारि-परमानन्दपरमकाष्ठागामि-श्रीहरिस्फुरणरूपैव ज्ञेया। तस्यां स्वार्थसाधनानुप्रवृत्तौ च दम्भ-प्रतिष्ठालिप्सादिमयचेष्टालेशोऽपि न भवति, न सुतरां ज्ञानपूर्वकं महदवज्ञादयोऽपराधाश्चापतन्ति, विरोधादेव। ... यदि वा श्रद्धावतोऽपि प्रारब्धादिवशेन विषय-सम्बन्धाभ्यासो भवति, तथापि तद्बाधया विषय-सम्बन्ध-समयेऽपि दैन्यात्मिका भक्तिरेवोच्छलिता स्यात; ... शास्त्रीय श्रद्धायान्तु जातायां सुदुराचारत्वायोगः स्यात्, 'परपत्नी-परद्रव्य' इत्यादि-विष्णुतोषणशास्त्रविरोधात्।" अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न होनेपर सिद्धि हो या न हो, जिस विशेष उपायके द्वारा स्वर्णकी प्राप्ति होती है, लोगोंका जैसे उस विषयमें निरन्तर उद्यम दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार श्रद्धावान साधकोंकी महत्पुरुषोंके आनुगत्यमय भजनमें निरन्तर चेष्टा देखी जाती है। यहाँ 'सिद्धि' कहनेसे अन्तःकरणके कामादि दोषोंको क्षय करनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठा प्राप्त श्रीहरिकी स्फूर्तिको समझना होगा। सिद्धिप्राप्त श्रद्धावान सिद्धिके उत्कर्षके लिए और असिद्ध श्रद्धालु सिद्धिकी प्राप्तिके लिए तत्पर हो जाते हैं।

ऐसे श्रद्धालुओंके हृदयमें लेशमात्र भी दम्भ और प्रतिष्ठाकी आशा नहीं रहती। श्रद्धालु व्यक्ति कभी भी जान-बूझकर महत्पुरुषोंकी अवज्ञा आदि अपराध नहीं करते, क्योंकि यह भजनसिद्धिका प्रबल विरोधी है। श्रद्धालु व्यक्तियोंके पूर्व संस्कारके फलसे यदि विषयोंके साथ उनका सम्बन्ध भी हो जाता है, तो भी उसे भजनके लिए विघ्न समझकर उनकी दैन्यात्मिका भक्ति ही प्रकाशित होती है। श्रद्धालु व्यक्तियोंमें कभी भी दुराचारिता प्रकाशित नहीं होती, क्योंकि शास्त्र कहते हैं, "परपत्नीपरद्रव्यपरहिंसासु यो मतिम्। न करोति पुमान् भूप तुष्यते तेन केशवः॥" (विष्णुपुराण) "जो व्यक्ति परपत्नी, परद्रव्य और परहिंसामें लिप्त नहीं होता, उससे विष्णु प्रसन्न होते हैं।" इन सब प्रमाणोंसे यह जाना जाता है कि शास्त्रीय श्रद्धा उत्पन्न होनेपर श्रद्धालु साधक भजनके प्रबल विघ्नदायक महत् अपराधादि और लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदिको त्यागकर अनायास ही क्रमशः ऊपरवाले सोपानोंको अतिक्रमकर प्रेमराज्यमें उपनीत होनेमें सक्षम होते हैं। इसलिए साधकोंको श्रद्धाके स्तरको भलीभाँति समझना चाहिए। जिस प्रकार

कोई आकाशभेदी सुरम्य भवनका निर्माण करनेके लिए सबसे पहले सुदृढ़ भित्तिकी स्थापना करनी होती है। भित्ति सुदृढ़ नहीं होनेपर वह भवन शीघ्र ही भूमिसात् हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके सुखसाधनके लिए सुरम्य भक्तिसौधकी रचना करनेके लिए श्रद्धारूप भित्तिको सुदृढ़ करना होगा। क्योंकि श्रद्धाके अनुरूप ही भक्तिका अधिकार निरूपण किया जाता है—

श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी।
'उत्तम', 'मध्यम', 'कनिष्ठ'—श्रद्धा-अनुसारी॥
शास्त्रयुक्त्ये सुनिपुण, दृढ़श्रद्धा याँर।
'उत्तम-अधिकारी' सेइ तारय संसार॥
शास्त्र-युक्ति नाहि जाने दृढ़, श्रद्धावान्।
'मध्यम-अधिकारी' सेइ महाभाग्यवान्॥
याहार कोमल श्रद्धा, से 'कनिष्ठ' जन।
क्रमे क्रमे तेंहो भक्त हइये 'उत्तम'॥
(चै. च. म. २२/६४-६७)

अर्थात् श्रद्धालु व्यक्ति ही भक्तिका अधिकारी होता है। श्रद्धाके तारतम्यके अनुसार ही उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भक्तोंका विवेचन होता है। शास्त्रयुक्तिमें सुनिपुण और दृढ़ श्रद्धावान व्यक्ति उत्तम अधिकारी हैं। वे संसारका उद्धार करते हैं। जो शास्त्रयुक्ति दृढ़ रूपसे नहीं जानते, किन्तु दृढ़ श्रद्धावान हैं, ऐसे मध्यम अधिकारी महाभाग्यवान होते हैं। जिनकी श्रद्धा कोमल है, वे कनिष्ठ भक्त हैं। क्रमशः भक्तोंके सङ्गसे वे उत्तम भक्त होंगे।

श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने उल्लिखित दोनों प्रकारकी श्रद्धाओंको पुनः दो भागोंमें विभक्त किया है। पहलीका नाम 'स्वाभाविकी' और दूसरीका नाम 'बलपूर्वक उत्पादित'। श्रीजीवगोस्वामीने भी दो प्रकारकी श्रद्धाओंका उल्लेख किया है—एक शास्त्रीय श्रद्धा और दूसरी लौकिक श्रद्धा। महत्पुरुषोंके सङ्ग और उनकी कृपासे श्रद्धाका उदय होता है। "सत्सङ्गाज्जायते श्रद्धा।" श्रीमद्भागवतमें भी भगवान् श्रीकपिलदेवने अपनी माता देवहूतिको कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथा।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि　　　　श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/२५)

"सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली वीर्यवती कथाएँ होती हैं। उनका श्रवण करनेसे शीघ्र ही अविद्या-निवृत्तिके पथ स्वरूप मुझमें पहले श्रद्धा, पीछे रति और अन्तमें प्रेम भक्तिका उदय होता है।" इस श्लोकमें महत्पुरुषोंके सङ्गसे ही श्रद्धा प्राप्त होती है, ऐसा विदित होता है। इस प्रकार महत्सङ्ग या महत्कृपाजनित श्रद्धा ही स्वाभाविकी है। इसे शास्त्रीय श्रद्धा भी कहा गया है। प्रेमको प्राप्त करानेवाले शुद्ध भजनमें इसीकी उपयोगिता है। बलपूर्वक उत्पन्न एवं लौकिक श्रद्धा—जो सत्सङ्ग और सत्कृपासे उत्पन्न नहीं है, बल्कि दूसरे लोगोंको देखकर अनुष्ठित हुआ करती है, वैसी श्रद्धाकी शुद्ध भजनमें कोई विशेष उपयोगिता नहीं है। वैसा श्रद्धालु साधक महत्सङ्ग और महत्कृपा प्राप्त होनेपर स्वाभाविकी या शास्त्रीय श्रद्धा लाभकर धन्य हो सकता है।

श्रीजीवगोस्वामीने पुनः रुचिप्रधान और विचारप्रधान लोगोंमें श्रद्धा-प्राप्तिका एक क्रम दिखलाया है। वह इस प्रसङ्गमें विचारणीय है। विचारप्रधान भक्तिमें श्रद्धा लाभ करनेका क्रम इस प्रकार है—"तत्र प्रथमं तावत् तत्तत्सङ्गाज्जातेन तत्तच्छ्रद्धा-तत्तत्परस्पराकथा-रुच्यादिना जात-भगवत्साम्मुख्यस्य तत्तदनुषङ्गेनैव तत्तद्भजनीये भगवदाविर्भावविशेषे तद्भजनमार्गविशेषे च रुचिर्जायते। ततश्च विशेषबुभुत्सायां सत्यां तेष्वेकतोऽनेकतो वा श्रीगुरुत्वेनाश्रितात् श्रवणं क्रियते। तच्चोपक्रमोप-संहारादिभिरर्थावधारणम्। पुनश्चासम्भावनाविपरीत-भावनाविशेषवता स्वयं तद्विचाररूपं मननमपि क्रियते। ततो भगवतः सर्वस्मिन्नेवाविर्भावे तथाविधोऽसौ सदा सर्वत्र विराजत इत्येवं रूपा श्रद्धा जायते। ... इत्येवं विचारप्रधानानां मार्गो दर्शितः।" (भक्तिसन्दर्भ २०२ अनु.)

अर्थात् सर्वप्रथम सत्सङ्गके फलसे सत्यके प्रति श्रद्धा, सत्पुरुषोंके प्रति श्रद्धा, सत्पुरुषोंके मुखनिःसृत हरिकथामें रुचि उत्पन्न होनेपर

भगवत्-साम्मुख्य होता है। सत्सङ्गके प्रभावसे उनके हृदयमें भजनीय भगवान्‌के आविर्भाव विशेषमें और उनके भजनमें विशेष रुचि उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् उनके सम्बन्धमें विशेष कुछ जाननेकी इच्छा होनेपर उन महत्पुरुषोंमेंसे किसी एकको या अनेकोंको (श्रवण) गुरुके रूपमें आश्रयकर, उनके निकट श्रवण करना होता है। यहाँ 'श्रवण' का तात्पर्य उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति द्वारा शास्त्रार्थको भलीभाँति धारण करना है।

तदनन्तर ऐसा अनुभव होता है कि भगवान् अपने सब प्रकारके आविर्भावोंमें तदनुरूप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और परम करुण रूपमें विराजमान हैं। ऐसा होनेपर भगवद्भजन करना ही परम कर्त्तव्य है यह विचार निश्चित होता है—इसीको यथार्थ शास्त्रीय श्रद्धा कहते हैं। यह विचारप्रधान लोगोंकी श्रद्धा लाभका मार्ग है। "रुचिप्रधानान्तु न तादृग् विचारापेक्षा जायते, किन्तु साधुसङ्ग-लीलाकथा-श्रवण-रुचि-श्रद्धा-श्रवणाद्यावृत्तिरूप एवासौ मार्गः।" अर्थात् रुचिप्रधान साधकोंको ऐसे विचारकी अपेक्षा नहीं होती। उनको सत्सङ्गमें लीलाकथा श्रवण, तत्पश्चात् कथाश्रवणमें रुचि, अनन्तर श्रद्धालाभ हुआ करती है। इस प्रकार श्रद्धाके साथ-साथ पुनः-पुनः श्रवणादिका अनुष्ठान रुचिप्रधान उपासकोंके लिए निर्दिष्ट हुआ है।

साधुसङ्ग

ततश्चाश्रितगुरुचरणस्य तस्य जिज्ञास्यमानसदाचारस्य तच्छिक्षयैव सजातीयाशयस्निग्धभक्त्यभिज्ञसाधुसङ्गभाग्योदयः।

भावानुवाद—श्रद्धाके उत्पन्न होनेपर साधुसङ्ग प्राप्त होता है। तत्पश्चात् भगवान्‌के परमप्रिय भक्त श्रीगुरुका श्रीचरणाश्रय ग्रहण और उनसे शिक्षा, दीक्षा और भजनशिक्षा प्राप्त की जाती है और सदाचारादि शिक्षाके द्वारा सजातीयाशय स्निग्ध एवं भक्तिपथमें अभिज्ञ साधुओंका सङ्गरूप सौभाग्य उदय हुआ करता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्ती ठाकुर पहले श्रद्धाके स्तरोंका वर्णनकर अब साधुसङ्गके स्तरका वर्णन कर रहे हैं। श्रद्धा

उत्पन्न होनेपर श्रीगुरुका श्रीचरणाश्रय ग्रहणकर दीक्षा, भजनपरिपाटी और वैष्णव सदाचार आदिकी शिक्षा ग्रहण करनी होती है। श्रील जीवगोस्वामिपादने (भ. र. सि. १/४/१५ श्लोककी टीकामें) लिखा है—"आदौ प्रथमे साधुसङ्गशास्त्रश्रवणद्वारा श्रद्धा तदर्थविश्वासः। ततः प्रथमानन्तरः द्वितीयः साधुसङ्गो भजनरीति-शिक्षा-निबन्धनः।" अर्थात् "सर्वप्रथम साधुसङ्गमें भक्तिशास्त्रोंके श्रवणके द्वारा श्रद्धा अथवा साधुशास्त्रोंके वाक्यमें सुदृढ़ विश्वास होता है, अतःपर ऐकान्तिक भजन कर्त्तव्य है, ऐसी उपलब्धिकर दूसरी बार साधुसङ्ग अर्थात् सद्गुरुचरणाश्रय और उनके निकट भजनपरिपाटीकी शिक्षा ग्रहण करनी होती है। तात्पर्य यह है कि साधुशास्त्र श्रीगुरुपादाश्रयको ही भक्तिमन्दिरमें प्रवेशका द्वार बतलाते हैं। श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर अपने एक कीर्त्तनमें लिखते है कि "हरिनामेर नौका खानि, श्रीगुरु कण्डारी।" अर्थात् श्रीगुरुदेव ही भवसागरको पार करानेके लिए कर्णधार हैं, उनके श्रीचरणाश्रयके बिना इस भवसागरको पार करने और भक्ति प्राप्त करनेके लिए कोई भी अन्य उपाय नहीं है। इसलिए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
(श्रीमद्भा. ११/३/२१)

अर्थात् "इसलिए जो परम कल्याणको जानना चाहता है, उसे गुरुदेवकी शरण लेनी चाहिए। गुरुदेव ऐसे हों, जो शब्दब्रह्म—श्रुति शास्त्रमें पारदर्शी विद्वान हों, जिससे वे शास्त्रोंका तात्पर्य यथार्थ रूपमें शिष्यको समझा सकें; और साथ ही परब्रह्ममें परिनिष्ठित तत्त्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभवके द्वारा प्राप्त हुई रहस्यकी बातोंको बतला सकें। उनका चित्त शान्त हो और व्यवहारके प्रपञ्चमें विशेष प्रवृत्त न हो।" तात्पर्य यह है कि महत्कृपासे जो श्रद्धा प्राप्तकर सद्गुरुपादाश्रय करनेके लिए इच्छुक हैं, उनको निम्नलिखित लक्षणयुक्त साधुपुरुषोंका चरणाश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। (१) जो वेद और वेदके तात्पर्यज्ञापक श्रीमद्भागवत आदि भक्तिशास्त्रोंमें पारदर्शी हों और

जो शास्त्रीय प्रमाण और युक्ति द्वारा शिष्यके संशयको छेदन करनेमें समर्थ हों, (२) जिन्होंने सुदृढ़ विश्वास और निष्ठाके साथ भगवान्‌का भजनकर भगवदनुभूति प्राप्त की है, (३) जिन्होंने भगवान्‌की कृपा-शक्ति प्राप्तकर अपरोक्षानुभव प्राप्त किया है तथा शिष्यके हृदयमें भी शक्ति सञ्चार करनेमें सक्षम हैं और (४) जो काम, क्रोध, लोभादिके वशीभूत नहीं है। जिनमें ये चार लक्षण विद्यमान हो, वे सद्‌गुरु पदवाच्य हो सकते हैं। दूसरी ओर गुरुके रूपमें परिचय देनेवाले व्यक्तिमें सत्कुलमें जन्म इत्यादि अनेकों गुणोंके रहनेपर भी, यदि उपर्युक्त चार गुण न हों, तो वे गुरुके रूपमें ग्रहणीय नहीं हो सकते। "जेइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय।" (चै. च. म. ८/१२७) श्रीमन् महाप्रभुके मुख-निसृत इन वचनोंसे यह ज्ञात होता है कि सद्‌गुरुको कृष्णतत्त्ववेत्ता अवश्य होना चाहिए। ऐसे कृष्णतत्त्व जाननेवाले महापुरुषके द्वारा प्राप्त दीक्षामन्त्र ही जीवोंका पुरुषार्थ या भगवत्-प्राप्तिका प्रथम अङ्कुरोन्मुख-बीज है। वही दीक्षा एक दिन भगवत्-प्रेमफल प्रदानकर साधकोंको धन्य कर सकती है, यही दीक्षाका तात्पर्य है।

श्रीलरूपगोस्वामिपादने दीक्षाके सम्बन्धमें कहा है—"गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादि शिक्षणम्। विश्रम्भेण गुरोः सेवा।" अर्थात् "(१) श्रीगुरुपादाश्रय, (२) उनसे श्रीकृष्णमन्त्रमें दीक्षा ग्रहणपूर्वक भागवत धर्मादिकी शिक्षा एवं (३) विश्वासपूर्वक गुरुदेवकी सेवा—इन तीन अङ्गोंसे गुरुपादाश्रय सम्पन्न हुआ करता है।" श्रील कविराज गोस्वामिपादने भी लिखा है, "गुरुपादाश्रय, दीक्षा, गुरुर सेवन।" (चै. च. म. २२/११२) तात्पर्य यह है कि दीक्षामन्त्र ग्रहणसे पूर्व श्रीगुरुके समीप वासकर तन-मन-वचनके द्वारा गुरुको प्रसन्न करना कर्त्तव्य है। इसीको गुरूपसत्ति कहते हैं। इसमें गुरु और शिष्य परस्परके स्वभाव और लक्षण आदिकी परीक्षा कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इसका एक महामूल्यवान फल यह होता है कि वैसी निष्कपट सेवाके द्वारा सन्तुष्ट परमकृपार्द्र श्रीगुरुपादपद्मसे यथार्थ दीक्षा प्राप्त होती है। यह शिष्योंके लिए परमपुरुषार्थ है। ऐसा नहीं होनेपर गुरु और शिष्य दोनोंका ही भजनपथमें विघ्न अवश्यम्भावी है। गुरु वैष्णवभाव रहित होनेपर शिष्यकी भजनसिद्धि नहीं होती और

शिष्य आनुगत्यविहीन होनेपर गुरुके भजनमें भी विघ्न अवश्यम्भावी है।

शास्त्र कहते हैं—

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः॥
(ह. भ. वि. ५ विलास, ३ संख्याधृत विष्णुयामल वाक्य)

अर्थात् "जो अनुष्ठान दिव्यज्ञान (सम्बन्धज्ञान) प्रदान करता है एवं पापों (पाप, पापबीज और अविद्या) का जड़के साथ विनाश करता है, उस अनुष्ठानको भगवत्तत्त्वविद् पण्डितगण 'दीक्षा' के नामसे पुकारते हैं।" श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइकाले कृष्ण तारे करे आत्मसम॥
सेइ देह करे तार चिदानन्दमय।
अप्राकृत-देहे ताँर चरण भजय॥
(चै. च. अ. ४/१९२-१९३)

दीक्षा ग्रहणके पश्चात् सद्गुरुके निकट भजनरीति, भगवत्-धर्म और वैष्णव सदाचार इत्यादिकी शिक्षा हुआ करती है, अतःपर विश्वासके साथ गुरुसेवा करनी पड़ती है। दीक्षासे पूर्व गुरुदेवकी सेवाका मुख्य फल गुरुकृपारूप मन्त्रदीक्षा लाभ करना है और दीक्षाके पश्चात् सेवाका फल साधनपथमें निर्विघ्न होना और शीघ्र ही प्रेमभक्ति प्राप्तकर कृतार्थ होना है। श्रील रूपगोस्वामिपादने "विश्रम्भेण गुरोः सेवा" कहा है। वह विश्रम्भ या विश्वास क्या है? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीमद्भागवत ४/२८/३४ श्लोककी सारार्थदर्शिनी टीकामें गुरुसेवाके विषयमें लिखा है—"सुतान् हित्वेति पतिव्रता पत्युरिव गुरोः सेवायां प्रवृत्तः शिस्यः श्रवणकीर्त्तनादीन्यपि भोगान् तदुत्थान प्रेमानन्दानपि गृहान् तदुचितविविक्तस्थलमपि नैवापेक्षेत। श्रीगुरु-सेवयैव सुखेन सर्वसाध्यसिद्धार्थमित्युपदेश व्यञ्जितः। ... गुरुसेवाया एव वेदेन सर्वाधिक्यस्योक्तत्वात्।" अर्थात् जिस प्रकार पतिव्रता रमणी

पतिके सेवामें मग्न होकर पुत्रादिकी भी अपेक्षा नहीं करती, उसी प्रकार एकमात्र गुरुसेवाके द्वारा अनायास ही सब प्रकारके साध्योंकी सिद्धिके लिए गुरुसेवानिष्ठ शिष्य श्रवण-कीर्त्तनादिकी भी अपेक्षा नहीं करेंगे। पतिव्रता रमणी जिस प्रकार भोग और गृहकी अपेक्षा नहीं रखती, गुरुसेवामें प्रवृत्त शिष्य उसी प्रकार श्रवण-कीर्त्तनादिके प्रेमानन्द और तदुचित भजनोपयोगी निर्जन स्थान आदिकी भी अपेक्षा नहीं रखेंगे। वेदोंमें गुरुसेवाकी ही सर्वाधिक प्रशंसा की गई है। श्रील नरोत्तम ठाकुरने भी लिखा है—"श्रीगुरुचरणे रति, सेइ से उत्तमागति, ये प्रसादे पूरे सर्व आशा।"

श्रीमत् जीवगोस्वामिपादने भी भक्तिसन्दर्भमें लिखा है—"तत्र यद्यपि शरणापत्त्यैव सर्वं सिध्यति ... तथापि वैशिष्ट्यलिप्सुः शक्तश्चेत् ततः भगवच्छ्रास्त्रोपदेष्टृणां भगवन्मन्त्रोपदेष्टृणां वा श्रीगुरुचरणानां नित्यमेव विशेषतः सेवां कुर्य्यात्। तत्प्रसादो हि स्व स्व नानाप्रतीकारदुस्त्यज्यानर्थहानौ परमभगवत्प्रसादसिद्धौ च मूलम्।" अर्थात् यद्यपि एकमात्र शरणापत्तिके द्वारा सर्वसिद्धि होती है, तथापि भगवद्भजनरस पानके लिए विशेष इच्छुक व्यक्ति यदि समर्थ हो, तो वह भगवत्-शास्त्रोंका उपदेश करनेवाले शिक्षागुरु अथवा भगवन्मन्त्रके उपदेशक दीक्षागुरुकी विशेष रूपसे नित्य सेवा करेंगे। क्योंकि बहुत चेष्टा करनेपर भी जिन अनर्थोंसे छुटकारा प्राप्त नहीं होता, उन अनर्थोंके विनष्ट करने और श्रीभगवान्‌को सुप्रसन्न करनेके विषयमें गुरुकी प्रसन्नता ही मूल कारण है। इसलिए भगवद्भक्तिके साधन और उसका फल अर्थात् सर्वानर्थ निवृत्तिपूर्वक भगवत्-प्रेम और भगवान्‌की सेवाकी प्राप्तिके विषयमें गुरुकी प्रसन्नता ही मूल कारण है। इन सब वचनोंमें विश्वासपूर्वक—निष्ठापूर्वक श्रीगुरुदेवकी सेवा करनी चाहिए।

इस प्रकार सद्‌गुरुके श्रीचरणोंका आश्रय करनेके पश्चात् श्रीगुरुके समीप वैष्णव-सदाचारादिकी शिक्षा होती है तथा सजातीयाशय स्निग्ध और भक्तिपथमें अभिज्ञ महत्पुरुषोंका सङ्गरूप सौभाग्य उदय होता है। भक्तिसाधकके लिए श्रीगुरुचरणाश्रयके पश्चात् महाभागवत श्रीवैष्णवोंका सङ्ग एकान्त आवश्यक है। जिनका आदर्श देखकर भक्तिजीवनका गठन किया जा सकता है, ऐसे महाभागवत सद्‌वैष्णवोंका सङ्ग और

उनकी सेवासे ही साधकोंके भजनानुरागकी प्रबलता होती है। श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है—"सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे।" भक्तिसाधनमें ऐश्वर्य-माधुर्यादि एवं दास्य, सख्यादि भावोंके नाना प्रकारके विभाग रहनेसे साधक जिस जातीय भजनका अनुष्ठान करता है, उसी समजातीय भक्तिवासनावाले साधुका सङ्ग ही भजनमें अग्रसर कराता है। अपनेसे श्रेष्ठ भजनाभिज्ञ एवं परमकृपालु स्निग्ध कोमल स्वभाववाले सतत स्नेहशील साधुओंका सङ्ग ही करना चाहिए। इस प्रकार साधुके सङ्गमें भजन करना ही महासौभाग्यका परिचायक है, क्योंकि ऐसे महतोंका दर्शन, स्पर्शन, सम्भाषणादि और भगवत्-प्रसङ्गमें सङ्गादिके द्वारा साधकके हृदयमें साधनभक्ति, भाव और भक्तिरस शीघ्र ही सञ्चारित होकर साधकको कृतार्थ कर देते हैं। इसलिए श्रीगुरुदेव भी साधकोंको ऐसा सङ्ग प्राप्तकर धन्य होनेके लिए उपदेश किया करेंगे।

भजनक्रिया

ततो भजनक्रिया। सा च द्विविधा अनिष्ठिता निष्ठिता च। तत्र प्रथममनिष्ठिता क्रमेणोत्साहमयी घनतरला व्यूढविकल्पा विषयसंगरा नियमाक्षमा तरङ्गरङ्गिणीति षड्विधा भवन्तीति स्वाधारं विलक्षयति॥५॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् भजनक्रियाका वर्णन कर रहे हैं। भजनक्रिया दो प्रकारकी होती है—अनिष्ठिता और निष्ठिता। पहले अनिष्ठिता भजनक्रियाको बतला रहे हैं। अनिष्ठिता भजनक्रिया क्रमशः उत्साहमयी, घनतरला, व्यूढ़विकल्पा, विषयसंगरा, नियमाक्षमा और तरङ्गरङ्गिणी छह प्रकारकी होती है। ये अपने आधारस्वरूप भक्तमें अपने-अपने लक्षणोंको प्रकाशित करती हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—सद्गुरुचरणाश्रय और सजातीयाशय स्निग्ध भक्तोंका सङ्ग होनेपर साधककी भजनक्रिया आरम्भ होती है। साधनक्रिया कहनेसे श्रीगुरुके द्वारा कहे गए श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, अर्चनादि नौ प्रकारके भक्तिके अनुष्ठानको समझना चाहिए। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीसे कहा है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
'कृष्णप्रेम', 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति॥
ता'र मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्त्तन।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥
(चै. च. अ. ४/७०-७१)

अर्थात् भजनके अनेक प्रकारके भेद रहनेपर भी श्रीमद्भागवतमें उल्लिखित श्रवण, कीर्त्तनादि नवविधाभक्तिका अनुष्ठान श्रेष्ठ है। क्योंकि यह नवधाभक्ति श्रीकृष्णप्रेम और श्रीकृष्णसेवा दान करनेमें महाशक्ति धारण करती है। पुनः नवधाभक्तिमें भी नामसंकीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ भजनाङ्ग है, क्योंकि नाम-नामी अभिन्न होनेपर निरपराध होकर नामसंकीर्त्तनसे साधक सहसा प्रेम प्राप्त कर सकता है। इन सब अङ्गोंका अनुष्ठान करना ही भजनक्रिया है। यह भजनक्रिया दो प्रकारकी होती है—अनिष्ठिता और निष्ठिता। निष्ठिता भजनक्रियामें किसी प्रकारकी शिथिलता या भजनच्युतिकी सम्भावना नहीं होती, किन्तु अनिष्ठिता भजनक्रियामें भजनकी शिथिलताका अवकाश रहता है। यह अनिष्ठिता भजनक्रिया क्रमशः उत्साहमयी, घनतरला, व्यूढ़विकल्पा, विषयसंगरा, नियमाक्षमा और तरङ्गरङ्गिणी छह प्रकारकी होती है। अनिष्ठिता भजनदशामें भक्तके चित्त और मनमें क्रमशः उल्लिखित छह प्रकारकी दशाएँ उदित होकर अपने आधार भक्तोंमें अपने लक्षणको प्रकाशकर भक्त अनिष्ठिता दशाके कौन-से स्तरमें है, यह बोध करा देती हैं। श्रीग्रन्थकार महोदय स्वयं इसके बाद इन छह प्रकारकी दशाओंका दृष्टान्तके साथ विशद् रूपसे वर्णन कर रहे हैं।

उत्साहमयी भजनक्रिया

तत्रोत्साहमयी प्रथममेव शास्त्रमध्येतुमारभमाणस्य सर्वलोकश्लोक्यमान-पाण्डित्यमुपपन्नमिव स्वस्मिन् मन्यमानस्य वटोरिव उत्साहं स्वाधिकरणस्य प्रचुरयतीत्युत्साहमयी॥६॥

भावानुवाद—पहले उत्साहमयी दशाका वर्णन कर रहे हैं। छात्र जब सर्वप्रथम शास्त्र-अध्ययन आरम्भ करता है, तो वह मन-ही-मनमें ऐसे

मानने लगता है कि मुझमें समस्त लोगोंके द्वारा प्रशंसनीय पाण्डित्य उत्पन्न हो गया है। ऐसा मान लेनेसे साधकके हृदयमें एक सामयिक उद्यम या उत्साह उत्पन्न होकर मानों आरम्भ किए हुए अध्ययनके विषयमें उसमें अत्यन्त अभिनिवेशका सञ्चार हो जाता है। उसी प्रकार भक्तिमार्गमें प्रवेश करनेमात्रसे भक्तिमें उत्साहमयी चेष्टाएँ देखी जाती हैं। इसलिए इस अवस्थाको 'उत्साहमयी भजनक्रिया' कहा जाता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्ती महोदय दीक्षाके पश्चात् ही भजनमें सर्वप्रथम तत्पर होनेवाले साधककी प्रारम्भिक कौतूहलमयी सामयिक मानस दशाका वर्णन कर रहे हैं। जैसे पाठारम्भकालमें छात्र मन-ही-मनमें यह सोचता है कि मैं सबके लिए प्रशंसनीय पण्डित हो गया हूँ। इस प्रकार नवीन उत्साहके साथ विद्यापाठमें उसका उद्यम देखा जाता है। जिस प्रकार उत्साहके साथ उस विषयमें उसका उद्यम देखा जाता है, उसी प्रकार भजनके आरम्भकालमें भी पहले-पहले तत्पर साधकोंके हृदयमें भी यह भावना उत्पन्न होती है कि मैं सबके लिए प्रशंसनीय भक्त और भजनशील हो गया हूँ। उस नवीन साधकमें कौतूहलके साथ भजनमें सामयिक नवीन उत्साह देखा जाता है। इस दशाका नाम 'उत्साहमयी अनिष्ठिता भजनक्रिया' है।

घनतरला

अथ घनतरला। प्रक्रम्यमाणानि भक्त्यङ्गानि कदाचिन्निर्वहन्ति कदाचिच्च न वेति घनत्वं तरलत्वञ्चास्याः यथा वटोः शास्त्राभ्यासः कदाचित् सान्द्रः कदाचित् तदर्थप्रवेशासमर्थतया सारस्यानुदयेन शिथिलश्च॥७॥

भावानुवाद—तदनन्तर घनतरलाकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। जैसे नवीन छात्रका शास्त्र अभ्यास या अध्ययन कभी गाढ़ा और कभी उस पाठमें प्रवेश न होनेके कारण या पढ़नेमें रस न आनेके कारण अध्ययनके उद्यममें शिथिलता आ जाती है, उसी प्रकार भक्ति-अङ्गके सम्यक् निर्वाह होनेपर भक्तकी भजनक्रियामें गाढ़ता दीखती है और कभी उसका निर्वाह न होनेपर भजनक्रियामें शिथिलता आ जाती है। इसलिए इस अवस्थाको 'घनतरला' कहा जाता है।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—पहले भक्तिसाधकोंके भजनमें उत्साह और उद्यमकी बात कही गई है। वह स्थायी नहीं होती, क्योंकि उस समय भक्तिसाधकोंके हृदयमें अनर्थ भरा रहता है। इसलिए वह केवल प्रारम्भिक कौतूहलमात्र है, इसीका छात्रोंके शास्त्र अध्ययनके साथ दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार नवीन छात्र मन–ही–मन ऐसा समझता है कि मैं पण्डित हो गया हूँ और उससे अध्ययनमें उसका विशेष अभिनिवेश देखा जाता है, परन्तु अध्ययनका विषय कठिन होनेपर समझनेमें असमर्थ रहनेपर उसके उद्यममें शिथिलता आ जाती है। और कभी–कभी शास्त्रार्थका मर्म समझमें आनेपर आनन्द होता है। इस प्रकार अध्ययनके कार्यमें कभी गाढ़ता और कभी शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। भक्तोंके भक्तिसाधनमें भी उसी प्रकार जब नवीन साधक भजनक्रियामें रसानुभव करते हैं और भजनके अङ्गोंका ठीक–ठीक निर्वाह हो जाता है, तब भजनक्रियाकी गाढ़ता और विघ्न उदय होनेपर या भजनक्रियाका ठीकसे निर्वाह नहीं होनेपर भजनमें उनकी शिथिलता देखी जाती है। इस प्रकार भजनक्रियामें कभी गाढ़ता या अभिनिवेश और कभी तरलता या शिथिलता होती रहती है, इसलिए इस दशाका नाम 'घनतरला' है।

व्यूढ़विकल्पाके अन्तर्गत वर्णित
(वैराग्यसे उत्पन्न भक्ति नहीं, बल्कि भक्तिसे उत्पन्न वैराग्य ही शुद्ध)

अथ व्यूढ़विकल्पा। किमहं सपरिग्रह एव पुत्रकलत्रादीन् वैष्णवीकृत्य भगवत्परिचर्यायां नियोज्य गृह एव सुखं तं भजे किंवा सर्वानेव परित्यज्य निर्विक्षेपः श्रीवृन्दावनं ध्येयस्थानमेवासीनः कीर्त्तनश्रवणादिभिः कृतार्थीभवेयम्। स च त्यागः किं भुक्तभोगस्यावगतविषमविषयदावदवथोर्मम चरमदशायामेव किं वाधुनैव समुचित इति। किञ्च "तामीक्षेदात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्" इति दृष्ट्या आश्रमस्यास्याविश्वास्यतया "यो दुस्त्यजान् दारसुतान्" इत्यत्र "जहौ युवैव मलवत्" इत्यादि दृष्ट्या त्यक्तविलम्बस्तत्रापि "अहो मे पितरौ वृद्धौ" इत्यत्र "अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः" इति भगवद्वाक्येन त्यागेऽलब्धबलश्च सम्प्रत्येव प्राणधारणमात्रवृत्तिर्वनं तदैव

प्रविश्याष्टावेव च यामानभ्यर्थयानीति। ''न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह'' इत्यत्र तु वैराग्यस्य भक्तिजनकत्वे एव दोषो न तु भक्तिजनितत्वे इति तदनुभावरूपतया तदधीनत्वमिति। ''यद्‌यदाश्रममगात् स भिक्षुकस्तत्तदन्न–परिपूर्णमैक्षत'' इति न्यायेन कदाचिद्‌वैराग्यं ''तावद्रागादयस्तेनाः स्तावत् कारागृहं गृहम्'' इति कदाचिद् गार्हस्थ्यञ्च निश्चिन्वन् किमहं कीर्त्तनमेव किंवा कथाश्रवणमपि उत सेवामेव उताहो तावदम्बरीषादिवदनेकाङ्गामेव भक्तिं करवै इत्यादि विविधा एव प्राप्ता विकल्पा यत्र भवन्तीति व्यूढविकल्पा ॥८ ॥

भावानुवाद—तदनन्तर व्यूढ़विकल्पा अनिष्ठिता भक्तिकी बात बतलाई जा रही है। "क्या मैं परिवारके साथ पुत्र–कलत्रादिको वैष्णव बनाकर भगवान्‌की सेवामें नियुक्त करके घरमें ही रहकर सुखपूर्वक भगवान्‌का भजन करूँ या पुत्र–कलत्रादि सबका त्यागकर विक्षेप रहित होकर ध्येयस्थान वृन्दावनमें वासकर श्रवण–कीर्त्तनादि नवविधाभक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान कर कृतार्थ होऊँ?" "यदि संसार त्याग करना भी है, तो विषय भोगकर इन विषयोंके कष्ट–दायकत्वको भलीभाँति अनुभवकर अन्तिम दशामें ही इसका त्याग करूँ या इसी क्षण त्याग करना समुचित है?" पुनः "किन्तु शास्त्रोंमें ऐसा देखा जाता है कि अपनी स्त्रीको तृणोंसे ढके हुए कुएँकी तरह मृत्यु रूपमें जानना चाहिए।" इस दृष्टिसे गृहस्थाश्रमको विश्वास योग्य न जानकर सहजमें न त्याग जानेवाले स्त्री–पुत्रोंको त्याग देना चाहिए। पुनः यह भी इसी श्लोकमें कहा गया है कि "युवा अवस्थामें ही संसारका मलवत् त्याग कर दिया।" इसलिए शीघ्र ही संसार त्याग करना ही उचित है।

किन्तु दूसरे विचारसे पुत्र–परिवारादि संसारका शीघ्र ही त्याग करना उचित नहीं है, क्योंकि "मेरे पिता–माता दोनों ही वृद्ध हैं।" तथा इस शास्त्रोक्तिसे "जो अतृप्त अवस्थामें संसार त्यागकर उसीकी चिन्ता करते–करते मरते हैं, वे अत्यन्त भयङ्कर अन्धकारमय लोकमें गमन करते हैं।" इस भगवत्–कथित वचनके द्वारा संसार–त्यागका मेरा सङ्कल्प अभी दृढ़ नहीं हुआ है। श्रीभगवान्‌के इस वचनसे भजनकारीका संसार–त्याग करनेका सङ्कल्प कमजोर पड़ जाता है और विचार

करता है—"अब तो किसी तरह जीवन धारण करना चाहिए। फिर उचित समयपर वनमें जाकर आठों प्रहर भगवान्‌का भजन करूँगा।" शास्त्रोंके इन वचनोंपर भी विचार करता है—"भक्तिपथमें न तो ज्ञान कल्याणकारी है और न वैराग्य।" इस वचनसे यह सोचता है कि भक्तिकी उत्पत्तिमें वैराग्य भी एक दोष है। भक्तिके उदित हो जानेपर फिर वैराग्यको दोष न समझकर भक्तिका एक अनुभाव (लक्षण) माना जा सकता है, जो भक्तिके अधीन या अनुकूल हुआ करता है। "वह संन्यासी जिस आश्रममें गया, उस आश्रमको उसने अन्नसे परिपूर्ण पाया"—इस सुप्रसिद्ध न्यायसे वह नवीन साधक कभी तो वैराग्य या संन्यास ग्रहणका सङ्कल्प करता है। शास्त्र यह भी कहता है—"जब तक भगवत्-अनुराग अर्थात् भक्तिका उदय नहीं होता, तभी तक गृह कारागृहके समान बन्धन है।" इस शास्त्रीय कथनानुसार गृहस्थाश्रममें ही रहनेका निश्चय करता है। पुनः गृहस्थाश्रममें रहकर क्या मैं कीर्त्तन करूँ, श्रवण करूँ अथवा सेवा करूँ या राजा अम्बरीषकी भाँति भक्तिके अनेकाङ्गोंका आचरण करूँ—इस प्रकार विविध सङ्कल्प और विकल्प भजनकारीके मनमें जिस अवस्थामें उदित होते हैं, उसे 'व्यूढ़विकल्पा' भजनक्रिया कहते हैं।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—अनिष्ठिता भजनकी दशामें साधकके मनमें जब भजन विषयक नाना प्रकारके सङ्कल्प और विकल्पका उदय होता है, उसे 'व्यूढ़विकल्पा' कहा गया है। दीक्षा और तदनन्तर श्रीगुरुपादपद्मसे भजन शिक्षाके पश्चात् साधक गृहस्थाश्रममें रहकर भजन करूँ अथवा संसारका त्यागकर वृन्दावनमें भजन करूँ, यह स्थिरभावसे निश्चित न कर पानेके कारण, इस प्रकार सङ्कल्प-विकल्प करता है—"क्या मैं पुत्र-कलत्रादिको शिक्षा-दीक्षा दिलवाकर उनको वैष्णव बनाकर सपरिवार भगवद्भजन करूँ?" और थोड़ी देरके बादमें वह ऐसा सोचता है—"गृहस्थाश्रममें रहनेसे परिवारका पालन-पोषण करनेके लिए मुझे विषयकार्यादि करना होगा, उससे चित्तमें विक्षेप होना अनिवार्य है। अतएव इस अवस्थामें क्या मैं पुत्र-कलत्रादि सबको छोड़कर विक्षेपरहित चित्तसे ध्येयस्थान वृन्दावनमें वासकर सदैव

श्रवण-कीर्त्तनादि नवधाभक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठानकर कृतार्थ होऊँ?" पुनः थोड़ी देर बादमें फिर ऐसा सोचता है "यदि संसारको त्याग ही करना है तो पहले विषयोंको भोगकर उसके द्वारा विषयोंके दुःखोंसे भलीभाँति अवगत होकर चरम अवस्थामें ही त्याग करना उचित है। अन्यथा केवल बाह्य त्याग करनेसे भी मनमें विषयासक्ति या विषयोंकी चिन्ता उदित हो सकती है, यह भी भजनमें बाधा स्वरूप है।" पुनः ऐसा सोचता है—"तब तक विषयभोगोंमें रहनेसे विषयासक्ति और भी अधिक प्रगाढ़ होनेपर अन्तमें विषय-त्यागकी अनिच्छा हो सकती है और मृत्यु भी अनिश्चित है, कब किसकी मृत्यु हो जाए? यह कहा नहीं जा सकता है। इसलिए क्या अभी ही त्याग करना समुचित है?"

जब तक अनुरागका वेग कमजोर रहता है, तभी तक कृष्णभजनमें शास्त्रवचनादि विचारोंकी अपेक्षा रहती है। इसलिए वैसे भक्त सोचते हैं—

योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्॥
(श्रीमद्भा. ३/३१/४०)

श्रीकपिलदेव कह रहे हैं—"हे मातः! भगवान्‌की रची हुई यह जो स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे सेवा आदिके बहाने पास आती है, इसे तिनकोंसे ढके हुए कुएँकी भाँति अपनी मृत्यु ही समझे।" अतएव गृहस्थाश्रमका विश्वास न कर शीघ्र ही इसका त्याग करना ही उचित है। पुनः मनमें ऐसा विकल्प उत्पन्न होता है, "इसका यौवनकालमें त्याग न कर प्रौढ़दशामें ही त्याग करना क्या उचित है?" यह चिन्ता करते ही साधकके सम्मुख श्रीमद्भागवतकी यह वाणी उपस्थित होती है—

यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः॥
(श्रीमद्भा. ५/१४/४३)

"महाराज भरतने दुस्त्यज्य स्त्री, पुत्र, स्वजन, सम्पत्ति और राज्यादि जिसके लिए बड़े-बड़े देवता लालायित रहते हैं, उस दुर्लभ भोग-सम्पत्तिकी भी लेशमात्र इच्छा नहीं की। यह सब उनके लिए उचित ही था, क्योंकि जिन महापुरुषोंका चित्त भगवान् श्रीमधुसूदनकी सेवामें अनुरक्त हो गया है, उनकी दृष्टिमें मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ है।" अतएव साधक सोचता है, इसी क्षण गृहस्थाश्रमका त्याग करना ही उचित है। पुनः मनमें सोचता है—

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/५७)

"हाय! हाय! मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गए हैं; बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहनेपर ये दीन, अनाथ और दुःखी हो जाएँगे; फिर इनका जीवन कैसे रहेगा?" अतएव माता-पिताकी मृत्युके बाद ही, बच्चोंके बड़े हो जानेपर ही संसारका त्याग करना उचित है। पुनः विषयभोगकी अतृप्त दशामें देहत्याग करनेसे मानवकी दुर्गतिकी ही बात जानी जाती है—

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढ़धीरयम्।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/५८)

"इस प्रकार घर-गृहस्थीकी वासनासे जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढ़बुद्धि पुरुष विषय भोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता, उन्हींमें उलझकर अपना जीवन खाक कर बैठता है और मरकर घोर तमोमय नरकमें जाता है।" उद्धवके प्रति श्रीकृष्णकी इस उक्तिके अनुसार संसारत्यागके लिए मेरा सङ्कल्प अभी उतना दृढ़ नहीं है। अतएव अभी गृहस्थाश्रममें ही रहकर केवल प्राणधारणकी वृत्तिका अवलम्बनकर संसारमें रहूँ, पीछे यथासमय वनमें प्रवेशकर या ध्येय स्थान वृन्दावनमें निवासकर अष्टप्रहर श्रीकृष्णभजनमें काल यापन करूँगा। इसी समय वैराग्य ग्रहण करना उचित नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/३१)

अर्थात् "मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न होनेवाले भक्तियोगियोंके लिए भक्तियोगके अतिरिक्त इस विश्वमें ज्ञान, वैराग्य प्रायः श्रेयस्कर नहीं होते, अर्थात् इनकी कोई भी आवश्यकता नहीं होती।" इस शास्त्रवचनके द्वारा यह जाना जाता है कि वैराग्यके द्वारा भक्ति उत्पन्न नहीं होती। बल्कि भक्तिके उत्पन्न होनेमें वैराग्यका दोष ही देखा जाता है। किन्तु भक्तिके द्वारा उत्पन्न वैराग्य दोषजनक नहीं होता, क्योंकि ऐसे वैराग्यके द्वारा भक्तिका ही अनुभव होता है। इसके द्वारा वैराग्यमें भक्तिकी अधीनता प्रमाणित होती है। अर्थात् जड़ासक्ति त्याग और भजनासक्तिकी पुष्टिके लिए कृष्णेतर विषयोंमें जो वैराग्य होता है, उसे 'युक्तवैराग्य' कहते हैं, वह शुष्क वैराग्य नहीं है, बल्कि भक्तिके अनुकूल होनेके कारण वह प्रशंसनीय है, निन्दनीय या त्याज्य नहीं है। अतएव भजनमें कुछ प्रवेश प्राप्त होनेपर ही वैराग्य वाञ्छनीय है।

पुनः "यद्यदाश्रममगात् स भिक्षुकस्तत्तदन्नपरिपूर्णमैक्षत" अर्थात् "उस भिक्षुकने जिन-जिन आश्रमोंमें गमन किया, उन-उन आश्रमोंको अन्नसे परिपूर्ण देखा।" इस प्रसिद्ध शास्त्रवचनके द्वारा कभी-कभी वैराग्य ग्रहण करना ही उचित प्रतीत होता है। पुनः कभी-कभी श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकको देखकर गृहस्थाश्रममें ही रहनेका निश्चय करता है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/३६)

अर्थात् "हे श्यामसुन्दर! जब तक जीव तुम्हारे श्रीचरणोंका आश्रय ग्रहण नहीं करता, तभी तक राग-द्वेष चोरोंकी भाँति उसका सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, गृह कारागारकी भाँति उसके बन्धनका कारण होता है और तभी तक मोह उसके पैरोंको बेड़ियोंकी भाँति जकड़े

रखता है।” अतः गृहस्थाश्रममें रहना ही उचित और कल्याणजनक है।

इस प्रकार कभी श्रवण-कीर्त्तनादि भजनके अङ्गोंके विषयमें भी नाना प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प उठते रहते हैं। कभी-कभी सोचते हैं कि शास्त्रोंमें नामसंकीर्त्तनका प्रचुर फल सुना जाता है। इसलिए मैं कीर्त्तनाङ्ग भक्तिका अवलम्बनकर कृतार्थ होऊँगा, और कभी-कभी इसी प्रकार शास्त्रोंमें श्रवणाङ्गकी प्रचुर महिमा देखकर श्रवणाङ्ग भक्तिका, कभी अर्चनाङ्गकी महिमा देखकर उसकी ओर झुकनेकी चेष्टा करते हैं। कभी-कभी अम्बरीष महाराजकी भाँति भक्तिके अनेक अङ्गोंका पालन करनेकी बात सोचते हैं। भजनक्रियामें इस प्रकार नाना प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प उठनेसे उसे 'व्यूढ़विकल्पा' कहा गया है।

विषयसंगरा

अथ विषयसंगरा। “विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः। वारुणीदिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्।” इति भोगा एव बलात् स्वस्मिन्नभिनिवेश्य मां भजने शिथिलयन्तीति तदमी त्यक्त्वा नामग्राहं कांश्चन कांश्चन त्यक्तवतोऽपि भुञ्जानस्य “जुषमाणश्च तान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वर” इति भगवद्वाक्यस्योदाहरणत्वं प्राप्तवतस्तस्य पूर्वाभ्यस्तैर्विषयैस्तैः सह संगरो युद्धं कदाचित् तत्पराजयः कदाचित् स्वपराजय इति विषयसंगरा॥९॥

भावानुवाद—अनन्तर विषयसंगराका वर्णन किया जा रहा है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि जिनका चित्त विषयभोगोंमें लिप्त हो रहा है, उनके लिए भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति प्राप्त होना अति कठिन और दूरकी वस्तु है। जो वस्तु पश्चिम दिशामें रखी हुई है, क्या उसे पूर्वमें जानेवाला व्यक्ति प्राप्त कर सकता है? अर्थात् पूर्वगामी व्यक्तिको कभी भी पश्चिममें रखी हुई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। इस शास्त्रवचनको देख करके भजनकारी भक्त सोचता है—“ये सब विषयभोग मुझे बलपूर्वक अपनी-अपनी ओर खींच रहे हैं और मेरी भजनासक्तिको शिथिल कर रहे हैं। इसलिए मैं समस्त विषयोंको त्यागकर हरिनामका आश्रय ग्रहण करूँगा।” ऐसा सोचनेपर भी—विषयोंका त्याग करनेपर भी बरबस उनका भोग हो जाता है। जैसे

कहा गया है कि "परित्याग करनेपर भी असमर्थ होकर वह अनेक कामनाओंका घृणाके साथ भोग करता है।" श्रीभगवान्‌के कथित इस शास्त्रवचनको उदाहरण मानकर वह उन विषयोंके साथ, जिनको पहले वह भोगता रहा है, संगर अर्थात् युद्ध करता रहता है। कभी तो वह विषयोंपर विजय पा लेता है और कभी स्वयं उनसे पराजित हो जाता है। विषयोंके साथ युद्ध होनेके कारण भजनक्रियाकी इस अवस्थाको 'विषयसंगरा' कहते हैं।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—इसके बाद ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अनिष्ठिता भजनदशाकी 'विषयसंगरा' नामक अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं। भजनमें प्रवृत्त साधकका चित्त अनादि संस्कारवशतः विषयभोगोंके प्रति धावित होता है और उस समय सोचता है— "विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेश सुदूरतः। वारुणी–दिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्" अर्थात् "विषयाविष्ट–चित्त व्यक्तिके लिए श्रीकृष्णमें मनोभिनिवेश करना अत्यन्त कठिन और दूरकी बात है। जिस प्रकार पूर्वगामी व्यक्तिको कभी भी पश्चिममें रखी हुई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती है।" इस विष्णुपुराणके वचनसे भगवदासक्तिके विपरीत ये विषयभोगकी वस्तुएँ बलपूर्वक मुझे अपनी ओर आकर्षणकर हमारी भजनासक्तिको शिथिल कर रही हैं। इसलिए विषयभोगका त्यागकर ऐकान्तिक रूपमें श्रीहरिनामका आश्रय ग्रहण करना ही कर्त्तव्य है। इस प्रकार निश्चयकर भक्त विषयत्यागके लिए प्रयत्न करनेपर भी पूर्वसंस्कारोंके कारण उनका विषयभोग हो ही जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवके प्रति इसी जातीय भक्तोंकी बात कही है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/२७–२८)

अर्थात् "जो साधक कर्मोंसे विरक्त हो गया हो, उनमें दुःखबुद्धि रखता हो, मेरी लीलाकथाके प्रति श्रद्धालु हो और यह भी जानता

हो कि सभी भोग-वासनाएँ दुःखरूप हैं, किन्तु इतना जानकर भी जो उनका परित्याग करनेमें समर्थ न हो, उसे चाहिए कि उन भोगोंको तो भोग ले; परन्तु उन्हें सच्चे हृदयसे दुःखजनक समझे और मन-ही-मन उसकी निन्दा करे तथा उसे अपना दुर्भाग्य ही समझे। साथ ही इस दुविधाकी स्थितिसे छुटकारा पानेके लिए श्रद्धा, दृढ़ निश्चय और प्रेमसे मेरा भजन करता रहे।" यह भक्तिसाधक इन भगवद्वचनोंका दृष्टान्तस्थल होता है और उन सब भोगविषयोंके सङ्गसे उनका युद्ध चलता रहता है एवं इस युद्धमें कभी उनसे पराजित होता है और कभी वह विषयभोगकी इच्छाको पराजित कर देता है।

उल्लिखित दोनों श्लोकोंकी सारार्थदर्शिनी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने जो व्याख्या की है, उसका सार तात्पर्य यह है—इन दोनों श्लोकोंमें भक्ति अधिकारीके प्रारम्भिक स्वभावका वर्णन किया गया है। जो भक्तिसाधक स्त्री, पुत्रादिसे उत्पन्न विषयसुखोंको दुःखजनक समझते तो हैं, किन्तु उनका परित्याग करनेमें समर्थ नहीं होते, वे भोगविषयोंमें दुःखबुद्धिकर उद्विग्न चित्तसे भक्तिके विषयमें इस प्रकार दृढ़निश्चय करते हैं—"गृह इत्यादिमें मेरी आसक्ति दूर हो या न हो, भजनमें कोटि-कोटि विघ्न हो या न हो, अपराधोंके कारण यदि नरकभोग हो, कामको यदि अङ्गीकार करना पड़े—किन्तु मैं कभी भी भक्तिका परित्याग नहीं करूँगा। यदि स्वयं ब्रह्मा भी आकर कहेंगे तो भी भजन त्यागकर ज्ञान-कर्मादिका अवलम्बन नहीं करूँगा।" भजन आरम्भ होनेपर उसकी भक्तिमें जैसी दृढ़ता होती है, विषय-भोगमें वैसी दृढ़ आसक्ति नहीं होती। क्योंकि विषयभोगको परिणाममें दुःखजनक जानकर इस प्रकार निन्दा करते-करते भोग करते हैं—"अहो, ये विषयभोग मेरे लिए महा अनर्थकारी हैं और भगवत्-प्राप्तिके प्रतिकूल हैं। क्योंकि अनेकों बार नामग्रहणपूर्वक शपथके साथ इनको परित्याग करनेपर भी इनका भोग करना ही पड़ता है।" अतएव वे विषयोंकी निन्दा भी करते हैं और समय आनेपर उसका भोग भी करते हैं। जब निन्दा करते हैं, तब विषयोंकी पराजय और जब विषयोंका भोग करते हैं, तब उनकी पराजय होती है। भक्तिकी इस अवस्थाका नाम 'विषयसंगरा' है।

नियमाक्षमा

अथ नियमाक्षमा। 'अद्यारभ्य इयन्ति नामानि गृहीतव्यानि एतावत्यश्च प्रणतयः कार्या इत्थमेव तद्भक्ता अपि सेवनीया भगवदसम्बन्धा वाचोऽपि नोच्चारणीया ग्राम्यवार्त्तावतां सन्निधिस्त्यक्तव्यः' इत्यादि प्रतिदिनमपि प्रतिजानतोऽपि समये तथा न क्षमत्वम् इति नियमाक्षमा। विषयसंगरायां विषयत्यागाक्षमत्वम् अत्र तु भक्त्युत्कर्षाक्षमत्वमिति भेदः॥१०॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् नियमाक्षमा दशाका वर्णन कर रहे हैं। इस दशामें साधक इस प्रकार सङ्कल्प करता है, "आजसे मैं इस परिमाणमें नाम ग्रहण करूँगा, भगवान् और उनके परिकरों या लीलास्थलियों और वैष्णवोंके लिए इस संख्यामें साष्टाङ्ग प्रणाम करूँगा, इस प्रकार भगवान्‌की और भक्तोंकी सेवा करूँगा। जिनका भगवत्-सम्बन्ध नहीं है, ऐसे वचनका उच्चारण नहीं करूँगा, जो लोग ग्राम्यवार्त्ता करते हैं, उनका सङ्ग सब प्रकारसे परित्याग करूँगा।" इस प्रकार प्रतिदिन पुनः-पुनः इस प्रकार नियमका सङ्कल्प करके भी यथासमयमें नियम प्रतिपालनमें असमर्थ हो जाता है, इसलिए साधककी इस अवस्थाको 'नियमाक्षमा' कहा गया है। विषयसंगरा और नियमाक्षमामें भेद यह है कि विषयसंगराकी दशामें विषयोंको त्यागनेमें समर्थ नहीं होता है और नियमाक्षमामें भक्तिके उत्कर्ष साधन करनेकी क्षमता नहीं होती अर्थात् सामर्थ्य नहीं रहता।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—इस दशामें भजनमें श्रद्धाकी वृद्धि होनेसे भजन विषयक नियमोंके पालनकी आवश्यकताकी उपलब्धि होती है, किन्तु विषयासक्तिका नाश नहीं होनेसे वैषयिक प्रयोजनकी बलवत्ता रहनेके कारण भजनविषयक नियमोंका भलीभाँति प्रतिपालन करना सम्भवपर नहीं होता, भजनमें रसास्वादनकी असमर्थता ही इसका कारण है। साधकके हृदयमें भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीलाका किञ्चित् मात्रामें कुछ-कुछ रसास्वादन प्राप्त होनेपर दूसरे भौतिककार्योंमें अभिनिवेश न रहनेके कारण भजनके नियमोंको त्याग करना उनके लिए कभी भी सम्भवपर नहीं होता। जिस प्रकार गन्नेके रसकी मिष्टताका जिह्वाके

द्वारा अनुभूति होनेपर बालकके लिए उसका त्याग करना दुःसाध्य होता है, उसी प्रकार भजनकी मिष्टताका अस्वादन अनुभूत होनेपर भजनके नियमोंका त्याग करना साधकोंके लिए सम्भवपर नहीं होता। इस नियमाक्षमा दशामें साधक यह सङ्कल्प करता है कि वह प्रतिदिन एक लाख हरिनाम ग्रहण करेगा, श्रीविष्णु और वैष्णवके उद्देश्यसे एक हजार आठ बार दण्डवत्प्रणाम करेगा, इसी प्रकार भक्त या वैष्णवकी सेवा नियमित रूपसे करेगा, कृष्णसम्बन्धी लीलाकथाओंके अतिरिक्त ग्राम्यवार्त्ताका सङ्ग नहीं करेगा, जो लोग विषयभोगकी बातें करते हैं, दूसरोंकी निन्दा और परचर्चा आदि करते हैं, उनका सङ्ग सब प्रकारसे परित्याग करेगा—प्रतिदिन पुनः-पुनः इस प्रकार नियमका सङ्कल्प करके भी कार्यके समय वह उन नियमोंका प्रतिपालन करनेमें असमर्थ या अक्षम रहता है। इसलिए इस अवस्थाका नाम 'नियमाक्षमा' या नियम पालनमें अक्षम होना कहा गया है।

विषयसंगरा दशामें विषयभोगोंका त्याग करनेका सङ्कल्प करके भी यथासमयमें विषयोंका त्याग करनेमें समर्थ नहीं होता और नियमाक्षमा दशामें भक्ति और भजनका उत्कर्ष साधन करनेके लिए नियम पालनके लिए प्रयत्न करनेपर भी यथासमय नियमोंका पालन करनेमें समर्थ नहीं होता।

तरङ्गरङ्गिणी

अथ तरङ्गरङ्गिणी। भक्तेः स्वभाव एवायं यत् तद्वति सर्वेऽपि जना अनुरज्यन्तीति "जनानुरागप्रभवा हि सम्पद्" इति प्राचां वाचोऽपि। भक्त्युत्थासु विभूतिषु लाभपूजाप्रतिष्ठादिषु वल्लीवलितासूपशाखासु तरङ्गेष्विवाचरन्त्या अस्या रङ्ग इति तरङ्गरङ्गिणी॥११॥

इति माधुर्य-कादम्बिन्यां भक्तेः श्रद्धादि-क्रमत्रय-कथनपूर्वकं भजनक्रियाभेद-कथनं नाम द्वितीयामृतवृष्टिः॥२॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् तरङ्गरङ्गिणी दशाका वर्णन कर रहे हैं। भक्तिका यह स्वभाव है कि जिसमें भक्ति उदित होती है, उसके प्रति सब लोगोंकी स्वाभाविक अनुरक्ति हो जाती है और "लोगोंके

अनुरागके फलस्वरूप उसे अनेक सम्पदकी भी प्राप्ति होती है"—प्राचीन मनीषियोंका यह कथन है। भक्तिसे उत्पन्न या प्राप्त होनेवाली लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि विभूतियाँ भक्तिकल्पलताकी उपशाखाएँ हैं। इन उपशाखाओंको यहाँ भक्ति-महासागरकी तरङ्गोंके रूपमें वर्णन किया गया है, भजनक्रियाकी इस अवस्थामें साधक अपनी भजनक्रियाको इन तरङ्गोंमें अनेक प्रकारसे रङ्ग (क्रीड़ा) करते हुए देखता है। अतः इस अवस्थाको 'तरङ्गरङ्गिणी' कहा गया है।

भक्तिके श्रद्धादि तीन क्रमोंको कथनपूर्वक भजनक्रिया-भेद-कथन
नामक द्वितीयामृतवृष्टिका भावानुवाद समाप्त॥२॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—जिस प्रकार जलकी स्वाभाविक गति नीचेकी ओर होती है, उसी प्रकार जनसाधारणकी प्रीतिकी स्वाभाविक गति भक्तकी ओर धावित होती है। जो लोग समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप श्रीहरिमें ऐकान्तिकी भक्ति करते हैं, उनके भक्तिमूलक अर्चनके द्वारा निखिल विश्व परितृप्त हुआ करता है। पद्मपुराणमें ऐसा कहा गया है—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जंगमाः स्थावरा अपि॥

अर्थात् "जिस व्यक्तिने श्रीभगवान्का अर्चन किया है, उसके द्वारा जगद्वासी तृप्त हो जाते हैं। स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी उस भक्तसे अनुराग करने लगते हैं।" अनुरागका फल यह होता है कि वे भक्तका सम्मान, उनकी पूजा आदि करने लगते हैं। इतना ही नहीं, वैषयिक, ब्राह्म और ऐश्वर्य तीनों प्रकारके सुख सम्पद अपने आप ही आकर उसे प्राप्त होने लगते हैं। जैसे कि श्रील रूप गोस्वामिपादने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१/१/३१) में कहा है—

सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यञ्च परमानन्दो भवेद् गोविन्द-भक्तितः॥

"अणिमादि परमाश्चर्यमयी सिद्धियाँ अथवा भुक्ति (विषय-सुख), मुक्ति (ब्राह्म-सुख) तथा नित्य परमानन्द भी श्रीगोविन्दमें भक्ति

करनेवाले भक्तोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है।" किन्तु शुद्धभक्त श्रीकृष्णकी प्रेमसेवाको छोड़कर लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि सुख कुछ भी नहीं चाहते, क्योंकि ये सब भक्ति विरोधी हैं। लाभ, पूजा, प्रतिष्ठाको भक्तिलताकी उपशाखा कहा गया है। ये साधकोंके श्रवण-कीर्त्तनादि रूप जलके द्वारा सिञ्चित होकर स्वयं परिपुष्ट हो जाते हैं और भक्तिकल्पलताको ढककर उसको स्तम्भित कर देते हैं, उसे बढ़ने नहीं देते। इसलिए साधकोंको इन उपशाखाओंका पहले ही छेदन कर देना कर्त्तव्य है। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीरूप-शिक्षामें कहा है—

किन्तु यदि लतार सङ्गे उठे 'उपशाखा'।
भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छा, जत असंख्य तार लेखा॥
'निषिद्धाचार', 'कुटीनाटी', 'जीवहिंसन'।
'लाभ', 'पूजा', 'प्रतिष्ठादि' जत उपशाखागण॥
सेकजल पाञा उपशाखा वाड़ि' याय।
स्तब्ध हञा मूलशाखा बाड़िते ना पाय॥
प्रथमेइ उपाशाखार करये छेदन।
तबे मूलशाखा बाड़ि' जाय वृन्दावन॥

(चै. च. म. १९/१५८-१६१)

इन उपशाखाओंको भक्तिसागरकी तरङ्गोंके रूपमें वर्णन किया गया है। अनिष्ठिता भजनदशामें साधक इन तरङ्गोंमें अपनी भजनक्रियाको रङ्ग अर्थात् क्रीड़ा करते हुए देखता है। अर्थात् साधक लाभ, पूजा, प्रतिष्ठासे आनन्द प्राप्त करता है। यह एक भक्तिविरोधी प्रबल अनर्थ है। साधककी इस दशाका नाम 'तरङ्गरङ्गिणी' है। तृतीयामृत-वृष्टिमें भक्तिके द्वारा उत्पन्न अनर्थोंका विशेष रूपसे वर्णन किया जाएगा।

भक्तिके श्रद्धादि तीन क्रमोंको कथनपूर्वक भजनक्रिया-भेद-कथन नामक द्वितीयामृतवृष्टिकी पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त॥२॥

तृतीयामृतवृष्टिः

चार प्रकारके अनर्थ तथा उनका विवरण

अथानर्थानां निवृत्तिः। ते चानर्थाश्चतुर्विधाः—दुष्कृतोत्था सुकृतोत्था अपराधोत्था भक्त्युत्थाश्चेति। तत्र दुष्कृतोत्था दुरभिनिवेशद्वेषरागाद्याः पूर्वोक्ताः क्लेशा एव। सुकृतोत्था भोगाभिनिवेशा विविधा एव। ते च क्लेशान्तःपातिन इति केचित्। अपराधोत्था इत्यत्र नामापराधा एव गृह्यन्ते। सेवापराधानान्तु नामभिस्तत्तन्निवर्त्तकस्तोत्रपाठैः सेवासातत्येन च भव्यस्य विवेकिनः प्रायः प्रतिदिनमेवोपशमेनाङ्कुरीभावानुपलब्धेः। किन्तु तत्तदुपशमसम्भवबलेन तत्र सावधानताशैथिल्ये सेवापराधा अपि नामापराधा एव स्युः। तथाह्युक्तम्—"नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिरिति।" तत्र नाम इत्युपलक्षणं भक्तिमात्रस्यैवोपशमकस्य। धर्मशास्त्रेऽपि प्रायश्चित्तबलेन पापाचरणे न तस्य पापस्य क्षयः प्रत्युत गाढतैव।

भावानुवाद—अनन्तर अनर्थनिवृत्तिका वर्णन कर रहे हैं। अनर्थ चार प्रकारके हैं—(१) दुष्कृतोत्थ, (२) सुकृतोत्थ, (३) अपराधोत्थ और (४) भक्त्युत्थ। दुरभिनिवेश, द्वेष, रागादि पूर्वोक्त पाँच प्रकारके क्लेश ही दुष्कृतोत्थ अनर्थ हैं। नाना प्रकारके भोगोंके अभिनिवेशको सुकृतोत्थ अनर्थ कहा जाता है। कोई-कोई इनकी गणना क्लेशोंके अन्तर्गत ही करते हैं। नामापराधोंको ही यहाँ अपराधोत्थ अनर्थ समझना चाहिए (सेवापराधोंको नहीं)। क्योंकि विचारवान सत्पुरुषोंके सेवापराध तो प्रायः नामके द्वारा, सेवापराधोंको दूर करनेवाले स्तोत्रोंके पाठ द्वारा और निरन्तर भगवत्-सेवा करते-करते प्रतिदिन निवृत्त होते रहते हैं। अतएव सेवापराधोंका अङ्कुर भी उत्पन्न नहीं हो पाता। किन्तु "सेवापराधोंकी निवृत्ति नाम, स्तोत्र-पाठ आदिसे हो जाती है", ऐसा सोचकर सेवापराधोंमें सावधानता न रहनेसे शिथिलता आ जानेपर, वे सेवापराध भी नामापराध बन जाते हैं।

इसलिए शास्त्रोंमें कहा गया है—नामके बलपर पाप करनेपर वही अपराध हो जाया करते हैं। यहाँ नामके उपलक्षणसे पापोंको उपशम (दूर) करनेवाले भक्तिके समस्त अङ्गोंको ही समझना चाहिए। धर्मशास्त्रमें भी यही कहा गया है कि प्रायश्चित्तके बलपर यदि कोई पाप करता है, तो उसका पाप नष्ट नहीं होता, बल्कि वह और भी गाढ़—अमिट रूप धारण कर लेता है।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—श्रील ग्रन्थकार महोदय द्वितीयामृत–वृष्टिमें श्रद्धा, साधुसङ्ग और अनिष्ठिता भजनक्रियाका वर्णनकर तृतीयामृत–वृष्टिमें अनर्थनिवृत्तिके स्तरोंका वर्णन कर रहे हैं। जो अर्थ नहीं है, उसे 'अनर्थ' कहते हैं। अनर्थ वह है जो अर्थ न हो। 'अर्थ' का साधारण अर्थ धन–सम्पत्ति समझा जाता है, परन्तु 'अर्थ' का वास्तविक अर्थ परमार्थवस्तु है। जो परमार्थ नहीं है, वही अनर्थ हैं। परमार्थ वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी प्रेमसेवा है। अतः श्रीकृष्ण और उनकी प्रेममयी सेवा अर्थात् कृष्णभक्तिकी कामनाको छोड़कर जो भी कामना है, वह सब अनर्थ है। भोगोंकी कामना दुर्वासना है, जो समस्त अनर्थोंका मूल है, यहाँ तक कि मुक्तिकी कामना भी अनर्थ है। जीव स्वरूपतः कृष्णदास है, इसलिए श्रीकृष्ण और उनकी प्रेमसेवा ही यथार्थ अर्थ है। इसके विपरीत जो परमार्थ नहीं है अथवा जो परमार्थका बाधक है, वही अनर्थ है।

भक्ति या भागवत धर्म अत्यन्त अद्भुत शक्तिशाली साधन है। अनर्थमुक्त साधक इस साधनके तनिक सम्पर्कसे भी अनायास ही कृतार्थ हो जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि॥
(श्रीमद्भा. ११/२/१२)

"भक्ति या भागवत धर्म एक ऐसा विलक्षण साधन है, जिसके श्रवण करने, वाणीसे उच्चारण करने, चित्तसे स्मरण करने, हृदयसे स्वीकार करने या कोई इसका पालन करने जा रहा हो, उसका अनुमोदन करनेसे ही मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है—चाहे वह

भगवान् एवं सारे संसारका द्रोही ही क्यों न हो।" ऐसी भक्तिसाधना जिसके द्वारा बाधित होती है, उन अनर्थों अर्थात् भक्तिके बाधाओंका ही इस वृष्टिमें विस्तृत रूपसे वर्णन होगा। इसलिए प्रत्येक साधकको विशेष सावधानीके साथ इसका अनुशीलन करना कर्त्तव्य है। श्रील नरोत्तम ठाकुरने कहा है, "अन्तराय नाहि याय, एइ से परम भय" अर्थात् "अनर्थ दूर नहीं हो रहा है इसलिए अत्यन्त भय है।"

अनादिबद्ध जीवोंकी भोगवासना या दुर्वासना ही अनर्थोंकी जड़ है। वे अनर्थ चार प्रकारके हैं—दुष्कृतोत्थ, सुकृतोत्थ, अपराधोत्थ एवं भक्त्युत्थ।

(१) दुष्कृतोत्थ अनर्थ—पूर्व जन्मोंमें किए हुए कर्मोंके फलसे दुःखजनक विषयमें अभिनिवेश होना, द्वेष, राग, अविद्या और अस्मिता—ये पाँच प्रकारके क्लेश हैं। इनका द्वितीयामृत-वृष्टिमें वर्णन किया जा चुका है। ऐसे दुष्कृतोंसे होनेवाले अनर्थ दुष्कृतोत्थ कहलाते हैं। इसका सारांश है कि अनादि अविद्याग्रस्त कृष्णबहिर्मुख जीवोंकी दुर्वासनाके फलसे देह-दैहिक आदिमें 'मैं' और 'मेरा' अभिमान, जड़ीय भोग वस्तुओंके प्रति राग या प्रीति, त्रितापादि दुःखोंके प्रति द्वेष—इसके फलस्वरूप देह-दैहिकादि वस्तुओंमें प्रचण्ड अभिनिवेशका प्रबल संस्कार जीवोंके हृदयमें बद्धमूल है, भजनके समय वही संस्कार श्रवण, कीर्त्तनादिमें बाधक होनेपर उसे 'दुष्कृतिजात अनर्थ' कहते हैं।

(२) सुकृतोत्थ अनर्थ—पूर्वजन्ममें किए हुए सत्कर्म या सकाम पुण्यकर्मोंके फलसे अनित्य स्वर्गादि लोकोंके भोगसुखोंकी जो कामनाएँ होती हैं, उन्हें 'सुकृतोत्थ अनर्थ' कहते हैं। साधकभक्तके भजनके समय पूर्वजन्मके इस संस्कारवशतः भोगकी कामनाएँ हृदयमें उत्पन्न होती हैं, उन्हें 'सुकृतिजात अनर्थ' कहते हैं। मुक्तिकी कामना भी इसी अनर्थके अन्तर्भुक्त है। भुक्ति और मुक्ति सुखकी कामना हृदयमें रहनेसे भजनरसका आस्वादन कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए ऐसा कहा गया है, "भुक्ति-मुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते। तावद्भक्ति-सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्?" (भ. र. सि. १/२/२२) अर्थात् "भुक्ति और मुक्तिकी कामनारूप पिशाची जब तक हृदयमें विद्यमान रहती है, तब तक भक्तिसुखकी उन्नति कैसे सम्भव है?" इसलिए

पतञ्जलि आदि प्रमुख महर्षियोंने इस सुकृतिजात अनर्थको अविद्या, अस्मिता आदि पाँच प्रकारके क्लेशोंके अन्तर्गत ही माना है।

(३) अपराधोत्थ अनर्थ—अपराधसे जो अनर्थ उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'अपराधोत्थ अनर्थ' कहते हैं। ये अपराधोत्थ अनर्थ ही प्रायः भजनके प्रबल विघ्नकारी होते हैं। इसलिए श्रील ग्रन्थकारने इन अनर्थोंके विषयमें विशेष रूपसे विवेचन किया है। पाप और अपराध साधारणतः एक ही अर्थवाले प्रतीत होते हैं, किन्तु भक्तिशास्त्रमें पाप और अपराधमें बहुत भेद माना गया है। भजनके आभासमात्रसे ही जलती हुई आगमें रूईके ढेरकी भाँति पापराशि ध्वंस हो जाती है, किन्तु अपराध सहज ही ध्वंस नहीं होता। अपना अपराध स्वीकारकर तीव्र अनुतापसे ही अपराधका प्रायश्चित्त सम्भव है। पापी व्यक्ति अनायास ही भजनके बलसे सिद्धि प्राप्त कर सकता है, किन्तु अपराधी व्यक्तिके लिए वह सम्भवपर नहीं होता। किसी प्राणीकी हत्या, चोरी, परनारी गमन, व्यर्थ-बकवाद, कठोर-भाषण, दुष्टाचरण, दुराचार, दूसरेके धन आदिको हड़पना, दूसरेको दुःख देना, दूसरेकी बुराई करना, शराब पीना, मांस-अण्डादि अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करना—ये सब स्मृति शास्त्रमें 'पाप' कहे गए हैं। इनको भी फिर नौ श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीगण, अपात्रीकरण, जातिभ्रंशकर, मलावह और प्रकीर्ण।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ. ८/२६-३०) में इसलिए लिखा है—

एक 'कृष्णनाम' करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद-कम्प-पुलकादि गद्गदाश्रुधार॥
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फले पाइ एत धन॥
हेन कृष्णनाम यदि लय बहुबार।
तबु यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार॥

तबे जानि, अपराध ताहाते प्रचुर।
कृष्णनाम–बीज ताहे ना करे अङ्कुर॥

अर्थात् "एक शुद्ध कृष्णनामके आभासके फलसे ही समस्त पापोंका विनाश हो जाता है, और तत्पश्चात् प्रेमका कारण भक्ति प्रकाशित होती है। प्रेमके उदय होनेपर स्वेद, कम्प, पुलक, गद्‌गद अश्रुधारादि प्रेमके विकार उदित होते हैं और अनायास ही उसका संसार नष्ट हो जाता है तथा कृष्णकी सेवाको प्राप्त करता है। एक कृष्णनामके इतने सारे फल भक्त प्राप्त करता है। किन्तु ऐसा कृष्णनाम यदि बार–बार लेनेपर भी न तो प्रेम उदित होता है न नेत्रसे अश्रुधारा ही प्रवाहित होती है, तब इसका कारण प्रचुर अपराध है। अपराध रहनेसे कृष्णनाम बीजका अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता।" इन वचनोंसे यह सहज ही जाना जा सकता है कि अपराध भक्तिके लिए कितनी भयङ्कर बाधा या अनर्थ है। देहात्मबुद्धिवशतः मनुष्योंके चित्तमें जो अभिमान या भोगवासना उत्पन्न होती है, उससे दूसरोंके धन–सम्पत्तिका अपहरण, हिंसा, मिथ्या–भाषण, मांस–मछली आदिका भक्षण इत्यादि उत्पन्न होता है, वही पाप है। देह अनात्म अर्थात् जड़ वस्तु है। इस देहके अनात्म अभिमान एवं अनात्म वस्तुके भोगके लिए जो वासना होती है, उससे अनात्म वस्तुके सम्बन्धमें तन, मन और वचनके द्वारा जो सब असत्कर्म होते हैं, वे पाप कहलाते हैं। इसलिए अनात्म वस्तुके साथ ही पापका सम्बन्ध है। ये आत्माको स्पर्श नहीं कर पाते। इनकी क्रिया अनात्मदेह और मनमें ही अरोपित होती है।

किन्तु अपराध पापकी अपेक्षा अत्यन्त गुरुतर या भीषण होता है। उसकी क्रिया साक्षात् रूपसे आत्माको अनावृत करती है। भक्तिपथका अवलम्बनकर कोई व्यक्ति जब श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान करते हैं, तब उनके श्रवण, कीर्त्तन आदि आत्म या चिद्वस्तु हैं। वे आत्माके उद्देश्यसे अनुष्ठित हुआ करते हैं। पुनः इसके विषय भगवान्, भक्त, श्रीनाम और श्रीधाम आदि सभी चिद्वस्तु हैं। इनके प्रति प्राकृतबुद्धि द्वारा अवज्ञा, अनादर आदि—ये बुरे कर्म ही

'अपराध' हैं। इसलिए अनात्मवस्तु सम्बन्धित निन्दनीय कर्म ही पाप है और आत्मवस्तु सम्बन्धीय निन्दनीय कर्म अपराध है। इसलिए पापका फल अनात्मा क्षणभंगुर देहको स्पर्श करता है और अपराधका फल आत्मवस्तु देही अर्थात् जीवात्माको स्पर्श करता है। अपराध जीवात्माके साधनभजनके लिए भीषण बाधा उत्पन्न करता है। यहाँ तक कि विषयजातीय अपराधकी अपेक्षा आश्रयजातीय या महत्पुरुषोंके प्रति अपराध भक्तिको मूलसे ही उखाड़ या सुखा देते हैं और भक्ति अन्तर्हित हो जाती है। विषयजातीय अपराध या श्रीभगवान्‌के प्रति अपराध भक्ति प्रवृत्तिको ढक देते हैं, अथवा उसे संकुचित कर देते हैं। किन्तु वह दूर होनेपर भक्ति पुनः प्रकाशित हो जाती है। किन्तु भगवत्–अपराधकी अपेक्षा भी वैष्णवापराध भीषण होता है, शास्त्रोंके द्वारा ऐसा ज्ञात होता है।

अपराधका मूल कारण ढूँढ़नेपर यह ज्ञात होता है कि प्रीतिके विपरीत द्वेषभावात्मक बुरे कार्य ही सभी अपराधोंके मूल हैं। यह द्वेषभाव अपराध मूलक होनेके कारण प्रीतियोग्य महापुरुषों एवं प्रीतिके आश्रयभूत साधकोंके मध्य एक ऐसी बाधाकी सृष्टि करता है जिससे मनुष्य अधम होनेपर भी अपनेको उत्तम समझता है, मूर्ख होनेपर भी अपनेको महाबुद्धिमान समझता है और महत्पुरुषोंके प्रति प्राकृत बुद्धिसे अवज्ञा या अनादर किया करता है। शास्त्रोंमें महत् कहनेसे श्रीगुरुदेव, श्रीवैष्णव और भगवत्–धामादि निर्गुण स्थानस्थित प्राणियोंका बोध होता है, इनका शरीर अप्राकृत या निर्गुण होता है, इनके प्रति प्राकृत बुद्धि रखनेसे महत् अवज्ञारूप अपराध होता है। प्राकृत बुद्धिके द्वारा महत्पुरुषोंके प्रति सम्मान दान करनेमें भी वह अवज्ञाके रूपमें ही पर्यवसित हो जाता है तथा स्वभावसे परमकरुण महापुरुषोंके स्नेह, करुणा या कृपासे साधकोंको वंचित करता है। 'राध' शब्दका अर्थ सन्तोष है। यह सन्तोष अपगत हुआ है अर्थात् दूर हुआ है, जिस कारणसे वही अपराध है। जिससे भगवान्, नाम, श्रीगुरु और वैष्णवोंका सन्तोष अपगत होता है अर्थात् दूर होता है, उसे 'अपराध' कहते हैं।

भक्ति, भक्त और भगवत्कृपा जिस प्रकार भगवत्प्राप्तिके मुख्य उपाय हैं, उसी प्रकार उनके सम्बन्धमें अवज्ञा, अश्रद्धा, अनादर, निन्दा इत्यादि भगवत्प्राप्तिके लिए प्रबल बाधक हैं। इसलिए उनके प्रति कोई अवज्ञा न हो जाए, इसलिए बड़ी सावधानीसे शरणागत होकर उनके स्वरूप ज्ञानके साथ उनके प्रति समुचित गौरव, सम्मान आदि रखकर आदर सहित भजनमें प्रवृत्त होना ही अपराध दूर करनेका एकमात्र उपाय है और तभी निरपराध भजन सम्भव है।

अनन्तर श्रीग्रन्थकार कह रहे हैं 'अपराधोत्थ अनर्थ' कहनेसे यहाँ नामापराधको ही ग्रहण करना चाहिए, सेवापराधको नहीं। क्योंकि विचारबुद्धिसम्पन्न सज्जनगण सेवापराध दूर करनेवाले श्रीहरिनाम और श्रीहरिके स्तव, स्तोत्रादि पाठ और निरन्तर भगवत्सेवाके द्वारा प्रतिदिन उत्पन्न सेवापराध दूर करनेका विधान कर लेते हैं। किन्तु यदि कोई नामके बलपर या स्तोत्रादि पाठके बलपर पुनः-पुनः सेवापराध करे, तो वह सेवापराध ही नामापराधके रूपमें परिणत हो जाता है। इसलिए साधकोंके लिए सेवापराधको भलीभाँति जानना आवश्यक है।

पद्मपुराणमें बत्तीस प्रकारके सेवापराधोंका वर्णन मिलता है। (१) पादुका पहनकर मन्दिरमें जाना, (२) सवारीमें बैठकर मन्दिरमें जाना, (३) इष्टदेवके उत्सवोंका निरादर या अनुष्ठान न करना, (४) अभीष्टदेवके सम्मुख उपस्थित होकर भी उन्हें प्रणाम न करना, (५) उच्छिष्ट अवस्थामें भगवान्‌की वन्दना करना, (६) अपवित्र अवस्थामें भगवान्‌की वन्दना करना, (७) एक हाथसे प्रणाम करना, (८) देवताको पीठ दिखाकर प्रदक्षिणा करना अर्थात् भगवान्‌की दाहिनी ओर पीठ पीछे और बाईं ओर जिस प्रकार परिक्रमा की गई है सम्मुख आनेपर भी उसका परिवर्त्तन न कर प्रदक्षिणा करना, (९) विग्रहके आगे पैर पसारना, (१०) उनके सामने हाथोंसे अपने घुटनोंको बाँधकर बैठना, (११) उनके आगे शयन करना, (१२) उनके सामने भोजन करना, (१३) विग्रहके सामने मिथ्या-भाषण करना, (१४) विग्रहके सामने उच्च स्वरसे बोलना, (१५) आपसमें वार्त्तालाप करना, (१६) विग्रहके सामने रोना, (१७) विग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह और निग्रह करना (डांटना-फटकारना), (१८)

उनके सामने किसीके प्रति निष्ठुर या क्रूर भाषाका प्रयोग, (१९) उनके सामने या सेवामें कम्बल धारण करना, (२०) उनके सामने किसीकी निन्दा करना, (२१) दूसरोंकी स्तुति करना, (२२) अश्लील भाषण करना, (२३) अधोवायु परित्याग करना, (२४) सामर्थ्य रहनेपर भी गौण-उपचारसे सेवा करना अर्थात् अर्चनके समय पुष्प, तुलसी, धूप, दीप और नैवेद्य आदि प्रधान-प्रधान सेवाके उपकरणोंको अर्पण करनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी जल आदि गौण उपचार अर्पण करना, (२५) अनिवेदित वस्तुओंका भोजन करना, (२६) समयोपयोगी फल-पुष्प आदि अर्पण न करना अर्थात् जिस ऋतुमें जो फल आदि उत्पन्न होते हैं, उन ऋतुओंमें उन्हें भगवान्को अर्पण न करना, (२७) किसी भी वस्तुके अग्रभागको स्वयं भोजनकर या दूसरोंको देकर उसका अवशिष्ट भाग भगवान्को अर्पण करना, (२८) विग्रहको पीठ दिखाकर बैठना, (२९) विग्रहके सम्मुख दूसरोंको प्रणाम अथवा अभिवादन करना, (३०) गुरुदेवके सामने मौन रहना अर्थात् स्तव, प्रणाम आदि न कर, उनके प्रश्नोंका उत्तर न देकर चुपचाप बैठना, (३१) अपनी प्रशंसा करना और (३२) देवताओंकी निन्दा करना। ये बत्तीस प्रकारके सेवापराध हैं, इनका परित्याग करना चाहिए।

वराहपुराणमें भी कुछ सेवापराध कहे गए हैं, जो संक्षेपमें इस प्रकार हैं—राजाका अन्नखाना, अन्धकारयुक्त गृहमें भगवान्को स्पर्श करना, विधिके बिना भगवान्के समीप जाना, घण्टादि वाद्यके बिना मन्दिरके द्वारको खोलना, कुत्ता आदिके उच्छिष्ट द्रव्यका संग्रह करना, पूजादिके समय मौन खोलना, पूजा करते समय मलमूत्रादि त्याग करनेके लिए बाहर जाना, गन्ध-माल्यादि अर्पण न कर पहले ही धूप देना, निषिद्ध पुष्पोंसे पूजन करना, दन्तधावन न करके और स्त्री-संसर्गके बाद स्नानादिके बिना ही सेवा करना, रजस्वला स्त्री, दीपक और मृतकको स्पर्श करके; रक्त, नीला और अधौतवस्त्र या दूसरोंके वस्त्र या मलिन वस्त्र धारण करके सेवा करना, मृतकका दर्शन करके, अपान-वायुको त्यागकर, क्रोध करके, श्मशानमें जाकर, अजीर्ण अवस्थामें, तेलमर्दन करके विग्रहको स्पर्श और पूजादि कार्य करना भी अपराध है।

अन्य शास्त्रोंमें भी कुछ सेवापराध दृष्टिगोचर होते हैं—जैसे भगवत्-सम्बन्धी शास्त्रका अनादरकर दूसरे शास्त्रका प्रवर्त्तन करना, विग्रहके सामने ताम्बूल चर्वण करना, एरण्ड (रेंड) आदिके निषिद्ध पत्तोंमें रखे हुए पुष्पादि द्वारा पूजन करना, आसुरिक समयमें पूजा करना, चौकीपर बैठकर अथवा बिना आसनके पूजा करना, स्नानके समय बायें हाथसे विग्रहको स्पर्श करना, बासी और दूसरोंसे माँगे हुए पुष्पोंसे पूजन करना, पूजाके समयमें थूकना, 'मैं बहुत अच्छा पुजारी हूँ' ऐसी आत्मप्रशंसा करना, तिर्यक-पुण्ड्र तिलक धारण करना, पैर धोए बिना मन्दिरमें प्रवेश, अवैष्णवके द्वारा पकाए हुए अन्नको हरिको अर्पण करना, अवैष्णवके सम्मुख पूजन करना, विघ्नेश अर्थात् श्रीनृसिंहदेवकी पूजा न करके एवं कापालिक दर्शनकर पूजन करना, नाखूनसे स्पर्श किए हुए जलसे विग्रहको स्नान कराना। अपने शरीरमें पसीना आनेपर पूजन करना, भगवत्प्रसादी वस्तुओंका उल्लंघन करना, भगवान्‌की शपथ लेना—ऐसे और भी अनेक सेवापराध शास्त्रोंमें बतलाए गए हैं।

भगवत्-सेवनकालमें ये सेवापराध न हों, बुद्धिमान भक्त इस विषयमें सावधान होकर ही सेवा करते हैं। इस विषयमें उनकी कोई शिथिलता नहीं होनी चाहिए। यदि अनजानमें कोई सेवापराध हो भी जाता है तो नामसंकीर्त्तन, स्तोत्रपाठ और सेवादिके द्वारा प्रतिदिन वह विनष्ट हो जाता है। उसके पुनः अङ्कुरित होनेकी सम्भावना नहीं रहती है। किन्तु नामग्रहण, स्तोत्रपाठ और सेवाके द्वारा हमारा सेवापराध प्रतिदिन नष्ट हो रहा है, इसलिए सेवापराध होनेपर भी कोई हानि नहीं है, ऐसा समझकर जो सेवापराधके प्रति सावधान नहीं रहते, उनके लिए वे सेवापराध सेवापराध न रहकर, नामके बलसे पापाचरण प्रवृत्ति रूप भयङ्कर नामापराध हो जाते हैं, क्योंकि भक्ति शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है—"नामके बलपर जो पुनः-पुनः पापाचरण करते हैं, वे अपराधी हैं।" और भी धर्मशास्त्रोंमें ऐसा उल्लेख है कि प्रायश्चित्तके बलपर पापाचरण करनेकी प्रवृत्ति होनेसे प्रायश्चित्तके द्वारा पाप क्षीण नहीं होते, बल्कि वज्रलेपकी भाँति वे और भी प्रगाढ़ हो जाते हैं। यहाँ नामके बलपर यह बात उपलक्षणमात्र है। किसी भी

भजन–अङ्गके बलपर पाप करनेसे वह अपराधके रूपमें ही बदल जाता है।

नामके बलपर पाप करना

नन्वेवं—"न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि" इति "विशेषतो दशर्णोऽयं जपमात्रेण सिद्धिद" इत्यादि वाक्यबलेन तत्तदङ्गानामननुष्ठाने वैकल्यादावपि वा जाते नामापराधः प्रसज्जेत। मैवम्। नाम्नो बलाद् यस्येत्यत्र पापे बुद्धिश्चिकीर्षादि। तदेव हि पापं यत्र सति निन्दा–प्रायश्चित्तादिश्रवणम्। न च कर्ममार्ग इव भक्तिमार्गेऽपि अङ्गवैकल्यादौ क्वापि निन्दाश्रवणमिति न तत्रापराधशङ्का।

भावानुवाद—यदि कहा जाए कि "हे उद्धव! मेरे इस भागवत्–धर्मके आरम्भ कर देनेके बाद इसका अणुमात्र भी ध्वंस नहीं होता" एवं विशेषकर "यह दशाक्षर मन्त्रजप करनेमात्रसे ही सिद्धि प्रदान करता है"—ऐसे शास्त्रवचनोंके बलपर भक्तिके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान न करनेपर अथवा अङ्गहानि करनेपर क्या नामापराध होगा या नहीं? तो इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, ऐसा नहीं होगा। क्योंकि "नामके बलपर जिसकी पापबुद्धि है, वहाँ पाप है।" इस वचनमें पापबुद्धिका अर्थ है—जिसकी नामके बलपर पाप करनेकी इच्छा है। पाप भी वही है, जिस कार्यके करनेपर लोकमें निन्दा हो और शास्त्रमें जिसके प्रायश्चित्तका विधान सुना जाता है। कर्ममार्गकी तरह भक्तिमार्गमें अङ्गहानि आदि कभी नहीं होती और न ही इस विषयमें कभी निन्दा सुनी जाती है। अतः इस विषयमें अपराधकी आशङ्का नहीं है।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—अपराध भक्ति या भजनकी प्रबल बाधास्वरूप है। इसका पहले वर्णन किया जा चुका है एवं नामके बलपर पापाचरणकी वृत्ति एक भीषण नामापराध है, यह भी वर्णन किया जा चुका है। अब इस विषयमें एक दूसरी शङ्काका समाधान किया जा रहा है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवके प्रति कहा है, "न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।" (श्रीमद्भा. ११/२९/२०) "हे प्रिय उद्धव! भक्ति या भागवत्–धर्मका ऐसा अद्भुत प्रभाव है कि इसको एक बार

आरम्भ करनेके बाद परिसमाप्ति नहीं होनेपर भी इसके अणुमात्र ध्वंसकी सम्भावना नहीं होती। किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे इसमें तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने ही इसे निर्गुण होनेके कारण सर्वोत्तम निश्चय किया है।"

अर्थात् जिस प्रकार कर्म, योगादि आरम्भसे लेकर परिसमाप्ति तक पूर्ण रूपसे निर्विघ्न और साङ्गोपाङ्ग रूपमें आचरित होनेपर ही वे फलजनक होते हैं, अन्यथा वे व्यर्थ हो जाते हैं। किन्तु भक्ति या भागवत धर्मका लक्षण ऐसा नहीं है। इसका आरम्भ होनेपर परिसमाप्तिके अभावमें भी या अङ्गहीन होनेपर भी, यह कभी निष्फल नहीं होती। क्योंकि भक्तिधर्म निर्गुण है गुणातीत वस्तुके ध्वंस होनेकी कोई सम्भावना नहीं है। जिस प्रकार गन्दी वस्तुओंके भीतर यदि एक स्वर्णखण्ड असावधानीसे गिर जाए तो गन्दी वस्तुएँ सड़-गलकर नष्ट हो जानेपर भी स्वर्णखण्ड कभी भी नष्ट नहीं होता, वह अन्तमें मिल ही जाता है। उसी प्रकार भागवत धर्म या भक्तिका अनुष्ठान जितने ही परिमाणमें ही क्यों न किया जाए, विघ्न-बाधा उपस्थित होनेपर भी कुछ काल विलम्बसे ये विघ्न-बाधाएँ दूर होनेपर पुनः उसे अवश्य ही प्राप्त होते हैं अर्थात् भक्ति अनुष्ठान वहींसे आरम्भ होकर क्रमशः पूर्ण होकर अवश्य ही प्रेमफल प्रदान करते हैं। उसी प्रकार दशाक्षर मन्त्र जपमात्रसे सिद्धि प्रदान करता है। ऐसा अवगत होता है।

यहाँ इन वचनोंको देखकर शङ्का उठनी स्वाभाविक है यह भी तो भक्ति-अङ्ग अथवा मन्त्रजपके बलपर अपराध होना ही है? भक्ति-अङ्गके अनुष्ठानके अधूरा छूट जानेपर भी, भक्ति-अङ्गकी हानि होनेपर भी और मन्त्रजपमें अन्य अनुष्ठानोंके अभावमें भी सिद्धि-प्राप्ति—इसके मूलमें तो भक्ति-अङ्ग या नामका ही बल है, जिसके कारण अनुष्ठानकारी सभी अपराधों, विधि-निषेधोंसे छूट जाता है और फल भी प्राप्त करता है। इसे क्या नामापराध नहीं माना जाएगा?

इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, यह नामापराध नहीं है। नामके बलपर जो पाप-अपराध करता है—इस तरह सोचकर कि "मैं अब पाप कर लेता हूँ, इसके लिए मैं भक्तिका अनुष्ठान कर लूँगा, इतना

दान-पुण्य कर लूँगा, इतना नाम जप कर लूँगा"—इस प्रकार जो पाप करता है, उससे नामापराध होता है। पाप भी वह गर्हित कर्म है, जिसके करनेसे लोकमें निन्दा होती है और शास्त्र भी उसे पाप कहकर उल्लेख करते हैं तथा फिर उसके प्रायश्चित्तका भी वर्णन करते हैं।

उपर्युक्त शास्त्रवचनोंमें ऐसी कोई भी बात नहीं है। पापकी इच्छा लेकर भागवत धर्मके आचरणका या मन्त्रजप करनेका उपदेश नहीं दिया गया है। भक्ति या भागवत धर्मका या मन्त्रजपका अनुष्ठान भगवत्-प्राप्तिकी इच्छासे ही किया जाता है। यदि वह अनुष्ठान साधकके रोगग्रस्त होने या मर जाने और किसी प्रकारके विघ्न-बाधासे पूरा नहीं हो पाता, अर्थात् साधक अपने चरम लक्ष्य तक यदि नहीं पहुँच पाता तो यह कोई पाप नहीं है। इसमें पापबुद्धि या पापकी इच्छाका अवकाश भी नहीं है।

विशेषकर कर्ममार्गमें विधि-विधान, मन्त्र, आचरण आदिमें तनिक त्रुटि होनेसे कर्मकी अङ्ग-हानि मानी जाती है, जिससे वह अपना फल प्रदान नहीं कर सकता। किन्तु भक्तिपथमें ऐसी बात नहीं है। भक्ति स्वयंप्रकाश विभु वस्तु है, पूर्ण स्वतन्त्र है, उसमें कोई अङ्ग-हानि सम्भव ही नहीं है। किसी भी भक्ति-अङ्गका अनुष्ठान अपने आपमें पूर्ण है। यदि अधूरा रह जाता है तो भी निश्चित रूपसे अपना फल प्रदान करता है, कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। भक्ति-अङ्गके पूर्ण न होनेपर लोकमें भक्तकी कोई निन्दा नहीं करता। शास्त्रमें उसे न ही निन्दित कहा गया है और न ही उसके प्रायश्चित्तका शास्त्रमें उल्लेख है। अतः ऊपर कहे हुए शास्त्रवचनोंमें नामापराधकी कोई भी आशङ्का नहीं उठती।

सारांश यह है कि पापकी इच्छाको लेकर जो नाम या भक्तिके किसी अङ्गका अनुष्ठान करता है अथवा नाम या भक्तिके द्वारा जो अपने द्वारा जान-बूझकर किए पापोंको धोनेकी कामना रखता है, वह नामापराध है। ऐसा पाप वज्रके समान दृढ़ हो जाता है। उससे कभी भी छुटकारा नहीं मिल सकता।

भागवत धर्मके अवलम्बनसे सभी विघ्नोंका नाश

यदुक्तम् (श्रीभागवते)—

"ये वै भागवता प्रोक्ता उपाया आत्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥
यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥" इति

अत्र निमील्येति कर्त्तृव्यापारलिङ्गेन विद्यमाने एव नेत्रे मुद्रयित्वा तत्रापि धावन् पादन्यासस्थलमतिक्रम्यापि व्रजन् न स्खलेदिति अक्षरार्थलब्धे–र्भगवद्धर्ममाश्रित्य तदङ्गानि सर्वाणि ज्ञात्वापि अज्ञ इव कानिचिदुल्लंघ्यापि अनुतिष्ठन् न प्रत्यवायी स्यात् नापि फलाद्भ्रश्येदित्येषैव व्याख्या उपपद्यते। निमीलनं नामाज्ञानं तस्यापि श्रुतिस्मृती विषयावित्येषा तु न सङ्गच्छते मुख्यार्थबाधायोगात्। न च धावन् निमील्येत्येतदेव द्वात्रिंशदपराधाभावमपि क्रोडीकरोत्विति वाच्यम्। यान् भगवता प्रोक्तानुपायानाश्रित्येत्युक्तत्वात्। "यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे" इत्यादयस्तु तत्र निषिद्धा एव। सेवापराधे तु "हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद्द्विपदपांशनः" इत्यादिषु श्रूयन्त एव निन्दाः। किञ्च ते नामापराधाः प्राचीना अर्वाचीना वा यदि सम्यगनभिज्ञातप्रकाराः स्युः किन्तु तत्फललिङ्गेनानुमीयमाना एव तदा तेषां नामभिरेवाविश्रान्तप्रयुक्तैर्भक्तिनिष्ठायामुत्पद्यमानायां क्रमेणोपशमः। यदि ते ज्ञायन्त एव तदा त्वस्ति क्वचित् कश्चिद्विशेषः॥१॥

भावानुवाद—"भगवान्ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे साक्षात् अपनी प्राप्तिके लिए जो उपाय स्वयं श्रीमुखसे बतलाए हैं, उन्हें ही 'भागवत धर्म' समझो। हे राजन्! इस भागवत धर्मका अवलम्बन करके मनुष्य कभी विघ्नोंसे पीड़ित नहीं होता और नेत्र बन्द करके दौड़नेपर भी अर्थात् विधि-विधानमें त्रुटि हो जानेपर भी न तो मार्गसे स्खलित होता है और न ही पतित होता है तथा न फलसे वञ्चित ही होता है।" यहाँ 'निमील्य नेत्रे' पदका अर्थ कर्त्ताके व्यापार रूप लक्षण द्वारा नेत्र विद्यमान होते हुए भी नेत्रोंको बन्द करके—ऐसा प्रतीत होता है। 'धावन्' (दौड़ते हुए) शब्दसे साधारण

चालमें जहाँ पैर पड़ना चाहिए उस स्थलका अतिक्रम करते हुए—ऐसा अर्थ उपलब्ध होता है। अतः कोई व्यक्ति भागवत धर्मका आश्रय लेकर उस धर्मके समस्त अङ्गोंको जानते हुए भी अनजानकी भाँति किसी-किसी आनुषङ्गिक अङ्गका उल्लंघन करता है, परन्तु मूलधर्मका अनुष्ठान करता रहता है, तो वह किसी दोषको प्राप्त नहीं होता और न ही वह फलसे वञ्चित होता है; यहाँ यही व्याख्या उपयुक्त है।

यहाँ 'निमीलन' शब्दका अर्थ श्रुति या स्मृतिके विषयमें अज्ञान होना सङ्गत नहीं बैठता, क्योंकि उससे मुख्य अर्थमें बाधा आती है। इसलिए 'धावन्' और 'निमील्य'—इन पदोंसे यहाँ बत्तीस प्रकारके सेवापराधोंके अभावको भी अङ्गीकार किया गया हो, यह बात नहीं कही गई है। क्योंकि पहले ही यह कहा जा चुका है कि "श्रीभगवान् द्वारा कथित उन उपायोंका आश्रय लेकर मनुष्य कभी पीड़ित नहीं होता।" "सवारीपर चढ़कर या जूतादि पहनकर मन्दिरमें दर्शन करने जाना" निषिद्ध तो है ही, सेवापराधके विषयमें भी "पशुतुल्य मनुष्य श्रीहरिके प्रति अपराध करता है"—इत्यादि वचनोंमें भी ऐसे आचरणकी निन्दा ही सुनी जाती है और फिर नामापराध चाहे बहुत समय पूर्व किए गए हों या नये रूपमें किए गए हों, यदि वे समस्त केवल अज्ञानवश किए गए हों तथा उसके फल रूप चिह्न या लक्षणोंसे यह अनुमान हो जाए कि वह अपराधका फल है, तब यदि निरन्तर नाम ग्रहण करनेसे भक्तिमें निष्ठा पैदा हो जाए तो वे समस्त अपराध क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। किन्तु वे अपराध यदि जान-बूझकर किए गए हों, तब तो कहीं किसी रूपमें विशेषता ही दीखती है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीग्रन्थकार महोदय भक्तिके प्रबल विघ्न-बाधा स्वरूप या अनर्थ इस अपराध वर्णनके प्रकरणमें भागवत धर्म अङ्गहीन होनेपर भी अपना फल प्रदान करता है या उसमें अपराधका कोई प्रसङ्ग नहीं होता, यह वर्णन किया है। अब भागवत धर्म या भक्तिके अङ्गोंका अतिक्रमण करनेपर भी, भजनपथमें अत्यन्त तीव्र वेगसे अग्रसर होनेपर भी पतनकी आशङ्का नहीं है या उसमें तनिक भी अपराधकी आशङ्का नहीं है, श्रीमद्भागवतके श्लोकोंका प्रमाण

देकर यह प्रतिपादन कर रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीपाद कवि योगीन्द्र निमि महाराजसे कह रहे हैं—

ये वै भागवता प्रोक्ता उपाया आत्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥
यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥
(श्रीमद्भा. ११/२/३४-३५)

"भगवान्ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे साक्षात् अपनी प्राप्तिके लिए स्वयं श्रीमुखसे जो उपाय बतलाए हैं, उनको ही 'भागवत धर्म' समझो। हे राजन्! इस भागवत धर्मका अवलम्बन करके मनुष्य कभी विघ्नोंसे पीड़ित नहीं होता और नेत्र बन्द करके दौड़नेपर भी अर्थात् विधि-विधानमें त्रुटि हो जानेपर भी न तो मार्गसे स्खलित होता है और न पतित, न फलसे वञ्चित ही होता है।" अन्यान्य धर्मोंकी बात अन्यान्य ऋषिमुनियोंके द्वारा कही गई है; किन्तु भगवान्का स्वरूप, भागवत धर्म या भक्तिधर्मकी बात श्रीभगवान्के अतिरिक्त कोई भी कहनेमें सक्षम नहीं है, इसलिए भगवान्ने स्वयं ही भागवत धर्मका वर्णन किया है। उद्धवके प्रति श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/३)

"हे प्रिय उद्धव! यह वेदवाणी समयके फेरसे प्रलयके अवसरपर लुप्त हो गई थी; फिर जब सृष्टिका समय आया, तब मैंने अपने सङ्कल्पसे ही ब्रह्माको इसका उपदेश किया, इसमें मेरे भागवत धर्मका ही वर्णन है।" भागवत धर्मका फल प्रेमप्राप्ति और भगवान्की साक्षात् सेवा प्राप्ति है। भगवान्के श्रीचरणोंमें प्रेम और प्रेममयी सेवा कैसे प्राप्त हो सकती है, उसका उपाय भगवान् स्वयं अपने मुखसे कहनेसे जैसे निर्भरयोग्य और त्रुटिरहित होगा, दूसरोंके द्वारा बोलनेपर वैसा

नहीं हो सकता है। इसलिए भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखसे भागवत धर्मका वर्णन किया है।

"भागवत धर्म अज्ञ मनुष्योंके लिए अनायास ही आत्मप्राप्तिका उपाय है," इस वचनसे मानवमात्रको भक्तिमें अधिकार प्रदान किया गया है। उसी प्रकार भागवत धर्म भी अनायास सिद्धि प्रदान करता है। इसलिए अत्यन्त कठोर साधनयुक्त ज्ञान, योगादिसे भक्तिधर्मकी सहज साध्यताका वर्णन किया जा रहा है। इस धर्मका आश्रय करनेपर आँखें बन्दकर दौड़नेसे, पैर फिसलने या गिरनेकी सम्भावना नहीं है। यहाँ 'नेत्रे निमील्य' अर्थात् आँखोंको बन्दकर इस शब्दसे कर्त्तृव्यापाररूप लिङ्गके द्वारा अर्थात् कर्त्ताके द्वारा अनुष्ठित कर्मविशेष, इस लक्षणके द्वारा, और 'धावन्' शब्दसे वेगवशतः स्वाभाविकगतिकी अपेक्षा पैर रखनेकी जगह अतिक्रमकर, ऐसा अक्षरार्थ प्राप्त होता है। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति किसी लक्ष्यस्थानपर जानेके लिए तीव्र वेगसे दौड़ता है, तब स्वाभाविक पादविक्षेपके स्थानको अतिक्रमकर उसको दौड़ना होता है। इससे दौड़नेवालेका गन्तव्य स्थानकी ओर दृष्टि निबद्ध होती है, इसलिए नेत्र खुले रहनेपर भी पथकी ओर दृष्टि रखना सम्भवपर नहीं होता। उसी प्रकार इस भागवत धर्मका आश्रयकर उसके समस्त अङ्गोंको जानकर भी शीघ्र लक्ष्यस्थानपर पहुँचनेके लिए अज्ञकी भाँति कोई व्यक्ति किसी भक्ति-अङ्गको छोड़कर भी मूलधर्मका अनुष्ठान करता है, तो वह प्रत्यवायग्रस्त नहीं होता है या फलच्युत नहीं होता, यहाँ इस प्रकारकी व्याख्या ही उपलब्ध हो रही है।

'निमीलन' अर्थात् आँखोंको बन्दकर भक्तिमार्गपर चलनेका तात्पर्य, अज्ञान अर्थात् श्रुति, स्मृति विषयमें अज्ञान—इस प्रकारका अर्थ सङ्गत नहीं होता, क्योंकि मुख्यार्थ करनेमें बाधा होनेपर ही लक्षणाके द्वारा अर्थ किया जा सकता है। जैसे "गङ्गायां घोषः" अर्थात् "गङ्गामें घोष पल्ली है", इस वाक्यसे गङ्गाके स्रोतमें किसीका वास असम्भव है, इसलिए इसका अर्थ होगा "गङ्गाके तीरपर घोष पल्ली है", इस प्रकार लक्षणा द्वारा किया जाता है। यहाँ पूर्वोक्त स्थलपर मूलवाक्यके

अभिप्रेतार्थकी ही बाधा होती है। यहाँ नेत्र या दृष्टिशक्ति रहनेपर भी नेत्र बन्द करके, यह बात कही गई है, अर्थात् साधु, शास्त्र और गुरूपदेशके विषयमें ज्ञान रहनेपर भी तीव्र गतिसे दौड़नेके कारण तथा अनुरागके प्राबल्य वशतः तथा अन्य किसी युक्तिसङ्गत कारणसे साधारण विधिका उल्लंघनकर भक्त प्रत्यवायग्रस्त नहीं होता और उसे कोई दोष नहीं लगता, यही अभिप्रेतार्थ है। अतएव यहाँ स्वेच्छाचारवशतः किसी विहित भक्त्यङ्गके अनुष्ठानमें शिथिलता नहीं समझनी चाहिए।

यदि कोई ऐसा कहते हैं कि यहाँ 'धावन्' और 'निमील्य' इन दो पदोंके द्वारा बत्तीस प्रकारके सेवापराधका अभाव स्वीकृत हुआ है, अर्थात् इस भक्तिमार्गमें आँख बन्दकर तीव्र गतिसे दौड़नेपर भी अज्ञतावशतः सेवापराध होनेपर भी साधक दोषी नहीं होता अर्थात् उसे कोई अपराध या दोष नहीं लगता। ऐसे अर्थके लिए ही 'धावन्' और 'निमील्य' शब्दका प्रयोग हुआ है। किन्तु श्रील ग्रन्थकारका कहना है यह अर्थ युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि पहले ही ऐसा कहा जा चुका है "स्वयंभगवान्के द्वारा कथित इन उपायोंको आश्रयकर" अतएव श्रीभगवान् कभी भी स्वयं सेवापराधका प्रश्रय नहीं दे सकते। क्योंकि "यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे" अर्थात् यानवाहन या पादुका धारणपूर्वक श्रीमन्दिरमें गमन इत्यादि निर्दिष्ट सेवापराध निषिद्ध है। जो शास्त्रमें निषिद्ध है उसका भगवान् किस प्रकार विधान दे सकते हैं? सेवापराधके विषयमें भी "हरेरप्यपराधान् यः कुर्य्याद्द्विपदपांशनः" अर्थात् "जो द्विपद पशु श्रीहरिके निकट अपराध करते हैं" इस पुराणवचनके द्वारा सेवापराधकी निन्दा ही सुनी जाती है।

अधिकन्तु बहुत समय पूर्व ही हो अथवा अभी हो यदि नामापराध समूह अज्ञतावशतः अनुष्ठित होते हैं और बादमें उसके फलस्वरूप चिह्न या लक्षणके द्वारा अपराध हुआ है, अर्थात् भजनशैथिल्य और कृष्णेतर वस्तुओंमें अभिनिवेश आदि अपराध चिह्नोंके द्वारा अपराधका अस्तित्व समझा जाए, तो अविश्रान्त नामकीर्त्तनके द्वारा भक्तिनिष्ठाकी उत्पत्ति होनेपर क्रमशः उस अपराधका उपशम हुआ करता है। श्रीहरिभक्तिविलासमें ऐसा लिखा गया है—

जाते नामापराधेऽपि प्रमादेन कथञ्चन।
सदा संकीर्त्तयन्नाम तदेकशरणो भवेत्॥
नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवार्थ कराणि च॥

अर्थात् प्रमाद या भ्रमवशतः यदि नामापराध हुआ है, तो साधकको एकमात्र नामका ही आश्रय ग्रहणकर निरन्तर नामसंकीर्त्तन करना चाहिए। नामापराधियोंके उस अपराधको नाम ही दूर किया करते हैं, निरन्तर हरिनामसंकीर्त्तन करनेसे नाम ही उनके सब प्रकारके प्रयोजनको सुसिद्ध किया करते हैं। अज्ञानपूर्वक नामापराध होनेपर उसका फल विशेष भयानक नहीं होता। निरन्तर नामसंकीर्त्तनके द्वारा श्रीनाम उनके अपराधोंको दूरकर, प्रेमदानकर उसे धन्य कर देते हैं। किन्तु जान–बूझकर बुद्धिपूर्वक अपराध करनेपर उसका फल अत्यन्त भयङ्कर हुआ करता है एवं नामापराधके अनुरूप उसके क्षय होनेका भी विशेष विधान देखा जाता है।

‘साधुनिन्दा’—प्रथम नामापराध

यथा “सतां निन्देति” दशसु नाम्नः प्रथमोऽपराधः। तत्र निन्देत्यनेन द्वेषद्रोहादयोऽप्युपलक्ष्यन्ते। ततश्च दैवात् तस्मिन्नपराधे जाते “हन्त पामरेण मया साधुषु अपराद्धमिति” अनुतप्तो जनः “कृशानौ शाम्यति तप्तः कृशानुना एवायम्” इति न्यायेन तत्पदाग्र एव निपत्य प्रसादयामीति विषन्नचेतसा प्रणतिस्तुतिसम्मानादिभिस्तस्योपशमः कार्यः। कदाचित् कस्यचन कैरपि दुष्प्रसादनीयत्वे बहुदिनमपि तन्मनोभिरोचिन्यनुवृत्तिः कार्या। अपराधस्यातिमहत्त्वात् कथञ्चित् तयाप्यनिवर्त्त्यकोपत्वे “धिङ्मामक्षीणभक्तापराधं निरयकोटिषु पतन्तम्” इति निर्विद्य सर्वं परित्यज्य समाश्रयणीया नाम–संकीर्त्तनसन्ततिस्तया च महाशक्तिमत्याऽवश्यमेव काले ततः स्यादेवोद्धारः। किं मे मुहुर्मुहुरेव पादपतनादिभिः स्वापकर्षस्वीकारेण “नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्” इत्यस्यैव परमोपायः स एव समाश्रयणीयः इति भावनायां पूर्ववदेव पुनरपि नामापराधः।

भावानुवाद—सत्पुरुष या भक्तजनकी निन्दा दस प्रकारके नामापराधोंमेंसे प्रथम अपराध है। यहाँ 'निन्दा' शब्दसे द्वेष, द्रोह आदि भी उपलक्षित हैं। दैवात् निन्दा नामापराध हो जानेपर "हाय, हाय! मेरे जैसे नीचसे साधु-पुरुषोंके प्रति अपराध हो गया है," इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए—"अग्निसे जला व्यक्ति अग्निसे ही शान्ति प्राप्त करता है" इस न्यायके अनुसार "मैं उस साधु पुरुषके चरणोंमें गिरकर उसे प्रसन्न करूँगा"—इस प्रकार मन-ही-मन दुःखी होकर उस महत्पुरुषके प्रति अपराधको नमस्कार, स्तुति एवं सम्मानादि द्वारा शान्त करना चाहिए। यदि कदाचित् किसी साधुपुरुषको इन उपायोंसे प्रसन्न न किया जा सके तो अपराधी पुरुषको अनेक दिन तक उस साधुपुरुषके मनकी रुचिके अनुकूल उनकी सेवा करनी चाहिए। बहुत बड़ा अपराध होनेके कारण यदि किसी प्रकार भी उस सत्पुरुषके प्रति किया हुआ अपराध क्षीण नहीं हुआ, तब "मुझे कोटि-कोटि नरकोंमें पतित होना पड़ेगा।" इस प्रकार दुःखित होकर उसे सब काम छोड़कर श्रीहरिनाम-संकीर्त्तनका ही निरन्तर भली-भाँति आश्रय ग्रहण करना चाहिए। इस महाशक्तिशाली श्रीनामसंकीर्त्तनसे थोड़े ही दिनोंमें अपराधी व्यक्तिका अवश्य ही उद्धार हो सकेगा। किन्तु यदि अपराधी व्यक्ति ऐसा समझे कि शास्त्रमें लिखा हुआ है कि निरन्तर नामसंकीर्त्तन करनेसे ही उस अपराधसे मुक्ति हो सकती है। तब जिसके प्रति अपराध हुआ हो, उस महत्पुरुषके चरणोंमें पुनः-पुनः पतित न होकर इस अपराधको दूर करनेके लिए परम उपाय स्वरूप नामसंकीर्त्तनका आश्रय किया जाए, किन्तु ऐसा होनेसे पुनः नामापराध उत्पन्न होगा, उससे दूर नहीं होगा।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—नामापराध दस प्रकारके होते हैं। पद्मपुराणमें इसका बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण पाया जाता है—

(१) सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते,
यतः ख्यातिं यातं कथमु सहते तद्विगर्हाम्।
(२) शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादिसकलम्।
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥

(३) गुरोरवज्ञा (४) श्रुति-शास्त्र-निन्दनं
(५) तथार्थवादो (६) हरिनाम्नि कल्पनम्।
(७) नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
(८) धर्म-व्रत-त्यागहुतादि-सर्व-शुभक्रिया-साम्यमपि प्रमादः।
(९) अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः शिव-नामापराधः॥
(१०) श्रुतेऽपि नाम-माहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहंममादिपरमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥
(ह. भ. वि. ११/२८३-२८७)

(१) सन्तोंकी निन्दा श्रीनामके निकट भीषण अपराधका विस्तार करती है, जिन नामपरायण सन्त-महात्माओंके द्वारा श्रीकृष्णनामकी महिमाका संसारमें प्रचार होता है, उनकी निन्दा श्रीनामप्रभु कैसे सह सकते हैं? अतः साधुसन्तोंकी निन्दा करना प्रथम अपराध है। ऐकान्तिक नामपरायण सन्तोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिए, बल्कि उनको सर्वश्रेष्ठ साधु मानकर उनके सङ्गमें रहकर नामकीर्त्तन करना चाहिए, ऐसा करनेपर नामकी बड़ी जल्दी ही कृपा होती है।

(२) पहले श्लोकके दूसरे भागमें द्वितीय अपराधका उल्लेख है, उसकी व्याख्या दो प्रकारसे की जा सकती है। पहली व्याख्या यह है कि—देवताओंके अग्रणी सदाशिव और श्रीविष्णु, दोनोंके नाम और गुण आदिको बुद्धि द्वारा पृथक् माननेसे नामापराध होता है, तात्पर्य यह है कि सदाशिवको भगवान् श्रीविष्णुसे पृथक् एक स्वतन्त्र शक्तिसिद्ध ईश्वर माननेसे बहु ईश्वरवादका दोष उपस्थित हो जाता है, इससे भगवान्के प्रति अनन्यभक्तिमें बाधा उत्पन्न होती है। अतएव श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वर हैं और उनकी शक्तिसे ही शिव आदि देवताओंका ईश्वरत्व सिद्ध है—इन देवताओंकी कोई पृथक् शक्ति-सिद्धता नहीं है—ऐसा निश्चयकर हरिनाम करनेसे नामापराध नहीं होता।

दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—इस संसारमें जो मनुष्यबुद्धि द्वारा परम मङ्गलमय श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और लीला आदिको नामी-विष्णुसे पृथक् मानते हैं, उनका वह हरिनाम (नामापराध) निश्चय ही अहितकर है।

(३) नाम-तत्त्वविद् गुरुको मरणशील और पाञ्चभौतिक शरीरयुक्त साधारण मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करना अपराध है। जो नाम तत्त्वकी सर्वश्रेष्ठताकी शिक्षा देते हैं, वे नामगुरु हैं, उनके प्रति अचला भक्ति रखना कर्तव्य है। जो लोग नामगुरुके प्रति ऐसी अवज्ञा करते हैं कि वे केवलमात्र नामशास्त्र तक ही जानते हैं; परन्तु जो वेदान्तदर्शन आदि शास्त्रोंके पण्डित हैं वे अधिक शास्त्रोंके अर्थ जानते हैं, वे नामापराधी हैं। वास्तवमें नाम-तत्त्वविद् गुरुसे उत्तम गुरु नहीं हैं, उनको लघु माननेसे अपराध होगा।

(४) वेद और सात्त्वत पुराण आदि शास्त्रोंकी निन्दा करना। सभी वेदों और उपनिषदोंमें नामकी महिमा पाई जाती है। जिन मन्त्रोंमें नामकी महिमा प्रकाशित है, उनकी निन्दा करनेसे नामापराध होता है। कुछ लोग दुर्भाग्यवश श्रुतिके दूसरे उपदेशोंका सम्मान अधिक करते हैं तथा नाम-महिमा-सूचक श्रुतिमन्त्रोंकी उपेक्षा करते हैं। ऐसा करना भी नामापराध है। इस नामापराधका फल यह होता है कि नामापराधीकी नाममें रुचि नहीं होती।

(५) हरिनामकी महिमाको अति-स्तुति समझना अपराध है। अर्थवादका तात्पर्य यह है कि शास्त्रमें नामकी जो महिमा कही गई है, वास्तवमें सत्य नहीं है, वह तो केवल नाममें रुचि उत्पन्न करानेके लिए बढ़ा चढ़ाकर कही गई है। इस नामापराधसे अपराधी व्यक्तिकी नाममें रुचि नहीं होती।

(६) भगवन्नामको काल्पनिक समझना अपराध है। जो ऐसा मानते हैं कि ऋषियोंने अपने कार्योंकी सिद्धिके लिए राम-कृष्ण आदि नामोंकी कल्पना की है—वे नामापराधी हैं। हरिनाम काल्पनिक नहीं, वरन् नित्य और चिन्मय वस्तु हैं—भक्तिके द्वारा चित्-इन्द्रियोंपर आविर्भूतमात्र होते हैं। सद्गुरु और वेदशास्त्र यही शिक्षा देते हैं। अतः हरिनामको परम सत्य मानना चाहिए, उन्हें कल्पित समझनेसे कभी भी नामकी कृपा नहीं पाई जा सकती है।

(७) जिनकी श्रीनामके बलपर पापकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, उनकी अनेक यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि कृत्रिम योग-प्रक्रियाओंके द्वारा भी शुद्धि नहीं होती—यह निश्चित है।

(८) धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि प्राकृत शुद्ध कर्मोंको अप्राकृत भगवन्नामके समान या तुल्य समझना भी प्रमाद या असावधानी है। अतः हरिनामके साथ किसी भी सत्कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। जो लोग ऐसा करते हैं अर्थात् हरिनाम और सत्कर्मोंको बराबर मानते हैं, वे नामापराधी हैं। यदि कोई उन कर्मोंसे मिलनेवाले तुच्छ फलोंके लिए श्रीहरिनामसे प्रार्थना करते हैं तो वे नामापराधी हैं, क्योंकि इससे अन्यान्य सत्कर्मोंके साथ श्रीनामकी साम्यबुद्धि हो पड़ती है।

(९) श्रद्धाहीन और नाम-श्रवण करनेसे विमुख मनुष्यको नामका उपदेश देना भी नामापराध है। वेदोंमें जितने प्रकारके उपदेश हैं, उनमें हरिनामका उपदेश सर्वश्रेष्ठ है। जिनकी अनन्यभक्तिमें श्रद्धा हो गई है, वे ही हरिनामके यथार्थ अधिकारी हैं। जिनको वैसी श्रद्धा नहीं है, जो अप्राकृत हरिसेवासे विमुख हैं एवं हरिनाम श्रवण करनेमें जिनको अरुचि है, उन्हें हरिनामका उपदेश करनेसे नामापराध होता है।

(१०) नामकी अद्भुत महिमाको सुनकर भी जो (रक्त, मांस और चमड़ेके) शरीरमें 'मैं' और सांसारिक भोग्य पदार्थोंमें 'मेरेपन' की बुद्धि रखते हैं तथा श्रीनामोच्चारणमें प्रीति या आग्रह नहीं दिखलाते, वे भी नामापराधी हैं। नामापराधयुक्त व्यक्तियोंके पाप और अपराध नाम ही नष्ट करते हैं। निरन्तर नाम करनेसे ही प्रेमरूप अर्थ या प्रयोजन प्राप्त होता है।

श्रील ग्रन्थकार महोदयने स्वयं इन नामापराधोंके सम्बन्धमें विशेष रूपसे विवेचन किया है। महत्पुरुष अर्थात् नामाश्रय करनेवाले साधु-वैष्णवकी निन्दा दस अपराधोंमेंसे प्रथम अपराध है। कोई-कोई ऐसा समझते हैं कि साधु निन्दनीय कार्य करनेपर इनकी निन्दासे कोई अपराध नहीं होता, क्योंकि यह सच बात है। किन्तु श्रीधरस्वामीपादने श्रीमद्भागवतकी टीकामें लिखा है, "निन्दनं दोषकीर्त्तनम्" सत्य हो या झूठ, दोषकीर्त्तन करनेको ही 'निन्दा' कहते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दोषी व्यक्तिका दोषदर्शन न करनेसे उसका संशोधन कभी भी सम्भवपर नहीं है? उत्तरमें कहा गया है, जो श्रीगुरु, महान्त या

साधुसमाजके रक्षक और पालक हैं, वे लोग ही उसकी व्यवस्था करेंगे। साधारण साधक व्यक्ति केवल निन्दा चर्चाकर केवल अपराधी ही होंगे। उससे दोषीके दोषका संशोधन नहीं होगा।

निन्दाय नाहिक कार्य, सबे पाप–लाभ।
एतेके ना करे निन्दा महा–महाभाग॥
अनिन्दुक हइ जे सकृत् 'कृष्ण' बले।
सत्य सत्य कृष्ण तारे उद्धारिबे हेले॥
(चै. भा. म. ९/२४५–२४६)

यहाँ 'निन्दा' शब्दके द्वारा द्वेष और द्रोह इत्यादि भी उपलक्षित हैं। स्कन्दपुराणमें देखा जाता है, "हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति। क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥" "वैष्णवको मारना–पीटना, उनकी निन्दा करना, उनसे द्वेष करना, वैष्णवका अभिनन्दन न करना, उनके प्रति क्रोध प्रकाश करना, वैष्णवके दर्शनसे आनन्दित नहीं होना—ये छह प्रकारके वैष्णवापराध पतनके हेतु हैं।" वैष्णवके प्रति विद्वेष, निन्दासूचक वचनोंका प्रयोग, अश्रद्धा, अवज्ञा, साधुओंके कार्यमें असहिष्णुता प्रकाश करना, द्रोहादि आचरण वैष्णवापराध हैं। वैष्णवापराध अत्यन्त गुरुतर होनेके कारण नामापराधोंमें प्रधान और प्रथम अपराधके रूपमें इसकी गणना हुई है। प्रायशः यह अपराध ही प्रबल होकर साधकके साधनभजनमें प्रधान बाधक हो जाता है। श्रीरूप–शिक्षामें श्रीचैतन्यमहाप्रभुने स्वयं कहा है—

यदि वैष्णव–अपराध उठे हाती माता।
उपाड़े वा छिण्डे, तार शुखि' जाय पाता॥
ताते माली यत्न करि' करे आवरण।
अपराध–हस्तीर जैछे ना हय उद्‌गम॥
(चै. च. म. १९/१५६–१५७)

अर्थात् "यदि वैष्णवापराधरूप मतवाला हाथी उत्पन्न हो जाता है, तो वह भक्तिलताको जड़से उखाड़ देता है या उसको छिन्न–भिन्न कर डालता है। उसके पत्ते इत्यादि सभी सूख जाते हैं, इसलिए माली

अर्थात् साधकभक्त यत्नसे उसका आवरण करता है, जिससे अपराधरूप मतवाला हाथी उस आवरणके भीतर प्रवेश न कर सके।" महाप्रभुके इन वचनोंसे वैष्णवापराधकी भयावहताको समझा जा सकता है। इसलिए इस अपराधसे आत्मरक्षा करनेके लिए साधकको विशेष सतर्क रहना चाहिए। दैववश यदि किसी महत्के चरणोंमें अपराध हो जाए, तो "हाय! हाय! मैं अत्यन्त पामर हूँ। महत्पुरुषोंके चरणोंमें मैंने अपराध किया।" इस प्रकारसे गम्भीर अनुताप और आत्मग्लानि करनी चाहिए। अनुताप करना ही अपराधका यथार्थ प्रायश्चित्त है, ऐसा पहले भी कहा गया है। यदि महत्पुरुषोंके निकट क्षमा प्रार्थनाकर उन्हें प्रसन्न भी कर लिया जाए, फिर भी अनुतापसे हृदय दग्ध नहीं होता, तो अपराधीका हृदय शोधन नहीं होता। इसलिए अनुतप्त साधक, जैसे अग्निमें जले हुए व्यक्तिके अग्निके सेवन करनेसे ही ताप दूर होते हैं, उसी प्रकार जिस महत्पुरुषके निकट अपराध हुआ है, उसके श्रीचरणोंमें अत्यन्त दुःखी होकर प्रणति, स्तुति और सम्मान आदिके द्वारा किए हुए अपराधको शान्त करें। इस उपायका अवलम्बन करनेपर भी यदि कोई महत्पुरुष प्रसन्न न हों, तब उन्हें प्रसन्न करनेके लिए बहुत दिनों तक प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे उनके मनोऽभीष्ट कार्यका अनुष्ठानकर उनकी सेवा करते रहना चाहिए। ऐसा करनेसे स्वभावसे ही करुण महत्का चित्त अवश्य ही द्रवित हो जाएगा और वे प्रसन्न होकर क्षमा कर देंगे।

यदि अपराध अत्यन्त गुरुतर हो, जिनके प्रति अपराध हुआ है, वे यदि उल्लिखित उपायोंसे प्रसन्न नहीं होते हों, अथवा किसी प्रकार उनका क्रोध दूर नहीं होता हो, तो "हाय! हाय! महत्पुरुषके निकट किसी प्रकारसे हमारा अपराध दूर नहीं हो रहा है, इससे मुझे करोड़ों-करोड़ों नरकोंमें पतित होना होगा।" इस प्रकार गम्भीर आर्ति अथवा निवेदनके साथ सब कार्योंको छोड़कर निरन्तर हरिनाम-संकीर्त्तनका ही भली-भाँति आश्रय करना चाहिए। ऐसा होनेपर महाशक्तिशाली हरिनाम-संकीर्त्तन कभी-न-कभी अवश्य उस अनुतप्त व्यक्तिका उद्धार करेंगे। वह व्यक्ति लज्जा, संकोच आदिके वशीभूत होकर यदि ऐसा समझे कि "नामापराधी व्यक्तिका अपराध नामसंकीर्त्तनके द्वारा ही

दूर और शान्त हो जाएगा" शास्त्रमें जब ऐसा उल्लेख है, तब बार-बार अप्रसन्न साधुके श्रीचरणोंमें अपनी लघुता दिखलानेका प्रयोजन ही क्या है? अपराधको दूर करनेके लिए परमोपाय नामसंकीर्त्तनका ही आश्रय करूँगा। ऐसा होनेसे पूर्ववत् नामके बलपर पापप्रवृत्ति होनेसे प्रबल नामापराध उत्पन्न होगा।

कृपालुता आदि गुणोंका अभाव होनेपर भी भगवद्भक्तोंकी साधुता

न च "कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्" इत्यादि सम्पूर्णधर्मका एव सन्तस्तेषामेव निन्दा अपराध इति वाच्यम्। 'सर्वाचारविवर्जिताः शठधियो व्रात्या जगद्वञ्चकाः' इति तत्प्रकरणवर्त्तिना वचनेन तादृशदुश्चरितानामपि भगवन्तं भजतां कैमुतिकन्यायेन सच्छब्दवाच्यत्वेन सूचितत्वात्।

भावानुवाद—ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि कृपालु, अकृतद्रोह, सर्वप्राणियोंके प्रति सहिष्णु व्यक्तिको ही शास्त्रमें सम्पूर्ण रूपसे वैष्णव या वैष्णवधर्म युक्त कहा गया है, इसलिए ऐसे व्यक्तियोंकी निन्दा करना ही अपराध है। "सर्वाचार-विवर्जित, शठबुद्धि, पतित, जगद्वञ्चक" प्रभृति प्रकरणमें कहे गए वचनके द्वारा वैसा दुराचारी व्यक्ति भी भगवद्भजनपरायण होनेपर, उसे साधु ही समझना होगा—यह कैमुतिक-न्यायसे सूचित होता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—साधुनिन्दा भजनके लिए प्रबलतम विघ्न-बाधा कही गई है। श्रीमद्भागवतमें साधुपुरुषोंके अर्थात् भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान्ने श्रीउद्धवजीको सर्वप्रथम कहा है—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥
(श्रीमद्भा. ११/११/२९-३१)

अर्थात् "प्यारे उद्धव! मेरा भक्त कृपाकी मूर्त्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैर भाव नहीं रखता और घोर-से-घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सह लेता है। उसके जीवनका सार है सत्य। उसके मनमें किसी प्रकारकी पापवासना कभी उदित नहीं होती। वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुरस्वभाव और पवित्र होता है। संग्रह-परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तुके लिए कोई चेष्टा नहीं करता। परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सदा संलग्न रहता है। वह प्रमादरहित, गम्भीरस्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—ये छहों उसके वशमें रहते हैं। वह स्वयं तो किसीसे किसी प्रकारका सम्मान नहीं चाहता, परन्तु दूसरोंका सम्मान करता रहता है। मेरे सम्बन्धकी बातें दूसरोंको समझानेमें बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रताका व्यवहार करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी होती है। मेरे तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है।"

वे ऐसा कह सकते हैं कि ऐसे लक्षणोंसे युक्त व्यक्ति ही यथार्थ साधु है। उनके श्रीचरणोंमें अपराध ही यथार्थ नामापराध है। जिनमें पूर्वोक्त ये सब गुण नहीं हैं, ऐसे साधुवेशधारी व्यक्तियोंकी निन्दा कभी अपराधके रूपमें गण्य नहीं होती। जो लोग सामान्य कारणसे ही क्रोधित होकर अपराध ग्रहण कर लेते हैं और अपराधीके प्रति किसी प्रकार प्रसन्न नहीं होते हैं, अतएव उनमें ये सब गुणावली नहीं है, यह सहज ही अनुमेय है। इसलिए उनकी निन्दा कभी भी नामापराध नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं ऐसा समझना अत्यन्त भूल है। क्योंकि पद्मपुराणमें नामापराधके प्रसङ्गमें श्रीसनत्कुमारने नारदके प्रति कहा है—

सर्वाचारविवर्ज्जिताः शठधियो व्रात्या जगद्वञ्चका।
दम्भाहंकृतिपानपैशुनपराः पापास्त्यजा निष्ठुराः॥
ये चान्ये धनदारपुत्रनिरताः सर्वाधमास्तेऽपि हि।
श्रीगोविन्द-पदारविन्द-शरणा मुक्ता भवन्ति द्विज॥

अर्थात् "हे विप्र! सदाचार विवर्जित, शठबुद्धि, पतित, वञ्चक, दम्भ–अहंकारयुक्त, मद्यपान करनेवाला, हिंसापरायण, अधार्मिक, अन्त्यज, निष्ठुर, धन, पुत्र और स्त्रीमें आसक्त एवं सब प्रकारसे अधम व्यक्ति भी श्रीगोविन्दके चरणारविन्दोंमें शरण ग्रहण करनेपर संसारसे मुक्त हो जाते हैं। शास्त्रकी इस व्याख्यासे ऐसा दुराचारयुक्त व्यक्ति भी यदि श्रीहरिभजन करता है, उसको भी साधु ही समझना चाहिए। और भी भगवान्ने स्वयं अपने मुखसे अर्जुनके प्रति कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(श्रीगी. ९/३०)

"यदि सुदुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भजनपरायण होकर मेरा भजन करता है, तो वह भी साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह मेरी भक्तिमें निश्चयात्मिका बुद्धिवाला है।" श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने गीताके इस श्लोककी सारार्थवर्षिणी टीकामें लिखा है, "जो श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य देवी–देवताओंका भजन नहीं करता, जो भक्तिके अतिरिक्त ज्ञान–कर्मादि किसी प्रकारका अनुष्ठान नहीं करता, भगवत्-सेवाकी कामनाके अतिरिक्त उसके हृदयमें राज्य–सुखादि किसी प्रकारकी कामना नहीं है, वही अनन्यभाक् है और वही साधु है।" इस प्रकार अनन्यभक्ति उदय होनेपर साधककी स्वभावतः ही कृष्णेतर वस्तुओंमें अरुचि हो जाती है और निर्वेद हो जाता है। किन्तु दैववश यदि पूर्व जन्मका कोई असत्संस्कार प्रबल होनेपर उनमें दुराचार, यहाँ तक कि सुदुराचार अर्थात् परहिंसा, परद्रव्य–परदार–हरणादि दोष भी उपस्थित हो, तो भी उनको साधु ही समझना चाहिए। क्योंकि उससे अनन्यभक्ति दूषित नहीं होती। भक्ति शीघ्र ही उसके अन्तरमें निर्वेद पैदाकर उसको धर्मात्मा बना देती है और नित्यशान्ति प्रदान करती है। "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गीता ९/३१) अर्थात् "वह सुदुराचारी व्यक्ति शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है। हे कौन्तेय! यह प्रतिज्ञा करो कि मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता।" इस प्रकार

भजननिष्ठ पुरुषोंमें सुदुराचार लक्षित होनेपर भी जब शास्त्रोंमें उनको 'साधु' कहा गया है, तब यदि भजनशील व्यक्तिमें क्रोध, असहिष्णुता इत्यादि दृष्टिगोचर भी हो, तो उसे साधु ही कहना होगा और उसकी निन्दा भी साधुनिन्दारूप नामापराधमें पर्यवसित होगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसलिए ऐसे साधुनिन्दादि अपराधकी उपेक्षा न कर पूर्वोक्त प्रकारसे इस अपराधको दूर करनेके लिए साधकको चेष्टा करनी चाहिए और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

भजन-जीवनमें किसीके प्रति भी किसी प्रकार निन्दादि द्रोहाचरण नहीं हो, इसीलिए श्रीमन्महाप्रभुने नामभजनकारियोंको दीन-हीन होनेका उपदेश दिया है, "जे रूपे लइले नाम प्रेम उपजय। ताहार लक्षण श्लोक शुन, स्वरूप रामराय॥" "तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥"

उत्तम हञा आपनाके माने तृणाधम।
दुइ प्रकारे सहिष्णुता करे वृक्षसम॥
वृक्ष जेन काटिलेह किछु ना बोलय।
शुकाञा मैलेह कारे पानी ना मागय॥
जेइ जे मागये, तारे देय आपन-धन।
घर्म-वृष्टि सहे, आनेर करये रक्षण॥
उत्तम हञा वैष्णव हबे निरभिमान।
जीवे सम्मान दिबे जानि 'कृष्ण'-अधिष्ठान॥
एइमत हञा जेइ कृष्णनाम लय।
श्रीकृष्णरचरणे ताँर प्रेम उपजय॥
(चै. च. अ. २०/२२-२६)

साधारण साधकोंकी बात दूर रहे, महापराक्रमशाली व्यक्ति भी वैष्णवापराधसे रक्षा नहीं कर सकते। श्रीचैतन्यभागवतमें कहा गया है, "शूलपाणि सम यदि भक्तनिन्दा करे। भागवत-प्रमाणे तथापि शीघ्र मरे॥" अर्थात् शङ्करके समान होनेपर भी यदि कोई महत् व्यक्ति भक्तकी निन्दा करता है, तो श्रीमद्भागवतके प्रमाणके अनुसार वह शीघ्र ही अपराधसे जल मरता है। "सर्वमहाप्रायश्चित्त जे कृष्णेर नाम।

वैष्णवापराधे सेह ना मिलये त्राण॥" समस्त प्रकारके प्रायश्चित्तोंमें श्रीकृष्णका नाम सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु ऐसा नाम ग्रहणकारी व्यक्ति यदि वैष्णवोंके निकट अपराधी होता है, तो कभी भी उसका उद्धार नहीं होता। इसलिए नामसंकीर्त्तनका फल प्राप्तकर धन्य होनेके लिए, "ना लइबे कारो दोष, ना करिबे कारे रोष, प्रणमह सबार चरण।" अर्थात् "किसीका दोष मत देखो, किसीके प्रति क्रोध न करो, सबके चरणोंमें प्रणाम करो।" इस नीतिका अवलम्बन करनेपर ही हमारा परम कल्याण होगा, परम करुणामय श्रीशचीनन्दन गौरहरि भी प्रसन्न होंगे। इसीलिए शास्त्रमें कहा गया—

"काहारे ना करे निन्दा कृष्ण कृष्ण बले।
अजय चैतन्य सेइ जिनिबेक हेले॥"

महाभागवतकी श्रीचरणरज अपराध सहन नहीं करती

किञ्च कश्चिन्महाभागवतत्वात् महापराधिन्यपि यद्यपि न कुप्यति तदपि तत्रापराधवता स्वशुद्ध्यर्थं प्रणत्यादिभिरनुवर्त्तनीयः एव सः। "सेर्ष्यं महापुरुषपादपांशुभिर्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम्" इति सतां वाक्येन तच्चरणरेणूनामसहिष्णुतया तत्फलप्रदत्वावगमात्।

भावानुवाद—यद्यपि कोई-कोई महत्पुरुष या महाभागवत वैष्णव अपने प्रति महापराध हो जानेपर भी क्षमाशीलता स्वभावके कारण क्रोधित नहीं भी होते हैं, तो भी अपराध करनेवाले व्यक्तिको अपनी शुद्धिके लिए उन्हें प्रणाम और सेवा आदिके द्वारा क्षमा माँगनी चाहिए। क्योंकि महापुरुषोंके चरणोंकी रज अपराधी पुरुषके तेजको हरण कर लेती है, ऐसे महापुरुषोंकी निन्दा तो दुष्टोंके लिए ही शोभनीय है, इत्यादि सत्पुरुषोंके वचनानुसार उन महापुरुषोंकी श्रीचरणरज अपराधको सहन नहीं कर पाती और अपराधीको उसके अपराधका फल प्रदान करती ही है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीमद्भागवतमें महत्पुरुषोंके लक्षण वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है, "सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि

भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥" (श्रीमद्भा. ११/२/४५) श्रीहवि योगीन्द्र श्रीनिमि महाराजके प्रति कह रहे हैं, "हे राजन्! जो समस्त प्राणियोंमें अपने उपास्य श्रीभगवान्‌को विराजमान देखते हैं तथा जो अपने उपास्य भगवान्‌में भी समस्त प्राणियोंका दर्शन करते हैं, अथवा अपने चित्तमें जो भगवान् स्फुरित होते हैं, उन भगवान्‌में वे समस्त प्राणियोंका ही अपने समान ही प्रेमयुक्त दर्शन करते हैं—वे उत्तम भागवत कहे जाते हैं।" ऐसे महाभागवत बाह्यज्ञान रहित होकर—प्रेमाविष्ट दशामें जगतमें भ्रमण करते हैं। यदि कोई उनकी निन्दा करता है यहाँ तक कि द्रोहाचरण करता है, तो भी वे क्रोधित नहीं होते और किसीका भी कोई अपराध ग्रहण नहीं करते। इससे कोई-कोई ऐसा सोच सकते हैं कि जब वे महापुरुष किसीके प्रति क्रोधित नहीं होते या किसी प्रकार कोई अपराध भी ग्रहण नहीं करते, तब उनकी निन्दा इत्यादि अपराधके रूपमें गण्य नहीं है।

इस विषयमें श्रील ग्रन्थकार कहते हैं वे महाभागवत किसीका अपराध ग्रहण न करनेपर भी उनकी निन्दा करनेवाले व्यक्तिका चित्त अत्यन्त कलुषित हो जाता है। अतएव दैवात् महापुरुषोंके प्रति निन्दा इत्यादि अपराध होनेपर अपराधी व्यक्तिको अपने चित्तकी शुद्धिके लिए उनके चरणोंमें गिरकर स्तव-स्तुति द्वारा तथा क्षमा प्रार्थना इत्यादिके द्वारा उनको प्रसन्न करना चाहिए और उनको ऐकान्तिक नामपरायण श्रेष्ठ साधु जानकर उनके सङ्गमें रहकर नामकीर्त्तन करना चाहिए। ऐसा करनेसे नामप्रभुकी अत्यन्त शीघ्र ही कृपा प्राप्त होती है।

यहाँपर पुनः यह प्रश्न हो सकता है कि यदि वे महापुरुष स्तुति, प्रणति, निन्दा और द्वेषको समज्ञान करते हैं, एक समान समझते हैं, तब उनकी निन्दा करनेसे उनको क्रोधित होनेकी कोई सम्भावना नहीं है। उसी प्रकार स्तुति, प्रणति आदिके द्वारा भी वे प्रसन्न हो जाएँगे—इसकी भी कोई सम्भावना नहीं है। अतएव स्तुति और प्रणाम इत्यादि द्वारा उनका अनुगमन करनेसे निन्दाकारीका चित्तशोधन अथवा अपराधका उपशम किस प्रकार सम्भव है? ग्रन्थकार श्रीमद्भागवत (४/४/१३) में वर्णित दक्षयज्ञमें श्रीमन्महादेवका अनादर

देखकर क्रुद्ध होनेवाली श्रीसतीदेवीके वचनोंको उद्धृतकर प्रमाणित कर रहे हैं कि महाभागवतोंके द्वारा अपराध ग्रहण न किए जानेपर भी उनकी श्रीचरणरेणु उसे सहन नहीं कर पाती। इसलिए श्रीवैष्णवोंकी चरणरेणुकी प्रसन्नताके लिए उनकी स्तुति, प्रणति भी एकान्त रूपसे आवश्यक है।

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु।
सेर्ष्यं महापुरुषपादपांशुभिर्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम्॥
(श्रीमद्भा. ४/४/१३)

"जो दुष्ट मनुष्य इस शवरूप जड़शरीरको ही आत्मा मानते हैं, वे यदि ईर्ष्यावश सर्वदा ही महापुरुषोंकी निन्दा करें, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।" क्योंकि महापुरुष उन लोगोंकी इस चेष्टापर ध्यान नहीं देते, परन्तु उनके चरणोंकी धूलि उनके इस अपराधको सहन न कर उनका तेज नष्ट कर देती है। अतः महापुरुषोंकी निन्दा उन दुष्ट पुरुषोंको ही शोभा देती है।

इस महत् वाणीके द्वारा असत्पुरुषोंके आचरणसे महत्पुरुषों—उत्तम महाभागवतोंके हृदयमें क्रोधका सञ्चार न होनेपर भी उनके श्रीचरणरजकी प्रसन्नताके लिए ही उन महाभागवतोंकी स्तुति और प्रणामादिके द्वारा अनुगमन करना होगा या आराधना करनी होगी, ऐसा विदित होता है। अन्यथा महत्पुरुषोंकी श्रीचरणरेणु अपराधीको अपराधोचित फल अवश्य ही प्रदान करेगी, इसमें कोई भी सन्देहकी बात नहीं है।

महाभागवतोंकी कृपाकी विषयमें स्वतन्त्रता

किञ्च दूरवगमनिष्कारणके क्वचित् कृपादृष्टौ प्रभविष्णौ स्वच्छन्दचरिते क्वचिन्महाभागवतमौलौ तु न कापि मर्यादा पर्याप्नोति। यथा शिविकां वाहयति कटूक्तिविषवर्षिण्यपि रहूगणे श्रीजड़भरतस्य कृपा। यथा च पाखण्डधर्मावलम्बिनि स्वहिंसार्थमुपसेदुषि दैत्यसमूहे उपरिचरस्य वसोश्चेदिराजस्य। यथा वा महापापिनि स्वललाटे रुधिरपातिन्यपि माधवे प्रभुवरस्य नित्यानन्दस्येति। एवमेव गुरोरवज्ञा इत्यत्रापि ज्ञेयम्। शिवस्य श्रीविष्णोरित्यत्रैवं विवेचनीयम्॥२॥

भावानुवाद—कभी-कभी दुर्ज्ञेय कारणवश अथवा बिना कारणके ही कृपा करनेमें सर्वसमर्थ स्वच्छन्द चरित्रवाले महाभागवतशिरोमणि साधुपुरुषोंमें इस विषयमें कोई भी मर्यादा स्थिर नहीं होती। जिस प्रकार अपनी पालकीको ढोनेमें नियुक्त करनेवाले तथा कटु वचनरूपी विषकी वर्षा करनेवाले रहूगण राजापर भी जड़भरतकी कृपा प्रसिद्ध है, और जिस प्रकार पाषण्ड मतावलम्बी दैत्यगण हिंसा करनेके लिए प्रस्तुत होनेपर भी चेदिराज उपरिचर वसुने उनके ऊपर कृपा की थी। और जिस प्रकार नित्यानन्द प्रभुने उनके मस्तकपर प्रहारकर रक्तकी धारा प्रवाहित करनेवाले महापापी माधाईपर भी कृपा की थी। इसी प्रकार गुरुकी अवज्ञारूप नामापराधके विषयमें भी जान लेना चाहिए। श्रीविष्णु एवं शिवके नाम, रूपादिके भेद-चिन्तनके विषयमें निम्नलिखित रूपसे विवेचन किया जा रहा है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—महत्पुरुष या महाभागवत भक्तगण भावाविष्ट दशामें राग, द्वेष इत्यादिसे रहित होकर स्तुति और निन्दामें क्षोभ रहित होकर जगतमें विचरण करते हैं। उनके लिए किसीके प्रति अनुग्रह या निग्रह सम्भवपर नहीं है, तथापि उनकी निन्दा करनेसे निन्दुक व्यक्तिको अत्यन्त भीषण अपराध होता है; यह पहले कहा गया है। किन्तु सर्वत्र एक ही प्रकारका नियम नहीं है। महाभागवतजन स्वतन्त्र स्वभावसम्पन्न होते हैं और अहैतुकी कृपा करनेमें भी परम समर्थ होते हैं। इसलिए कभी-कभी वे अपने प्रति द्रोह करनेवाले या निन्दा करनेवाले महापराधियोंके प्रति भी अजस्त्र करुणा और कृपादृष्टिकी वर्षाकर उनका कल्याण विधान करते हैं। श्रील ग्रन्थकार महोदय इस विषयमें तीन दृष्टान्तोंकी अवतारणा कर रहे हैं।

एक समय सिन्धु सौवीर देशका राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर इक्षुमती नदीके तटपर जा रहा था। वहाँ मार्गमें उसके व्यवस्थापकको एक पालकी उठानेवाले कहारकी जरूरत हुई, क्योंकि उसका एक कहार बीमार पड़ गया। व्यवस्थापककी दृष्टि आंगिरस गोत्रीय ब्राह्मणकुमार परम भागवत श्रीजड़भरतपर पड़ी, जो देहाभिमानशून्य होकर समस्त प्राणियोंके प्रति सुहृद और वैरहीन थे। उसने उन्हें खूब

हृष्ट-पुष्ट एवं गठीले अङ्गोंवाला युवक समझकर राजाकी पालकी ढोनेमें लगा दिया। जड़भरत भी कुछ नहीं बोले और चुपचाप पालकी उठाकर अन्य कहारोंके साथ चलने लगे। किसी चींटी या कीट आदिपर पैर न पड़ जाए, इसलिए जड़भरतजी पृथ्वीपर देख-देखकर पैर रख रहे थे, जिससे उनकी चाल अन्य कहारोंकी चालसे मेल नहीं खाती थी और राजा रहूगणको झटका-सा लगता था। राजाने दो-चार बार सबको डाँटा और दण्डके डरके मारे सबने कहा, "राजन्! यह एक नया कहार आ गया है जो टेढ़ा-मेढ़ा चल रहा है। इसके दोषसे पालकी ठीक नहीं चल रही है।" इस बातको सुनकर राजा अत्यन्त क्रोधित हो उठा और बोला—"अरे! क्यों रे! तू बहुत थक गया दीखता है, अकेला उठा रहा है न पालकीको? तू बहुत दुबला-पतला है, बुढ़ापेने तुम्हें घेर रखा है। ठीकसे चल। मैं कौन हूँ जानता है?" इस प्रकार ताने भरे वचनोंसे उपहास करनेपर भी जड़भरत निरुत्तर रहकर पूर्ववत् शिविका (पालकी) को वहन करने लगे। जिनका देहाभिमान दूर हो गया है उनको किसीके ताने भरे वचनोंके तिरस्कारसे उनके हृदयमें व्यर्थ ही क्रोध क्यों उत्पन्न होगा?

श्रीजड़भरतपर इन ताने-वानोंका कुछ भी असर नहीं हुआ। वे पूर्ववत् चलते रहे। जब शिविका पूर्ववत् हिलने डुलने लगी और राजाको झटका लगने लगा, तब महाराज रहूगण अत्यन्त क्रोधित होकर बोले, "क्या तू जीते जी मर गया है। मेरी आज्ञाका उल्लंघन करके तू तनिक भी डरता नहीं। स्मरण रख, जिस प्रकार यम सब लोगोंका दण्ड विधान करता है, मैं भी उसी प्रकारसे तुम्हें भीषण दण्ड प्रदान करूँगा और तभी तुम ठीकसे चलोगे।"

महाराज रहूगणके इन तिरस्कारपूर्ण वचनोंको सुनकर जड़भरत कुछ हँसते हुए उनके ताने भरी वक्रोक्तियोंको या तिरस्कारपूर्ण वचनोंको अवलम्बन करके अद्भुत एवं अपूर्व अध्यात्म ज्ञानका उपदेश प्रदान करने लगे। देहकी स्थूलता-कृशता, जीवन-मरण और परमार्थका तत्त्व बतलाया। राजा उस यथार्थ तत्त्व-उपदेशको सुनकर लज्जित हुआ और पालकीसे उतरकर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर अपने

अपराधकी क्षमा याचना करने लगा। अन्तमें अनेक जिज्ञासाओंका समाधान पाकर राजा रहूगण कृतार्थ हो गया और देहात्मबुद्धिको त्यागकर भगवद्भजनमें तत्पर होकर परमगतिको प्राप्त हुआ। अपराध करनेपर भी महाभागवत श्रीजड़भरतकी उसे कृपा प्राप्त हुई और उनका कल्याण हुआ। श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्धमें राजा रहूगण और जड़भरतका प्रसङ्ग विस्तृत रूपसे वर्णन किया गया है।

दूसरे उदाहरणमें चेदिराज उपरिचर वसुका यहाँ उल्लेख किया गया है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपादने भक्तिसन्दर्भ (१७६ अनुच्छेद) में विष्णुधर्मोत्तरसे उपरिचर वसुका दृष्टान्त वर्णन किया है। विष्णुधर्मोत्तरकी कथाके अनुसार उपरिचर वसुके दृष्टान्तसे महापराधीके प्रति भी महत्पुरुषोंकी कृपाका संवाद पाया जाता है। उपरिचर वसुने देवताओंकी सहायता करनेके लिए दैत्योंका विनाश किया और उस हिंसा कार्यसे अनुतप्त और विषयोंसे विरक्त होकर उत्कण्ठित चित्तसे श्रीहरिका निरन्तर ध्यान करनेकी अभिलाषासे पाताल लोकमें प्रवेश किया। दैत्योंने यह समाचार पाकर कि उनके पूर्व शत्रुने हिंसा कार्यसे निवृत्त होकर बिना अस्त्र-शस्त्रके पातालमें प्रवेश किया है। इस समय उनके हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र नहीं होनेसे प्रतिहिंसा लेनेका उचित अवसर उपस्थित हुआ है—ऐसा सोचकर दैत्यगण उनका वध करनेके लिए पातालमें उपरिचर वसुके समीप गए। उन्होंने जब उनका मस्तक काटनेके लिए अस्त्रोंको उठाया, तब भगवद्भक्तिके प्रभावसे वे अस्त्र उठे ही रह गए और भक्तप्रवर उपरिचर वसुके ऊपर प्रहार न कर सके।

ऐसा देखकर वे सब दैत्य गुरु शुक्राचार्यके निकट गए और उनके परामर्शके अनुसार पुनः पातालमें आकर पाषण्डधर्मका उपदेश करने लगे। यहाँ जानने योग्य यह बात है कि दैत्योंके निकट सब वृत्तान्तको श्रवणकर शुक्राचार्यने यह विचार किया कि जब तक उपरिचर वसुके हृदयमें भगवत्-चिन्ता रहेगी, तब तक उनका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। यदि किसी प्रकार उनके हृदयमें श्रीभगवान्के प्रति अवज्ञा या अनादरकी बुद्धि होगी तभी उनका विनाश सम्भव है। इसलिए शुक्राचार्यने असुरोंसे कहा—तुम लोग

उपरिचर वसुके समीप जाकर "ईश्वर नहीं है, वेदशास्त्र मिथ्या है", इस प्रकार पाषण्डमतका उच्च स्वरसे प्रचार करो।

गुरु शुक्राचार्यके आदेशसे जब दैत्यलोग उपरिचर वसुके निकट चारों ओर पाषण्डमतका उच्च स्वरसे प्रचार करने लगे, तब भक्तप्रवर उपरिचर वसुकी समाधि किञ्चिद् भङ्ग हो गई। उनके प्रचारित पाषण्डवादका श्रवणकर तथा दैत्योंकी दुर्गति देखकर उपरिचर वसुके हृदयमें करुणाका सञ्चार हुआ। उन्होंने मन-ही-मन सोचा, "अहो! दैत्योंकी क्या दुर्गति है! मेरे प्राणका विनाश करनेके लिए सर्वेश्वर, सर्वकारण, सर्वनियन्ता भगवान्के अस्तित्व पर्यन्तको विलुप्त करना चाहते हैं। हे परम कारुणिक भगवान्! उनके प्रति प्रसन्न होकर उनकी दुर्मतिको दूरकर उन्हें अपने श्रीचरणकमलोंके भक्तिरसमें डुबा दो।" भगवद्भक्तकी इस प्रकार करुण प्रार्थनासे दैत्यलोग भगवद्भक्त हो गए।

चेदिराज उपरिचरका दूसरा चरित्र महाभारत आदि पर्वके ६३वें अध्यायमें तथा शान्ति पर्वके ३३७वें अध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णित है। वे पौरव राजाके पुत्र थे। नित्य-निरन्तर धर्मकार्यमें लगे रहते थे, उन्होंने एक बार बड़ी भारी तपस्या की। समस्त देवता और इन्द्र यह समझने लगे कि वे इन्द्र-पदके लिए इतनी कठोर तपस्या कर रहे हैं। देवताओंके साथ इन्द्र उनके पास आए और शान्तिपूर्वक उन्हें तपस्यासे निवृत्त किया और चेदि देशका राज्य प्रदान किया। इन्द्रने उन्हें एक स्फटिक मणिमय विशाल दिव्य विमान भी भेंट किया, जो उनकी सेवामें आकाशमें सदा उपस्थित रहता था। एक वैजयन्ती माला भी इन्द्रने उन्हें प्रदान की, जिसको धारणकर लेनेपर वह संग्राममें उन्हें हर प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे बचाती थी। समयपर राजाने अपने पुत्रोंको विभिन्न राज्योंपर अभिषिक्त किया और स्वयं आकाशचारी विमानमें ही सदा निवास करते हुए विचरण करने लगे।

एक समय ब्रह्मर्षियों और देवताओंमें विवाद चल पड़ा। कर्मकाण्डके प्रधान शास्त्रोंमें जहाँ 'अज' के द्वारा यज्ञ करनेका विधान है, वह 'अज' क्या है? ब्रह्मर्षि कहने लगे—यहाँ 'अज' शब्दका अर्थ है 'अन्न-बीज' अर्थात् अन्न-बीजके द्वारा यज्ञ करना चाहिए। परन्तु देवता

कहने लगे 'अज' शब्दका अर्थ है 'बकरा' अर्थात् बकरेकी बलि देकर यज्ञ करना चाहिए। ब्रह्मर्षियोंने कहा, "यह सत्ययुग है, जिस यज्ञमें किसी पशुकी हिंसा होगी, वह सत्पुरुषोंका धर्म नहीं होगा, उसे अधर्म माना जाएगा।" दोनों पक्ष अपनी-अपनी युक्ति देकर वाद-विवाद कर रहे थे, उसी समय उधरसे श्रीउपरिचर वसु विमानमें सवार होकर निकले। ब्रह्मर्षियोंने कहा, "देवताओं! ये राजा वसु परम धर्मात्मा हैं, ये श्रेष्ठ यज्ञकर्त्ता हैं, दानपति एवं सत्यवादी हैं, इनसे अपने वाद-विवादकी मीमांसा करा लेनी चाहिए।" देवताओंने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। जब उन्होंने अपना वृत्तान्त सुनाया तो राजा उपरिचर बोले, "आप लोग मुझे पहले सत्य-सत्य बतलाइए, आपमेंसे कौन 'अज' का अर्थ 'बकरा' कहता है और कौन 'अन्न-बीज'?" उन दोनोंके बतानेपर राजाने देवताओंका अनुमोदन कर दिया। यह सुनकर ब्रह्मर्षि कुपित हो उठे, "तुम जान करके भी कि 'अज' शब्दका अर्थ 'अन्न-बीज' है, देवताओंका पक्ष लिया है। इसलिए तुम स्वर्गसे नीचे गिर जाओ और हमारे शापसे पृथ्वी भेदकर पातालमें प्रवेश करो। तुमने यदि वेद और सूत्रोंके विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप अवश्य लागू हो। यदि हम शास्त्र-विरुद्ध वचन कहते हैं तो हमारा पतन हो जाए।"

इतना कहते ही उसी क्षण राजा उपरिचर वसुका पतन हो गया और वे पातालमें जा गिरे। किन्तु पातालमें रहकर भी भगवन्नामका निरन्तर जप करते रहे। भगवान् श्रीनारायण अत्यन्त शीघ्र प्रसन्न हुए और गरुड़को भेजकर राजा उपरिचर वसुको अपने पास वैकुण्ठमें बुला लिया।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मर्षियों या सत्पुरुषोंके प्रति अपराध होनेपर भी भगवान्‌की उनपर कृपा हुई और वे वैकुण्ठमें निवास करने लगे।

सारांश यह है कि स्वच्छन्द चरित्र सत्पुरुषोंके प्रति अपराध होनेपर भी अपराधीका उद्धार हो जाता है। अतः किसी मर्यादामें उन्हें बाँधा नहीं जा सकता।

तीसरे उदाहरणमें श्रील ग्रन्थकार चक्रवर्तिपादने अक्रोध-परमानन्द नित्यानन्द प्रभुकी माधाईपर कृपाका उल्लेख किया है। श्रीगौर-

नित्यानन्दकी लीलामें जगाई-माधाई उद्धार एक प्रसिद्ध घटना है।

एक दिन श्रीचैतन्यमहाप्रभुने श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु और हरिदास ठाकुरको बुलाकर कहा—"हे नित्यानन्द! हे हरिदास! मेरी इस आज्ञाका सर्वत्र घर-घरमें जाकर प्रचार करो। घर-घरमें जाकर कहो कि आप लोग कृष्णतत्त्वकी शिक्षाकर कृष्णका भजन करें। प्रतिदिन—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥—इस प्रकार सबको यह नाम लेनेके लिए कहें।" श्रीमन्महाप्रभुके आदेशको प्राप्तकर श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु और हरिदास ठाकुर प्रतिदिन घर-घरमें जाकर उनसे यह भिक्षा माँगते थे कि आप लोग कृष्णनामका संकीर्त्तन करें और कृष्णका भजन करें। श्रीकृष्ण ही जगतके प्राण हैं, श्रीकृष्ण ही जगतकी संपत्ति हैं, वही जगतके जीवनस्वरूप हैं। इसलिए ऐसे कृष्णका ऐकान्तिक चित्तसे भजन करें। इस प्रकार वे दोनों घर-घर जाकर प्रचार करने लगे।

एक दिन श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु और हरिदास ठाकुर जब नवद्वीप नगरमें प्रचार कर रहे थे तब हठात् उन्होंने जगाई-माधाई नामक दो मद्यपोंको राजपथमें ही मद्यपान करते हुए देखा। वे यद्यपि जातिके ब्राह्मण थे, किन्तु उनकी आकृति और प्रकृति बड़ी ही भयानक थी। वे मद्यपान करते, लूट मार करते, ऐसा कोई कुकर्म नहीं था, जो उन लोगोंने नहीं किया हो। उनको देखकर श्रीपाद नित्यानन्द प्रभुके हृदयमें करुणाका सञ्चार हो आया। लोगोंने श्रीपाद नित्यानन्द प्रभुको उन मद्यपोंकी ओर जानेके लिए मना किया, किन्तु वे माने नहीं, उन्होंने मन-ही-मन जगाई और माधाईका उद्धार करनेके लिए सङ्कल्प कर लिया था। अतएव उनके समीप जाकर उन्हें श्रीकृष्णनाम करनेके लिए कहा। उस समय जगाई-माधाई मद्य पानकर मतवाले हो रहे थे। श्रीपाद नित्यानन्दके मुखसे श्रीकृष्णनाम सुनते ही दोनों उनको मारनेके लिए दौड़े। ऐसा देखकर श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु एवं श्रीहरिदास ठाकुर दोनों बड़े तीव्र गतिसे भागे, उन दोनों दुष्टोंने उनका पीछा किया। दुष्ट लोग ऐसा देखकर हँसने लगे और सज्जन लोग हाय हाय करने लगे। किन्तु उस दिन श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु और हरिदास ठाकुर किसी प्रकार बच गए।

दूसरे दिन श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु और हरिदास ठाकुर उसी स्थानपर पहुँचे, जहाँ मटकेमें मद रखा था, दोनों मद्यप उसका पान कर रहे थे। पुनः श्रीपाद नित्यानन्द प्रभुने उनके समीप पहुँचकर उनसे श्रीकृष्णनाम करनेके लिए कहा। इतना सुनते ही माधाईने मटकेका एक टुकड़ा लेकर श्रीपाद नित्यानन्द प्रभुके सिरपर दे मारा, इससे उनके सिरसे रक्त प्रवाहित होने लगा। लोगोंने महाप्रभुको बतलाया, महाप्रभु यह सुनकर कि जगाई-माधाईने श्रीपाद नित्यानन्द प्रभुका मस्तक फोड़ दिया है, क्रोधित होकर वहींसे दौड़े और समीप आनेपर उन्होंने श्रीपाद नित्यानन्द प्रभुके मस्तकसे रक्त निकलता हुआ देखकर "चक्र-चक्र" कहकर चक्रको बुलाया। साथ ही उनके हाथोंमें चक्र आ गया। ऐसा देखकर श्रीपाद नित्यानन्द प्रभुने महाप्रभुजीसे कहा—"जगाईने मेरी रक्षा की थी और इससे कहा था कि माधाई! इसे मत मारो!" यह सुनते ही श्रीमन्महाप्रभुने जगाईका आलिङ्गन किया और वह "कृष्ण कृष्ण" करते हुए प्रेमसे मूर्च्छित हो गया। ऐसा देखकर माधाईके हृदयका भी परिवर्तन हो गया और वह महाप्रभुके चरणोंमें गिर गया, महाप्रभुजीने कहा—"श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु जब तक तुम्हें क्षमा नहीं करते तुम्हारा किसी प्रकारसे उद्धार नहीं है।" श्रीपाद नित्यानन्द प्रभुने माधाईके लिए भी प्रार्थना की—"प्रभो! इसको भी श्रीकृष्णप्रेम प्रदान करें।" महाप्रभुजीने उसके सिरपर हाथ रखकर श्रीकृष्णप्रेम प्रदान किया, अब वे दोनों ही "हरे कृष्ण" कहते हुए नृत्य करने लगे। इस प्रकार निताई-चाँदकी कृपासे ये दोनों दुष्ट और महापापी शीघ्र ही महाभागवत बन गए। वे प्रतिदिन गङ्गाके घाट (जहाँ ये उत्पात किया करते थे) पर प्रतिदिन झाड़ू लेकर साफ करने लगे। अब गङ्गामें स्नान करनेवाले पुरुष और महिलाएँ भी निश्चिन्त होकर वहाँ स्नान करनेके लिए आने लगीं।

इस प्रकार ग्रन्थकार इस तृतीय अपराधके सम्बन्धमें कह रहे हैं कि साधुनिन्दा जिस प्रकार भजनमार्गमें प्रबल बाधा है, उसी प्रकार श्रीगुरुदेवकी अवज्ञा करना भी भजनपथमें घोर प्रतिबन्धक है। इसलिए संयोगवश गुरु-अवज्ञा रूप अपराध हो जानेपर निष्कपट होकर श्रीगुरुदेवके चरणोंमें गिरकर अनुतप्त होकर क्षमा माँगनी चाहिए। परम

करुण शिष्यवत्सल श्रीगुरुदेव क्षमाकर शिष्यके प्रति अवश्य ही प्रसन्न होंगे।

नारायण आदि—मायाके स्पर्शसे रहित ईश्वरचैतन्य तथा शिव आदि—मायाके स्पर्शको अङ्गीकार करनेवाले ईश्वरचैतन्य

चैतन्यं हि द्विविधं भवति स्वतन्त्रमस्वतन्त्रञ्च। तत्र प्रथमं सर्वव्यापकमीश्वराख्यं द्वितीयं देहमात्रव्यापिशक्तिकं जीवाख्यमीशितव्यम्। ईश्वरचैतन्यं द्विविधं मायास्पर्शरहितं लीलया स्वीकृतमायास्पर्शञ्च। तत्र प्रथमं नारायणाद्यभिधम्। यदुक्तम्—"हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः" इति। द्वितीयं शिवाद्यभिधम्। यदुक्तम्—"शिवः शक्तियुक्तः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृत" इति। अत्र गुणसंवृतलिङ्गेनापि तस्य जीवत्वं नाशङ्कनीयम्।

"क्षीरं यथा दधिविकारविशेष-योगात्
सञ्जायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"

इति ब्रह्मसंहितोक्तेः।

भावानुवाद—चैतन्य दो प्रकारके होते हैं, स्वतन्त्र चैतन्य और अस्वतन्त्र चैतन्य। इनमें सर्वव्यापक ईश्वर नामक जो चैतन्य है, वह स्वतन्त्र चैतन्य है, और दूसरा केवल देहमात्रव्यापी-शक्ति-विशिष्ट जीव नामक जो ईश्वराधीन चैतन्य है, वह अस्वतन्त्र चैतन्य है। इनमेंसे प्रथम प्रकारके ईश्वरचैतन्य दो प्रकारके हैं, एक मायाके स्पर्शसे रहित है और दूसरा लीलासे मायाको स्पर्श स्वीकार किए हुए है। पहला चैतन्य श्रीनारायण आदि नामोंसे अभिहित है। जैसा कहा गया है, "श्रीहरि ही मायासे परे साक्षात् निर्गुण पुरुष हैं।" दूसरा चैतन्य जो लीलाके द्वारा मायाका स्पर्श स्वीकार किए हुए हैं, वे चैतन्य ईश्वर शिवादिके नामसे अभिहित होते हैं। शास्त्रोंमें कहा गया है, "शिव नित्य शक्तियुक्त, त्रिलिंग एवं गुणसंवृत।" अर्थात् श्रीशिव नित्य शक्तियुक्त, त्रिलिङ्ग और गुणोंसे संयुक्त हैं, किन्तु यहाँ गुणसंवृत अर्थात् गुणसे आवृत लक्षणसे उनमें जीवत्वकी आशंका करना उचित नहीं

है। क्योंकि ब्रह्मसंहितामें ऐसा कहा गया है, "क्षीरं यथा दधिविकार" अर्थात् विकार विशेषके योगसे दूधके दहीमें परिणत हो जानेपर भी दहीका दूधसे पृथक् और कोई उत्पन्न होनेका कारण नहीं है, उसी प्रकार जो किसी विशेष प्रयोजनके लिए शिवरूपताको प्राप्त करते हैं, मैं उन श्रीगोविन्ददेवकी वन्दना करता हूँ।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—श्रील ग्रन्थकार महोदयने द्वितीय नामापराध अर्थात् श्रीमन्महादेव और श्रीविष्णुके नाम, गुणादिको पृथक्–पृथक् रूपमें मानना अथवा शिव एक पृथक् शक्तिसिद्ध ईश्वर हैं और श्रीविष्णु दूसरे शक्तिसिद्ध ईश्वर हैं, इस प्रकार दोनोंमें भेद समझना अपराध है। श्रीशिवतत्त्व बहुत ही दुर्बोध्य है, इसलिए ग्रन्थकारने इस विषयमें विस्तृत रूपसे विवेचन प्रस्तुत किया है।

चैतन्यतत्त्व दो प्रकारके होते हैं, एक स्वतन्त्र और दूसरा अस्वतन्त्र। सर्वव्यापक अर्थात् विभु ईश्वर नामक चैतन्य ही स्वतन्त्र चैतन्य है। जिस प्रकार भगवत्–विग्रह मध्यमाकार होनेपर भी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा सर्वव्यापी और विभु है, उसी प्रकार अपनी मधुरलीलामें भक्तोंके अधीन रहकर भी परम स्वतन्त्र या स्वराट् हैं। किन्तु केवल देहमात्रव्यापी–शक्तिविशिष्ट जीवचैतन्य अस्वतन्त्र अर्थात् परमेश्वरके अधीन है। जीवचैतन्य स्वरूपतः अणु है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवके प्रति कहा है, "सूक्ष्माणामप्यहं जीवः" (श्रीमद्भा. ११/१६/११) अर्थात् "सूक्ष्मवस्तुओंमें मैं जीव हूँ।" श्रुतियाँ भी ऐसा कहती हैं, "एषोऽणुरात्मा" (मुण्डक) अर्थात् "आत्मा अणु परिमाणका है।" श्वेताश्वतर उपनिषदमें भी देखा जाता है, "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः" अर्थात् "एक केशके अग्रभागको यदि सौ भाग किया जाए और यदि एक–एक भागको सौ भाग किया जाए, तो जीव उसके समान क्षुद्र है।" अर्थात् एक केशाग्रके दश सहस्र भागके एक भागके समान जीव है। इसलिए श्रील जीवगोस्वामीने परमात्मसन्दर्भ (३३) में लिखा है—"सूक्ष्मतापराकाष्ठाप्राप्तो जीवः" अर्थात् जीव सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा प्राप्त है, उसकी अपेक्षा और कोई भी सूक्ष्मवस्तु सम्भवपर नहीं हो सकती। फिर भी चैतन्यवस्तु होनेके कारण उसमें

देहव्यापी चेतना शक्ति विद्यमान रहती है। यह जीव अस्वतन्त्र चैतन्य या परमेश्वरके अधीन है अर्थात् जीवोंका कर्त्तृत्वादि परमेश्वरके अधीन है। जीव ईश्वरके द्वारा नियन्त्रित है।

वेदान्तसूत्र (२/३/३३) में भी कहा गया है, "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्"। इस वेदान्तसूत्रसे जाना जाता है कि जीवका कर्त्तृत्व है। यह प्रश्न उठता है कि यदि जीव यथार्थ कर्त्ता है, तो भगवान् श्रीकृष्णने गीता (३/२७) में क्यों कहा है—"प्रकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥" अर्थात् "प्रकृतिका गुण ही सब कर्मोंको परिचालित करता है, भ्रान्तिवशतः मायामुग्ध जीव अपनेको कर्त्ता मान बैठा है।" इसके उत्तरमें श्रीपाद रामानुजाचार्यका कहना है, "उल्लिखित गीताके वचनका तात्पर्य यह है कि सांसारिक कर्म करते समय मायामुग्ध जीव सत्त्व, रजः और तमः—इन गुणोंसे प्रेरणा प्राप्त करता है।" उल्लिखित सूत्रमें जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्त्तृत्वकी बात कही गई है। जीवका कर्त्तृत्व होनेपर भी वह स्वाधीन नहीं है, परमेश्वरके अधीन है। इसलिए श्रुति कहती है, "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो उन्नीनीषते एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" अर्थात् "परमेश्वर जिसको इस श्लोकसे उच्च लोकमें ले जानेकी इच्छा करते हैं, उनके द्वारा साधु कर्म कराते हैं, और जिनको अधोगामी करनेकी इच्छा करते हैं, उनसे असाधु कर्म कराते हैं।" फिर यहाँ प्रश्न होता है यदि सचमुच ईश्वर ही जीवोंसे भला और बुरा कर्म कराते हैं, तो जीव उस कर्मके लिए क्यों दायी होता है? क्यों उससे उसको अच्छा और बुरा फल भोगना पड़ता है? इसके उत्तरमें कहते हैं, ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर जीव कर्म करता है, इसलिए उसमें उसका कोई कर्त्तृत्व नहीं है, ऐसा नहीं। परमेश्वर प्रयोजक कर्त्ता हैं, जीव प्रयोज्य कर्त्ता है। अर्थात् कर्म करनेकी शक्तिमात्र परमेश्वर देते हैं, क्योंकि ईश्वरकी शक्तिके बिना जीव कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं है और उस शक्तिके परिचालन द्वारा जीव अपनी इच्छानुसार कर्म करता है। इसलिए कर्मफलके लिए ईश्वर दायी नहीं है, जीव ही इसके लिए दाई है, "स्वकर्मफलभुक् पुमान्।"

स्वतन्त्र चैतन्य ईश्वर भी दो प्रकारके हैं—मायास्पर्शसे रहित और लीलासे मायाका स्पर्श स्वीकार करनेवाले। मायास्पर्श शून्य चैतन्य श्रीनारायणादि नामसे पुकारे जाते हैं। यहाँ नारायणादि कहनेसे अखण्ड अद्वयज्ञानतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी विलासमूर्त्ति परव्योमाधिपति श्रीनारायण एवं श्रीराम, नृसिंह, वराह, वामनादि भगवत्-स्वरूपोंको समझना होगा। ये भगवत्-स्वरूप मायातीत, कालातीत और गुणातीत हैं, अर्थात् नित्य सच्चिदानन्दमय विग्रहस्वरूप हैं। श्रीभगवान्के ये सब विग्रह सच्चिदानन्दमय होनेके कारण उनमें युगपत् परिच्छिन्न और विभु स्वभावकी क्रिया देखी जाती है। प्राकृत या मायिक वस्तुमें इस प्रकार युगपत् परस्पर विरुद्ध धर्मका समावेश सम्भवपर नहीं है। श्रीभगवत्-विग्रह सभी नित्य एवं विभु होनेके कारण सर्वदेश, सर्वकाल और सर्ववस्तुमें नित्य व्याप्त हैं। किन्तु मूर्त्त होनेसे ही परिच्छिन्न होंगे, इस प्रकारका नियम, लौकिक जगतके परिच्छिन्न मायिक वस्तुओंके सम्बन्धमें ही समझना चाहिए। श्रीभगवान्का स्वरूप और मूर्त्ति अभिन्न है। श्रीमूर्त्तियाँ सच्चिदानन्दमयी होनेके कारण ये सभी मूर्त्तियाँ नित्य, स्वप्रकाश, मायातीत और सर्वथा जड़ांश रहित हैं। इस प्रकृतिके उसपार कारणसमुद्र है, जिसको माया स्पर्श नहीं कर सकती, "कारण-समुद्र माया परशिते नारे" (चै. च. आ. ५/५७) इस कारणसमुद्रके उसपार मायातीत परव्योम नामका धाम है। वहाँ माया नहीं है, इसलिए मायिक वस्तुएँ भी वहाँ नहीं हैं। वहाँ अनन्त भगवत्-स्वरूप अपने प्रिय परिकरोंके साथ नित्यलीलारसमें विराजमान रहते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है—

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्॥
(श्रीमद्भा. १०/८८/५)

अर्थात् "श्रीहरि साक्षात् निर्गुण पुरुष हैं, प्रकृतिके अतीत और सर्वद्रष्टा हैं, अतएव सर्वसाक्षी अर्थात् सबके साक्षी हैं। जो लोग उनका भजन करते हैं, वे निर्गुण हुआ करते हैं।" श्रीहरि मायातीत और निर्गुण होनेके कारण ही उनके भजनकारी भी निर्गुण होते हैं, अन्यथा यह सम्भवपर नहीं होता।

द्वितीय प्रकारके चैतन्य ईश्वर जो लीलासे मायाको स्पर्श करते हैं, ये ईश्वरचैतन्य श्रीशिवादिके नामसे पुकारे जाते हैं। यहाँ लीला कहनेसे अपनी स्वतन्त्र इच्छासे विश्वकार्यका सम्पादन करनेके लिए श्रीशिव मायास्पर्श स्वीकार करते हैं, ऐसा जानना होगा। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है—

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिंगो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥
(श्रीमद्भा. १०/८८/३)

"शिव नित्य ही शक्तिसे युक्त हैं, अर्थात् शिव हरिके गुणावतार होनेके कारण सर्वसामर्थ्ययुक्त हैं, वे त्रिलिङ्ग अर्थात् वैकारिक, तैजस और तामस, इन तीन अहङ्कारोंके अधिष्ठाता हैं, और सत्त्व, रजः, तमः, इन तीन गुणोंसे संव्याप्त रहते हैं।" श्रीग्रन्थकार कहते हैं, इस श्लोकमें 'गुणसंवृत' या गुण द्वारा आवृत, इस लक्षणके द्वारा श्रीशिवको जीवतत्त्व होनेकी आशङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि जीव त्रिगुणके कार्योंसे मोहित होता है और शिव स्वेच्छासे मायागुणको अङ्गीकार करते हैं। इस श्लोककी व्याख्याकी भूमिकामें श्रील सनातन गोस्वामिपादने श्रीबृहत्तोषणी टीकामें लिखा है, जिसका तात्पर्य यह है—श्रीशिव भगवान्के गुणावतार हैं, अतएव भगवान्से अभिन्न होकर भी सकाम भक्तोंकी शीघ्र कामना पूर्तिके लिए स्वेच्छासे मायागुणको अङ्गीकार करते है। इसलिए शिवभक्तोंको उनकी कामनाके अनुरूप ऐश्वर्य प्राप्त होता है। श्रीहरि परम दयालु हैं, वे अपने भक्तोंको सकाम होनेपर भी धनैश्वर्य इत्यादि नहीं देते हैं, क्योंकि इन काम्य वस्तुओंसे मायाका बन्धन होता है। परन्तु क्रमशः अपने माधुर्यका अस्वादन प्रदानकर उनकी कामनाओंको क्षीणकर अपने माहात्म्यके अनुरूप गुणातीत प्रेमसम्पत्ति दानकर उनका जीवन कृतार्थ कर दिया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि परीक्षित महाराजजीने श्रीशुकदेव गोस्वामीके निकट प्रश्न किया था कि हे मुनि! भगवान् शिवने समस्त भोगोंको त्याग दिया है, परन्तु यह देखा जाता है कि जो उनकी उपासना करते हैं, वे प्रायः धनी और समस्त भोगसम्पन्न होते हैं एवं भगवान्

श्रीहरि लक्ष्मीपति हैं, निखिल भोग-ऐश्वर्यमें विलास करते हैं, किन्तु उनके भक्त प्रायः ऐश्वर्यहीन हुआ करते हैं। अतएव जो त्यागी हैं, उनकी आराधना करनेवाले भोगी और जो भोगी हैं, उनके भक्तलोग त्यागी होते हैं, इस प्रकार विरुद्ध प्राप्तिका क्या कारण है? इसमें क्या रहस्य है?

इसके उत्तरमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने दोनोंके स्वरूप, उनकी उपासना तथा मायासे श्रीशिवका सम्पर्क और श्रीहरिका मायातीत होना बतलाया। इन विषयोंका श्रीमद्भागवत (१०/८८/१-२) में वर्णन किया गया है। उनमें उक्त विषयगत पार्थक्य होते हुए भी वे तत्त्वतः अभिन्न हैं। चैतन्यईश्वरके ही ये दोनों प्रकार भेद हैं। श्रीमन्महादेवने स्वेच्छासे मायागुणको अङ्गीकार किया है। उनको माया कवलित जीवोंकी भाँति मायाधीन नहीं समझना चाहिए। श्रीमन्महादेव मायागुणसे युक्त तो हैं, किन्तु फिर भी जीवतत्त्व नहीं हैं। जीव मायागुणोंसे आबद्ध है, उनके द्वारा नियन्त्रित है, किन्तु भगवान् महादेव उन गुणोंके अधिष्ठाता और नियामक हैं, उनमें आबद्ध नहीं हैं। ग्रन्थकारने प्रमाणस्वरूप श्रीब्रह्मसंहिताका श्लोक उद्धृत किया है—

क्षीरं यथा दधिविकारविशेष-योगात्
सञ्जायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्र. सं. ४५)

अर्थात् जैसे दूध विकारजनक द्रव्य अम्लादिके संयोगसे दहीके रूपमें बदल जाता है, उसी प्रकार कार्यवशतः जो शम्भुरूप धारण करते हैं, मूलकारणके रूपमें श्रीगोविन्दसे वे पृथक् रूपमें नहीं हैं, उनकी ईश्वरता भी श्रीगोविन्दकी ईश्वरताके अधीन है। ये श्रीगोविन्दसे पृथक् दूसरे ईश्वर नहीं हैं। ये स्वयं ईश्वरकी विशेष लीलाके लिए पृथक् स्वरूप प्राप्तकर परतन्त्रताको स्वीकार करते हैं। मायाका तमोगुण, तटस्थाशक्तिका स्वल्पतागुण और चिच्छक्तिका किञ्चित् ह्लादिनी-मिश्रित सम्विद्गुण—ये तीनों मिलकर एक विकारविशेष उदित

होता है। वही विकारविशेष युक्त स्वांश-भावाभासस्वरूप ही त्रिलिङ्गरूप शिव हैं। ये गोविन्दके गुणावतार कहे जाते हैं। अतः श्रीशिव श्रीहरिसे अभिन्न ही हैं।

श्रील जीवगोस्वामिपादने उल्लिखित ब्रह्मसंहिता श्लोककी टीकामें ऋग्वेदके एक मन्त्रको उद्धृत किया है—"अथ नित्यो देव एको नारायणः, ब्रह्मा नारायणः, शिवश्च नारायण इत्यादि।" नारायण ही एकमात्र नित्यदेव हैं, ब्रह्मा और शिव भी नारायणस्वरूप हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं। अतः श्रीशिवजीको मायिक गुण संयुक्त जानकर कभी उन्हें जीवतत्त्व नहीं मानना चाहिए, वे ईश्वरतत्त्व ही हैं। इसलिए श्रीहरिके अनन्य भक्तोंको यदि शिवकी आराधना करनेकी आवश्यकता होती है, तो वे कोई-कोई हरिका अधिष्ठान समझकर उनकी सेवा-पूजा करते हैं। इस विषयमें श्रील जीवगोस्वामिपादने अपने भक्तिसन्दर्भ (१०६) में विष्णुधर्मोत्तरसे एक इतिहासको उद्धृत किया है। उसका तात्पर्य यह है, एक समय विष्वक्सेन नामक कोई हरिका ऐकान्तिक भक्तब्राह्मण पृथ्वीतलपर विचरण कर रहा था। एक दिन वह ब्राह्मण वनमें अकेला बैठा था, इतनेमें एक ग्रामाध्यक्षका पुत्रने आकर उनका परिचय पूछा। ब्राह्मण भक्तने अपना परिचय प्रदान करनेपर ग्रामाध्यक्षके पुत्रने उनसे कहा, "आज मेरे सिरमें दर्द हो रहा है, तुम मेरे प्रतिनिधिके रूपमें हमारे इष्टदेव श्रीशिवकी पूजा कर दो।" उसकी प्रार्थना सुनकर भक्तब्राह्मण बोले, "हे युवक! मैं श्रीहरिका ऐकान्तिक भक्त हूँ, श्रीविष्णु विग्रहके अतिरिक्त और किसी भी देवताकी आराधना मैं नहीं करता। अतएव तुम इस स्थानसे चले जाओ।" वह ग्रामाध्यक्षका पुत्र उनसे बार-बार आग्रह करने लगा, किन्तु भक्त ब्राह्मण किसी प्रकारसे पूजा करनेके लिए सहमत नहीं हुए। तब ग्रामाध्यक्षका पुत्र क्रुद्ध होकर ब्राह्मणका मस्तक काटनेके लिए प्रस्तुत हुआ। तब उस ब्राह्मणने स्तम्भित होकर मन-ही-मन सोचा, "इस युवकके हाथसे मृत्यु वाञ्छनीय नहीं है, ऐसे सङ्कटमें क्या किया जाए?"

इस प्रकार मन-ही-मन कुछ विचारकर वे पूजाके लिए सहमत हुए एवं शिवलिङ्गके निकट पहुँचकर विचार किया, "श्रीशिवजी प्रलय

करनेके लिए तमोगुण वर्धक होनेसे तमोभावापन्न हैं और भगवान् श्रीनृसिंहदेव भी तामस दैत्योंको विदीर्ण करनेके लिए तथा तमोगुणका विनाश करनेके लिए—तमोराशि अन्धकारको दूर करनेवाले सूर्यकी भाँति तामस दैत्योंके भीतर उदित हुआ करते हैं। इस ग्रामाध्यक्षका पुत्र भी तामस दैत्यके अन्तर्गत है, इसलिए श्रीशिवके अधिष्ठानमें भी शिवोपासक इन दुष्टोंके दुष्टभावका विनाश करनेके लिए श्रीनृसिंहदेवकी पूजा करूँगा।" इस प्रकार निश्चयकर "ॐ नृसिंहाय नमः" मन्त्रका उच्चारणकर जब श्रीशिवके ऊपरमें पुष्पाञ्जलि प्रदान करनेके लिए प्रस्तुत हुए, तब ग्रामाध्यक्षपुत्र क्रोधसे अभिभूत होकर ब्राह्मणके मस्तकको काटनेके लिए अपने हाथोंमें तलवार लेकर खड़ा हो गया। उस समय हठात् शिवलिङ्ग भेदकर श्रीनृसिंहदेवजी आविर्भूत हुए और ग्रामाध्यक्षपुत्रका सपरिवार विनाश कर दिया। आज भी दक्षिण भारतमें अति प्रसिद्ध लिङ्गस्फोट नामके श्रीनृसिंहदेवजी विराजमान हैं और उनकी पूजा होती है। इससे श्रीहरि और शिवका अभेदतत्त्व विदित होता है।

ब्रह्मा—ईश्वरशक्ति द्वारा आविष्ट जीव

अन्यत्र च पुराणागामादिषु बहुत्र ईश्वरत्वेन प्रसिद्धेश्च, यत्तु "सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा" इत्यत्र "स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरा" इत्यनेन तत्साधारण्यात् ब्रह्मण्यपीश्वरत्वमवगम्यते तदीश्वरावेशादेवेति ज्ञेयम्। "भास्वान् यथाश्मसकलेषु निजेषु तेजः स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र। ब्रह्मा य एव जगदण्डविधानकर्त्ता" इति ब्रह्मसंहितोक्तेः।

भावानुवाद—अन्यत्र अनेक पुराण और आगमादि शास्त्रोंमें भी श्रीशिवजीकी ईश्वरता प्रसिद्ध है। जैसा कि श्रीमद्भागवतके "सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणाः" इस श्लोकमें "सृष्टि, स्थिति और संहार रूप कार्यके भेदसे श्रीहरि भी, हरि, विरिञ्चि और हरका नाम धारण करते हैं—ऐसा कहा गया है।" इसके द्वारा साधारणतः ब्रह्माकी भी ईश्वरता जानी जाती है, वह ईश्वरावेशके कारण ही समझना चाहिए। ब्रह्मसंहितामें बतलाया गया है, "जिस प्रकार सूर्य सूर्यकान्तमणि आदिमें अपने तेजको कुछ अंशमें प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार वे परमेश्वर

ही अपनी शक्तिका आंशिक रूपमें प्रकाश करते हैं, जिससे ब्रह्मा जगदण्डके विधानकर्त्ता हुए हैं।"

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—पुराण, आगम आदि शास्त्रोंमें शिवकी ईश्वरता प्रसिद्ध है। किन्तु वे स्वयंसिद्ध ईश्वर श्रीहरिसे स्वतन्त्र ईश्वरतत्त्व नहीं हैं। यही बात श्रीमद्भागवतमें भी स्पष्ट कही गई है—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै–
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चि–हरेति संज्ञा
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥
(श्रीमद्भा. १/२/२३)

अर्थात् "प्रकृतिके तीन गुण हैं, सत्त्व, रज और तम। इनको स्वीकार करके इस संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके लिए एक अद्वितीय परमात्मा ही श्रीविष्णु, ब्रह्मा और रुद्र, ये तीन नाम ग्रहण करते हैं। फिर भी मनुष्योंका परम कल्याण तो सत्त्वगुण स्वीकार करनेवाले श्रीहरिसे ही होता है।"

एक ही परब्रह्मतत्त्व विश्वकी उत्पत्ति, पालन और लय करनेके लिए ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके रूपमें आत्मप्रकाश करते हैं। ये परब्रह्मके गुणावतार हैं। ब्रह्मा और महादेव रज और तम गुणोंसे उपाधियुक्त हैं। श्रीविष्णुकी भाँति इनमें परब्रह्मत्वका अभाव है। ये धर्म, अर्थ, कामको प्रदान किया करते हैं, गुणावतार विष्णु सत्त्वगुण सम्पन्न हैं। इसलिए वे मोक्ष या मायामुक्तिको प्रदान कर सकते हैं। यहाँ ग्रन्थकार श्रीलचक्रवर्ती ठाकुरजी कहते हैं—साधारण रूपमें इस श्लोकमें शिवकी भाँति ब्रह्माकी भी ईश्वरता ज्ञात होती है, किन्तु इनमें ईश्वरावेश है अर्थात् ईश्वरका कुछ अंश इनमें है।

जैसे ब्रह्मसंहितामें कहा गया है—

भास्वान् यथाश्मसकलेषु निजेषु तेजः
स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र।

ब्रह्मा य एष जगदण्ड-विधान-कर्त्ता
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब. सं. ५/४९)

"जिस प्रकार मणियाँ (सूर्यकान्तमणि) सूर्यके तेजके अंशमात्रको ग्रहणकर प्रतिभात होती हैं, उसी प्रकार विभिन्नांश स्वरूप ब्रह्मा जिनसे शक्ति प्राप्तकर जगतकी सृष्टि करते हैं, मैं उन आदि पुरुष गोविन्दका भजन करता हूँ।"

यहाँ साधकोंको यह जान लेना चाहिए कि "उपासना भेदे जानि ईश्वर महिमा" अर्थात् गुणावतारोंकी उपासना भी गुणमयी है, निर्गुण नहीं है। ये धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति पर्यन्त दिया करते हैं। परब्रह्म भगवान् हरि ही मायातीत और निर्गुण हैं, और उनकी उपासना भी निर्गुण है। भक्ति ही वहाँ निर्गुण उपासना है, जिसके फलसे साधक पञ्चम पुरुषार्थ कृष्णप्रेम प्राप्तकर कृतकृतार्थ हो जाते हैं। श्रीलघु-भागवतामृतमें श्रीलरूपगोस्वामीने लिखा है—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतो भद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लताष्वपि प्रेमदो भवति॥

"कमलनाभ श्रीहरिके अनन्त अवतार हैं, सभी सब प्रकारसे मङ्गलकारी हैं, किन्तु श्रीकृष्णके अतिरिक्त, चैतन्य जीवोंकी तो बात ही क्या है, जड़, लता, गुल्मादिको भी प्रेमदान श्रीकृष्णके बिना और कौन कर सकता है?" प्रेम-प्रदाता केवल श्रीकृष्ण ही हैं। इस विषयको आगे श्रीग्रन्थकार और स्पष्ट कर रहे हैं।

एक दृष्टिकोणसे तमोगुण, रजोगुणकी अपेक्षा श्रेष्ठ

तथा "पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः। तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्।" इत्यत्र तमसः सकाशात् रजसः श्रेष्ठ्येऽपि वस्तुतो रजसि धूमस्थानीये शुद्धतेजःस्थानीयस्येश्वरस्यानुपलब्धेश्च। सत्त्वे संज्वलनाग्नौ शुद्धतेजसः साक्षादिव पार्थिवे दारुस्थानीये तमस्यपि तस्यान्तर्हिततयोपलब्धिरस्त्येव। तत्कार्यसुषुप्तौ निर्भेदज्ञानसुखानुभव इवेत्यादि विचार्य तत्त्वमवसेयम्।

भावानुवाद—श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि जैसे पृथ्वीके विकार लकड़ीकी अपेक्षा धुआँ श्रेष्ठ है और धुएँसे अग्नि श्रेष्ठ है, क्योंकि यज्ञादिके द्वारा अग्नि सद्गति (स्वर्गादिके भोग) प्रदान करती है, उसी प्रकार तमोगुणसे रजोगुण श्रेष्ठ है और रजोगुणसे सत्त्वगुण श्रेष्ठ है, क्योंकि वह ब्रह्मका साक्षात्कार करानेवाला है।

इस श्लोकमें तमोगुणसे रजोगुणकी श्रेष्ठता बतलाई जानेपर भी वस्तुतः धुआँ स्थानीय जो रजोगुण है, उसमें शुद्ध तेज स्थानीय ईश्वरकी उपलब्धि नहीं है और प्रज्ज्वलित अग्नि स्थानीय सत्त्वगुणमें शुद्ध तेज स्वरूप ईश्वरकी साक्षात् उपलब्धि है। लकड़ी स्थानीय तमोगुणमें अन्तर्हित रूपसे ईश्वरकी उपलब्धि है। लकड़ीमें जैसे अग्नि अव्यक्त रूपसे विद्यमान रहती है, घर्षणादिसे उसका बाहर भी प्रकाश होता है, उसी प्रकार तमोगुणमें भी अव्यक्त रूपसे ईश्वर विद्यमान हैं। तमोगुणका जो कार्य सुषुप्ति है, उसमें जैसे निर्भेद ज्ञान सुखका अनुभव होता है, उसी प्रकार विचारकर तत्त्वका निर्णय करना चाहिए।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें श्रीशौनकादि ऋषियोंने श्रीसूतगोस्वामीसे भगवान्के अवतारोंके विषयमें प्रश्न करनेपर श्रीसूत गोस्वामीने निखिल अवतारोंके मूल सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद रहित अखण्ड अद्वयज्ञानतत्त्व अवतारी श्रीकृष्णकी स्वयं भगवत्ताका वर्णन किया। जिस प्रकार किसी अक्षय सरोवरसे असंख्य झरने प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार मूल भगवत्-तत्त्वसे असंख्य अवतार प्रकाशित होते हैं। इसलिए वे स्वयंभगवान् पदवाच्य हैं। तत्त्वज्ञजन उनके सामान्य प्रकाश या अङ्गकान्तिको ब्रह्म कहते हैं, इनके अंश विभवको परमात्मा एवं उनकी विलासमूर्त्तिको भगवान् (श्रीनारायण) कहते हैं। इस प्रकार अद्वयज्ञान परतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही नाना रूपसे ब्रह्माण्डमें विविध प्रकारकी लीलाएँ प्रकाश करते हैं। सर्वकारण-कारण वे ही विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके निमित्त सत्त्व, रजः और तमोगुणके अधिष्ठाता गुणावतारके रूपमें भी प्रकट होते हैं। श्रीविष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठाता रूपसे विश्वका पालन करते

हैं, रजोगुणके अधिष्ठाता ब्रह्मा विश्वकी सृष्टि करते हैं और तमोगुणके अधिष्ठाता शिव सृष्टिका लय साधन किया करते हैं। श्रीविष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठातृदेवता होकर भी सर्वथा उस गुणसे निर्लिप्त और अनावृत रहते हैं। शिव तमोगुण और ब्रह्मा रजोगुणके द्वारा आवृत रहते हैं।

कार्योंके भेदसे तमोगुणकी अपेक्षा रजोगुणकी और रजोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुणकी श्रेष्ठताका वर्णन किया गया है। उसका दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें दिया गया है। जिस प्रकार लकड़ीसे धुएँकी श्रेष्ठता है, क्योंकि लकड़ी अचल और धुआँ सचल है। धुएँमें किञ्चित् ताप भी अनुभूत होता है। धुएँसे अग्निकी श्रेष्ठता है, क्योंकि धुएँकी अपेक्षा अग्निमें प्रकाश है। उसी प्रकारसे तमोगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे सत्त्वगुणकी श्रेष्ठता है। सत्त्वगुणकी श्रेष्ठताका एक दूसरा कारण यह भी है कि इसमें ब्रह्मदर्शन हुआ करता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥

श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे उद्धव! कैवल्यज्ञान सात्त्विक है, देहादि विषयक ज्ञान राजस है, बालक और मूकादिकी भाँति प्राकृत ज्ञान तामस है एवं मुझसे सम्बन्धित ज्ञानको निर्गुण कहा जाता है।"

इस श्लोककी क्रमसन्दर्भ टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है, "केवलस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः शुद्धजीवाभेदेन ज्ञानं कैवल्यम्।" अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मके साथ शुद्धजीवके ऐक्य ज्ञानका नाम ही 'कैवल्य' है। सत्त्वगुणके द्वारा निर्विशेष ब्रह्मके साथ शुद्धजीवका अभेद ज्ञान उदय हुआ करता है। अर्थात् 'केवल' शब्द निर्विशेष-ब्रह्मको सूचित करता है। अतः सत्त्वगुण निर्विशेष-ब्रह्मके साथ शुद्धजीवके अभेदज्ञानको उदित कराता है।

ग्रन्थकार श्रीचक्रवर्तिपादका कहना है कि तमोगुण तो लकड़ी स्थानीय है, धुआँ रजोगुण स्थानीय है और प्रज्ज्वलित अग्नि सत्त्वगुण स्थानीय है। सत्त्वगुणमें निर्विशेष-ब्रह्मका प्रकाश होता है, रजोगुणरूप

धुएँमें ब्रह्मका प्रकाश नहीं है, किन्तु अग्नि प्रकाशित होनेसे तापकी अनुभूति होती है। तमोगुणरूप लकड़ीमें अग्नि व्याप्त है, जो घर्षण आदिसे व्यक्त होती है। इसी तरह तमोगुणके अधिष्ठाता श्रीशिवमें सच्चिदानन्द तत्त्व विद्यमान है। सुषुप्ति जो तमोगुणका कार्य है, उसमें भी अनुभूति रहती है। सारांश यह है कि श्रीशिवमें वही अद्वयतत्त्व व्याप्त है। वही परमतत्त्व ही गुणावतार रूपमें सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और लय कार्यके लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें आत्म प्रकाश करता है। तत्त्व विचारसे यही निर्णय होता है।

अविद्या आवृत्त विचारमें दो प्रकारके जीवचैतन्य

अथेशितव्यं चैतन्यञ्च स्वदशाभेदेन द्विविधम्; अविद्ययावृतमनावृतञ्च। तत्रावृतं देवमनुष्यतिर्यगादि। अनावृतं द्विविधम्; ईश्वरेणैश्वर्य-शक्त्यानाविष्टमाविष्टञ्च। अनाविष्टं स्थूलतो द्विविधम्; ज्ञानभक्ति-साधनवशात् ईश्वरे लीनमलीनञ्च। प्रथमं शोच्यं; द्वितीयं तन्माधुर्यास्वाद्य-शोच्यम्। आविष्टञ्च द्विविधम्—चिदंशभूतज्ञानादिभिर्मायांशभूत-सृष्ट्यादिभिश्चेति। प्रथमं चतुःसनादि; द्वितीयं ब्रह्मादीति।

भावानुवाद—अनन्तर ईशितव्य अर्थात् ईश्वरके अधीन चैतन्य अवस्था भेदसे दो प्रकारका होता है। एक अविद्यासे आवृत और दूसरा अविद्यासे अनावृत चैतन्य है। अनावृत चैतन्य फिर दो प्रकारका होता है, एक ईश्वरकी ऐश्वर्य शक्तिके द्वारा अनाविष्ट और दूसरा ईश्वरकी ऐश्वर्य शक्तिके द्वारा आविष्ट। उनमें अनाविष्ट-चैतन्य स्थूलतः दो प्रकारका होता है। ज्ञानमिश्रभक्ति साधनके द्वारा ईश्वरमें लीन और उनमें अलीन। उनकी पहली अवस्था शोचनीय है। द्वितीय अवस्थामें श्रीभगवान्के माधुर्यका आस्वादन किया जा सकता है, इसलिए अशोच्य है। आविष्ट-चैतन्य भी फिर चिदंशभूत-ज्ञानादि और मायांशभूत-सृष्टि आदि ऐश्वर्यशक्तिके द्वारा आविष्ट होनेसे दो प्रकारका होता है, इनमेंसे पहले प्रकारमें चतुःसनादि और द्वितीय प्रकारमें ब्रह्मा इत्यादि हैं। इस प्रकार चैतन्यके एकरूपत्व होनेके कारण श्रीविष्णु और श्रीशिवमें अभेद ही सिद्ध होता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रील ग्रन्थकार महोदय ईश्वरकोटि शिव एवं जीवकोटि ब्रह्मामें भेद समझानेके लिए पहले जीवचैतन्यकी अवस्था भेदका निरूपण कर रहे हैं। इस प्रकरणके प्रारम्भमें ही कहा गया है कि चैतन्य दो प्रकारके हैं, स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र। अस्वतन्त्र चैतन्य ईशितव्य या ईश्वरके अधीन जीवचैतन्य है। जीवचैतन्य भी अवस्थाके भेदसे दो प्रकारका होता है, अविद्या द्वारा आविष्ट और दूसरा अविद्याके द्वारा अनाविष्ट। जो अविद्याके द्वारा आविष्ट रहता है अर्थात् अविद्या, अस्मिता (देह-दैहिक इत्यादिमें 'मैं' और 'मेरा' बुद्धि अर्थात् देहात्मबुद्धि), राग, द्वेष, अभिनिवेशसे आवृत। जैसे देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनादिकालसे जो अविद्याके द्वारा आवृतचैतन्य होकर कर्मके वशसे नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमणकर त्रिताप ज्वाला इत्यादिका भोग कर रहे हैं।

द्वितीय जीवचैतन्य अविद्याके द्वारा अनाविष्ट। अनादिकालसे ये द्वितीय प्रकारके चैतन्य अविद्या विमुक्त अथवा जड़ अहं, ममादि भावसे वर्जित होते हैं। ये भी अवस्था भेदसे दो प्रकारके हैं, ईश्वरकी ऐश्वर्य शक्तिके द्वारा अनाविष्ट अर्थात् इनमें ईश्वरकी ऐश्वर्य शक्तिका कोई आवेश या क्रिया नहीं है। और दूसरा ईश्वरकी ऐश्वर्य शक्तिके द्वारा आविष्ट, जिनमें ऐश्वर्य शक्तिकी क्रिया या आवेश है अर्थात् जो लोग ऐश्वर्यमय कार्य किया करते हैं।

जो ईश्वरकी शक्ति द्वारा अनाविष्ट हैं, वे दो प्रकारकी श्रेणियोंमें विभक्त हैं। एक श्रेणी ब्रह्मज्ञानकी साधनाकर जीव-ब्रह्मका ऐक्य चिन्तनकर निर्विशेष-ब्रह्ममें लीन या सायुज्य प्राप्त हुआ करता है। कोई-कोई सगुण ब्रह्म या ईश्वरमें लीन या ईश्वर सायुज्य प्राप्त करते हैं। यह समझ लेना चाहिए कि ज्ञानिगण अपनेको ब्रह्म भावना करनेपर भी ब्रह्म नहीं हो सकते। उनका पृथक् अस्तित्व रहता ही है, क्योंकि यह स्वतन्त्र चैतन्य नहीं है, नित्य अस्वतन्त्र चैतन्य है और स्वांश नहीं, नित्य विभिन्नांश है। इनको अत्यन्त शोचनीय कहा गया है, क्योंकि ये ब्रह्मके किसी भी गुणका आस्वादन करनेमें समर्थ नहीं होते। ब्रह्मसायुज्यमें आस्वाद्य, आस्वादक और आस्वादन, इन सबका एकाकार हो जाता है। इसलिए वे आनन्दास्वादन या स्वरूपानन्दी

ईश्वरकी सेवासे चिरवञ्चित रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति नरकको भी इच्छा करते हैं, परन्तु ब्रह्मसायुज्यको ग्रहण नहीं करते। ब्रह्मसायुज्यसे भी ईश्वर सायुज्य अधिक शोचनीय है, क्योंकि निर्विशेष-ब्रह्ममें कोई विचित्रता नहीं है, किन्तु ईश्वरमें अनन्त गुण, रूप, लीलाकी वैचित्रता विद्यमान रहते हुए भी ईश्वर सायुज्य प्राप्त जीव उसके आस्वादनसे वञ्चित रहते हैं। जो मधुके भाण्डारमें रहनेपर मधुके लेशमात्र आस्वादनसे भी वञ्चित रहते हैं, उनके समान दुर्भागा और कौन हो सकता है? इसलिए कहा गया है ब्रह्मसायुज्यसे भी ईश्वर-सायुज्यवालोंको अधिकसे अधिक धिक्कार है, "ब्रह्म-सायुज्य हैते ईश्वर-सायुज्य धिक्कार।" (चै. च. म. ६/२६९)

द्वितीयश्रेणी—ईश्वरमें अलीन, जो भक्तिसाधनके द्वारा दास्य, सख्य भावसे प्रभु, सख्यादि रूपसे ईश्वरको प्राप्त होकर ईश्वरकी अशेष सेवा-सुख-माधुरीका आस्वादन करके धन्य होते हैं। ये लोग शोचनीय नहीं है, परन्तु परम प्रशंसनीय हैं। ये अपने भावके अनुरूप सच्चिदानन्दघन श्रीभगवानकी अफुरन्त माधुरीका आस्वादन करके कृतार्थ होते हैं।

ऐश्वर्यशक्तिसे आविष्ट-चैतन्य भी दो प्रकारके होते हैं। एक ईश्वरकी चित्-शक्ति अर्थात् अन्तरङ्ग स्वरूपशक्तिसे उत्पन्न होनेवाले चित्-ज्ञानकी ऐश्वर्य शक्तिसे आविष्ट रहते हैं। जैसे ब्रह्माके मानसपुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। ये सदा भगवत्-चित्-ज्ञान शक्तिमें आविष्ट होकर सर्वत्र विचरण करते हैं। मायिक ब्रह्माण्डकी सृष्टि-रचना आदिसे इनका कोई भी सम्पर्क नहीं है।

दूसरे हैं, ईश्वरकी बहिरङ्गाशक्ति मायाकी अंशभूत सृष्टि आदि शक्तिमें आविष्ट। अर्थात् मायाशक्ति द्वारा श्रीभगवान् जो सृष्टिलीला करते हैं, उस विश्वसृष्टिकार्यके लिए उसी शक्तिसे आविष्ट लोकपितामह ब्रह्मा। ग्रन्थकारने स्वरचित श्रीभागवतामृतकणा नामक ग्रन्थमें चतुःसनको लीलावतार और ब्रह्माकी गुणावतारमें गणना की है। यहाँ चैतन्यतत्त्वका विभाग इस प्रकार सहज ही समझा जा सकता है—
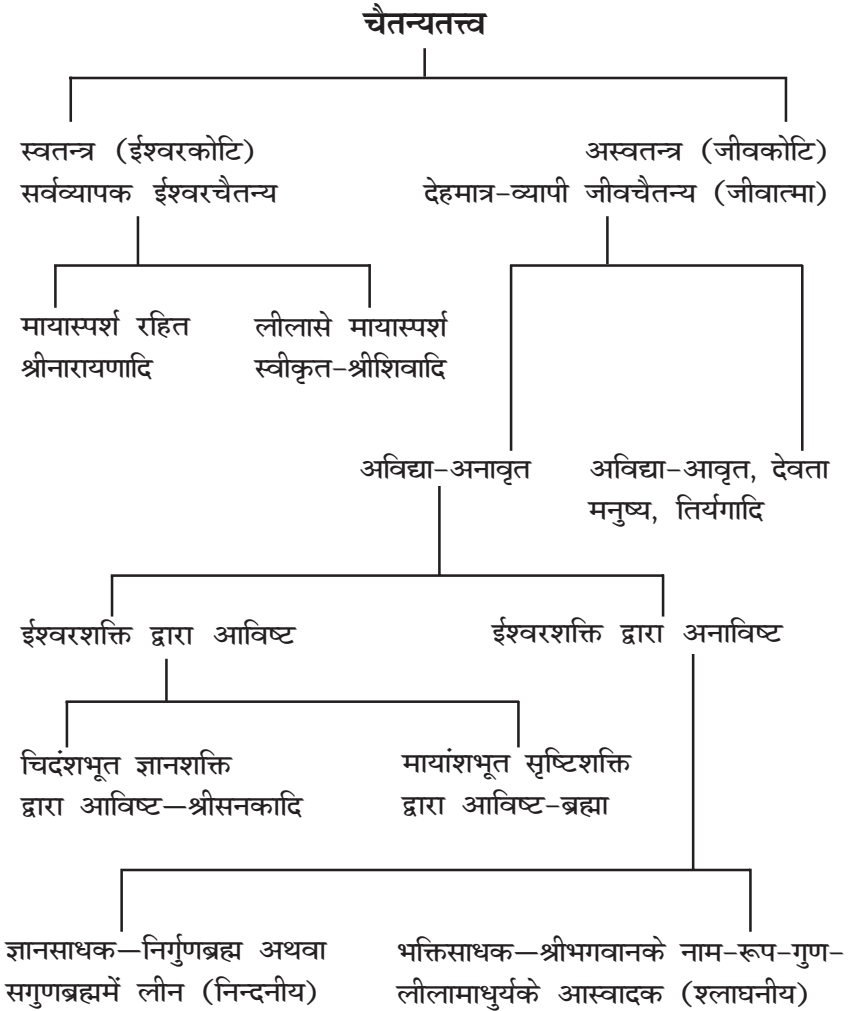
विष्णु और शिवमें अभेद होनेपर भी विष्णु ही उपास्य

एवञ्च विष्णुशिवयोरभेद एव प्रसक्तश्चैतन्यकरूप्यात्। निष्कामैरुपास्य-त्वानुपास्यत्वे तु निर्गुणत्वसगुणत्वाभ्यामेवेत्यवगन्तव्यम्। विष्णुब्रह्माद्योस्तु भेद एव चैतन्यपार्थक्यादेव। क्वचित्तु सूर्यस्य तदाविष्टसूर्यकान्तमणेरभेद

इव विष्णुब्रह्मणोरभेदश्च पुराणवचनेषु दृष्टः। किञ्च क्वचिन्महाकल्पे शिवोऽपि ब्रह्मेव ईश्वराविष्टाजीव एव भवेत्। यदुक्तम्—"क्वचिज्जीवविशेषत्वं हरस्योक्तं विधेरिवेति।" अतएव—"यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः। समत्वेनैव मन्येत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्॥" (हरिभक्तिविलास १/७३) इति वचनमपि ब्रह्मसाहचर्येण सङ्गच्छते इति।

भावानुवाद—इस प्रकार चैतन्यके एकरूपत्वके कारण श्रीविष्णु और शिवमें अभेद ही सिद्ध होता है। निष्काम साधकोंको निर्गुणत्व और सगुणत्वके कारण अपने उपास्यत्व तथा अनुपास्यत्वका विचार करना चाहिए। चैतन्यके पार्थक्यके कारण ही श्रीविष्णु और ब्रह्माजीमें भेद है। कहीं-कहीं पुराणोंके वचनोंमें श्रीविष्णु तथा ब्रह्मामें जो अभेद देख जाता है, उसे सूर्य और तदाविष्ट सूर्यकान्तमणिके अभेदकी तरह ही समझना चाहिए। किसी-किसी महाकल्पमें कोई ईश्वराविष्ट जीव ही शिव बनता है, जैसा कि कहा गया है—"कभी-कभी श्रीब्रह्माकी तरह श्रीशिवका भी जीवत्व माना गया है।" इसलिए जो देवश्रेष्ठ श्रीनारायणको ब्रह्मा-रुद्रादि देवताओंके समान देखता है, वह निश्चय ही पाषण्डी है। यह शास्त्रवचन ब्रह्माके सम्बन्धमें ही संगत होता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—इस प्रकार पूर्वोक्त आलोचनाके द्वारा यह विदित होता है कि चैतन्यके एकरूपत्वके कारण ही श्रीविष्णु एवं श्रीशिव परस्पर अभेद तत्त्व हैं। अर्थात् विभुचैतन्य श्रीविष्णु ही लीला हेतु तमोगुणको अङ्गीकारकर शिव हुए हैं, और भी यहाँ ज्ञातव्य है कि यह गुणाङ्गीकरण शिवके सम्बन्धमें ही है, श्रीसदाशिवके सम्बन्धमें नहीं है। श्रील ग्रन्थकार महोदयने अपने भागवतामृतकणामें लिखा है, "किञ्च सदाशिवः स्वयंरूपाङ्गोविशेषस्वरूपो निर्गुणः स शिवस्यांशी" अर्थात् "सदाशिव गुणावतार नहीं हैं, वे निर्गुण श्रीनारायणकी भाँति स्वयंरूप श्रीकृष्णके अङ्गविशेष हैं। ये सदाशिव ही गुणावतार श्रीशिवके अंशी हैं।" मायातीत कारण समुद्रके उसपार सदाशिव लोकमें सदाशिवकी स्थिति और कैलाशादिमें गुणावतार शिवकी स्थिति है। ग्रन्थकार महोदय चैतन्यकी एकताकी दृष्टिसे श्रीविष्णु और श्रीशिवकी एकता प्रतिपादनकर यहाँ उपासनाकी दृष्टिसे कह रहे हैं। निष्काम

उपासकको निर्गुणत्व-सगुणत्वका विचारकर उपास्यका निरूपण होगा।

इससे पूर्व यह कहा जा चुका है कि श्रीशिव, ब्रह्मादि सकाम उपासकोंकी कामनाको पूर्ण किया करते हैं। जो लोग संसारी सम्पत्ति आदिकी कामना करते हैं, वे लोग स्वभावतः गुणमय देव-देवीकी उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। जिन लोगोंके हृदयमें किसी भी मायिक नश्वर वस्तुकी तनिक भी स्पृहा नहीं है, नित्य शाश्वत प्रेमसम्पद ही जिनको काम्य है, वे निष्काम साधकगण गुणमय शिव, ब्रह्मादिकी आराधना छोड़कर मायास्पर्शरहित निर्गुण श्रीहरिकी ही आराधना किया करते हैं। और इस निर्गुण उपासनाके फलसे वे श्रीहरिके नाम, रूप, गुण, लीला एवं सेवारसके आस्वादनमें निमग्न रहते हैं। पार्थिव सम्पत्तिकी तो बात ही दूर रहे, सालोक्यादि चारों मुक्तियोंको दिए जानेपर भी वे उन्हें ग्रहण नहीं करते। "सालोक्य-सार्ष्टि-समीप्य-सारूप्यैकत्वमुप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥" (श्रीमद्भा. ३/२९/१३)

सकाम देवी-देवताके उपासक अपने अभीष्ट देव-देवीसे अत्यन्त तुच्छ, नश्वर, परिणाममें दुःखद सांसारिक धनैश्वर्य आदि वर प्राप्त करते हैं। पुनः सकाम उपासकोंको स्मरण रखना उचित है कि सगुण देवता-देवी जैसे बहुत शीघ्र ही प्रसन्न होकर धन, ऐश्वर्य इत्यादि वरदान दिया करते हैं, उसी प्रकार कुछ त्रुटि विच्युति होनेपर अभिशाप भी दिया करते हैं। कभी-कभी पूर्वापर विचाररहित होकर वरदान देकर स्वयं भी विपत्तिग्रस्त हो जाते हैं। इस प्रकार श्रीमद्भागवत (१०/८८ अध्याय) में देखा जाता है, श्रीमन्महादेवने वृकासुरको वर दिया था, जिसके मस्तकपर वह हाथ रखेगा, उसका विनाश हो जाएगा। वरको प्राप्त करनेके बाद वृकासुर महादेव द्वारा दिए गए वरकी परीक्षाके लिए महादेवके मस्तकपर ही हाथ रखनेके लिए प्रस्तुत हुआ।

ऐसा देखकर महादेव भयभीत होकर भागे और वृकासुरने भी उनका पीछा किया। सारी पृथ्वीका भ्रमणकर महादेव स्वर्ग आदि देवलोकोंमें गए। देवताओंमेंसे कोई भी उनकी रक्षा नहीं कर सका। अन्तमें महादेव वहाँ मायातीत वैकुण्ठलोकमें उपस्थित होनेपर श्रीनारायण

ब्राह्मण बालकका रूप धारणकर वृकासुरको सम्बोधनकर उसके यहाँ तक आनेका कारण पूछा। वृकासुरके द्वारा घटनाका वर्णन किए जानेपर वटुवेशधारी श्रीनारायणने कहा, "जो शिव दक्षके अभिशापसे पिशाच होकर भूत-प्रेतादिके सङ्गमें विचरण करते हैं, उनकी बातें कभी भी सत्य नहीं हो सकतीं। तुम स्वयं अपने मस्तकपर हाथ रखकर परीक्षा कर लो।" श्रीनारायणकी बातोंसे मोहित होकर वृकासुर अपने मस्तकपर हाथ रखनेके साथ-ही-साथ भस्म होकर भूतलपर पतित हुआ।

इस प्रकार ब्रह्माने भी पूर्वापर विचारशून्य होकर हिरण्यकशिपुको दुर्लभ वर प्रदान किया। भगवान् श्रीनृसिंहदेवने अवतीर्ण होकर ब्रह्माके वरकी मर्यादाकी रक्षा करते हुए हिरण्यकशिपुको निहत किया था। सर्पको दूध पिलानेकी भाँति उक्त असुरको ऐसा वरदान करनेके लिए ब्रह्माजीका तिरस्कार किया था, इसका भी श्रीमद्भागवतमें वर्णन है।

इस प्रकार चैतन्यके भेदसे ही विष्णुसे ब्रह्मादिका भेद समझना चाहिए। अर्थात् श्रीविष्णु स्वतन्त्र चैतन्य हैं और ब्रह्मा जीवतत्त्वके कारण अस्वतन्त्र चैतन्य हैं। किसी-किसी पुराणमें श्रीविष्णुके साथ ब्रह्माका जो अभेदत्व दिखलाया गया है, उससे सूर्यके साथ तदाविष्ट सूर्यकान्तमणिके अभेदकी तरह जानना चाहिए। अर्थात् सूर्यसे सूर्यकान्तमणि पृथक् वस्तु है, अतएव उनमें नित्य भेद है। किन्तु जब सूर्यका तेज सूर्यकान्तमणिमें प्रतिफलित होता है, तब उसके तेजसे वस्त्रादि जल जाते हैं। सूर्यका उष्णता-गुण संक्रमित होनेसे ही जिस प्रकार सूर्य और सूर्यमणिका अभेद है, उसी प्रकार ब्रह्मा और विष्णुमें मायांशभूत सृष्टि इत्यादि शक्तिके संक्रमण हेतु ही किसी-किसी पुराणमें श्रीविष्णुके साथ ब्रह्माके अभेदका उल्लेख देखा जाता है, वस्तुतः स्वतन्त्र चैतन्यांशमें अभेदके लिए नहीं।

पुनः स्वतन्त्र चैतन्यांशमें श्रीविष्णु और शिवका अभेद वर्णन होनेपर भी किसी-किसी महाकल्पमें ईश्वराविष्ट जीव भी शिव होकर अर्थात् किसी-किसी जीवमें ईश्वरशक्ति संक्रमित होकर शिवका कार्य सम्पन्न किया करते हैं। इसलिए शास्त्रोंमें देखा जाता है, "कचिज्जीवविशेषत्वं हरस्योक्तं विधेरिव" अर्थात् "कभी-कभी ब्रह्माकी तरह शिवका भी

जीवत्व होता है।" इसलिए द्वितीय नामापराध वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है, श्रीविष्णु और शिवके नाम, गुणादिमें बुद्धिके द्वारा जो व्यक्ति भेद दर्शन करता है, वह नामापराधी है। दूसरी जगहमें भी यह कहा गया है, "यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादि दैवतैः। समत्वेनैव मन्येत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम्॥" अर्थात् "जो व्यक्ति श्रीनारायणके साथ ब्रह्मा और रुद्रको एक समान मानता है, वह निश्चित रूपमें पाषण्डी है।" विष्णुके साथ शिवके भेद दर्शनमें नामापराध और अभेद दर्शनमें पाषण्डित्वकी प्राप्ति होती है। यद्यपि शास्त्रोंके इन दो प्रकारके वचनोंमें विरोध देखा जाता है, किन्तु इसका सामञ्जस्य यह है कि जहाँ भेद दर्शनमें दोष कहा गया है, वहाँ ईश्वरकोटि शिवके सम्बन्धमें कहा गया है और जहाँ अभेद दर्शनमें दोष कहा गया है, वहाँपर जीवकोटि शिवके सम्बन्धमें समझना चाहिए।

इसी प्रकार ब्रह्मा भी साधारणतः जीवकोटिमें होनेपर भी ईश्वरकोटिवाले ब्रह्माकी बात भी शास्त्रमें उल्लिखित है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है, "स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति" (श्रीमद्भा. ४/२४/२९) अर्थात् "एक सौ जन्म पर्यन्त निष्ठाके साथ निष्काम भावसे वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेपर जीव ब्रह्मापदको प्राप्त होता है। इस प्रकार योग्य जीव ही सृष्टिके प्रारम्भमें गर्भोदकशायी विष्णुके नाभिकमलसे ब्रह्माके रूपमें आविर्भूत हुआ करते हैं एवं भगवान् उनमें सृष्टिशक्तिका सञ्चार करते हैं। जिस कल्पमें इस प्रकार योग्य जीव नहीं मिलते, उसी कल्पमें श्रीहरि गुणावतारके रूपमें ब्रह्मा होकर सृष्टिका कार्य सम्पन्न किया करते हैं। इन्हें हिरण्यगर्भ या ईश्वरकोटिका ब्रह्मा कहा जाता है।

'विष्णु ही ईश्वर है' अथवा 'शिव ही ईश्वर है'—
ऐसा विवाद अपराधजनक है

एवमपर्यालोचयतां विष्णुरेवेश्वरो न शिवः शिव एवेश्वरो न विष्णुर्वयमनन्या नैव पश्यामः शिवं वयञ्च न विष्णुमित्यादि विवादग्रस्तमतीनामपराधे जाते कालेन कदाचित् तत्तात्पर्यालोचनविज्ञसाधुजनप्रबोधितत्वे तेषामेव शिवस्य भगवत्स्वरूपादभिन्नत्वेन लब्धप्रतीतीनां नामकीर्त्तनेनैवापराधक्षयः।

भावानुवाद—जो लोग यहाँ वर्णित समस्त तत्त्वोंकी पर्यालोचना नहीं करते हैं, वे ही "श्रीविष्णु ईश्वर हैं, श्रीशिव ईश्वर नहीं हैं; श्रीशिव ईश्वर हैं, श्रीविष्णु ईश्वर नहीं हैं; हम विष्णुके अनन्य उपासक हैं, हम श्रीशिवको देखेंगे भी नहीं; हम शिवके अनन्य भक्त हैं, श्रीविष्णुका दर्शन भी नहीं करेंगे"—इस प्रकार विवादग्रस्त बुद्धियुक्त होकर ऐसा नामापराध करते हैं। ऐसा अपराध होनेपर भगवत्-इच्छासे दैववश यदि अपराधी व्यक्तिको किसी तत्त्वज्ञ महत्पुरुषका सङ्ग प्राप्त हो जाए और उनके द्वारा इस विषयमें प्रबोधित होनेपर यदि उस अपराधी व्यक्तिको श्रीशिवका श्रीविष्णुसे अभिन्न स्वरूपका विश्वास हो जाए, तब नामसंकीर्त्तनके द्वारा अपराधी व्यक्तिका उक्त नामापराध क्षय हो सकता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीविष्णुसे श्रीशिवके नामरूपादिकी स्वतन्त्रता या उनमें परस्पर भेद चिन्तनरूप अपराध करनेवाले व्यक्तियोंकी धारणाका उल्लेख करते हुए श्रीलचक्रवर्तिपाद उस अपराधका कारण और उस अपराधसे मुक्त होनेका उपाय स्पष्ट रूपसे वर्णन कर रहे हैं। भगवत्-तत्त्वमें अपराधका मूल कारण श्रीभगवान्के स्वरूप ज्ञानका या तत्त्वज्ञानका अभाव है। तत्त्ववस्तुके सम्बन्धमें यह नियम है कि—जिनका जो स्वरूप नहीं है उस रूपमें उनका चिन्तन करनेसे ही उसके निकट अपराधी होना अवश्यम्भावी है। श्रीविष्णुतत्त्व हो अथवा श्रीशिवतत्त्व ही हो, उनके बीच परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस विषयमें जो लोग अच्छी तरहसे विचार नहीं करते, अतः वैसे तत्त्वविद् साधुका सङ्ग अथवा उनके मुखसे श्रीविष्णुतत्त्व, श्रीशिवतत्त्व इत्यादि श्रवण करनेका सौभाग्य जिनको नहीं हुआ, प्रायः ऐसे लोगोंका ही इस विषयमें अपराध हुआ करता है। जो लोग विष्णुके उपासक होते हैं, वे ऐसा समझते हैं कि श्रीविष्णु ही ईश्वर हैं, शिव ईश्वर नहीं हैं। हम लोग विष्णुके अनन्य भक्त हैं, अतः शिवका दर्शन नहीं करेंगे। और उधर शिवके उपासक, वे भी सोचते हैं, शिव ही ईश्वर हैं, विष्णु ईश्वर नहीं हैं। हम लोग शिवके अनन्य भक्त हैं, हम विष्णुका दर्शन नहीं करेंगे। जिनकी इस प्रकारकी विवादग्रस्त बुद्धि है, वे लोग इस विषयमें अपराधी होते हैं।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है, जिससे अभीष्ट देवका सन्तोष या प्रीति दूर हो जाती है, उसे अपराध कहते हैं। यदि श्रीविष्णु और श्रीशिवके उपासक इस प्रकार परस्पर उपास्यतत्त्वके भेदका चिन्तन करते हैं, तो इससे उनके प्रति अभीष्टदेवके सन्तोषका क्षय होता है। क्योंकि यदि कोई सेव्यके एक अङ्गकी सेवा तो करता है, परन्तु दूसरे अङ्गका छेदन करता है या पीड़ा देता है, तो क्या सेव्य उसके प्रति सन्तुष्ट होंगे? श्रीमन्महादेव विष्णुके ही अङ्गस्वरूप हैं, इसलिए उनमें इस प्रकारके भेद चिन्तनसे अपराध होना अनिवार्य है।

अब यहाँ उस अपराधको दूर करनेका उपाय बतला रहे हैं। श्रीविष्णु और श्रीशिवके तत्त्वज्ञानका अभाव ही जो इस अपराधका मूल कारण है, तब उनको तत्त्वज्ञान या यथार्थ ज्ञान न होने तक इस अपराधके नष्ट होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं है। ऐसे अपराधीको यदि सौभाग्यसे किसी दिन श्रीविष्णुतत्त्व और श्रीशिवतत्त्वके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले अभिज्ञ साधुओंका सङ्ग मिल जाए और उनके निकट श्रीविष्णु और श्रीशिवके यथार्थ तत्त्वका श्रवण करे और उस श्रवणसे उनको इन तत्त्वोंकी यथार्थ उपलब्धि हो, तब वे श्रीविष्णु और शिवके अभेद तत्त्वको समझ सकेंगे। क्योंकि भगवत्-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान केवलमात्र साधुसङ्ग और उनकी कृपासे ही सम्भव हो सकता है।

उपनिषद्में भी इसी सिद्धान्तको पाते हैं। कठोपनिषद्के अन्तमें ब्रह्मके दुर्विज्ञेयत्वका वर्णन हुआ है। अर्थात् जो मन और वचनके भी अगोचर हैं, इसे प्रदर्शित किया गया है। तब फिर उनको कैसे जाना जा सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है, "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा, अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।" अर्थात् ब्रह्म मन, वचन और नेत्रोंसे अथवा किसी भी इन्द्रियोंके द्वारा निश्चित रूपसे प्राप्तिका विषय नहीं है। उनको किस प्रकारसे जाना जाए? इसके उत्तरमें कहते हैं, श्रद्धावान महापुरुषोंके निकट उनको पहचाना जाएगा। श्रीगीतामें भी श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है, "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।" "हे अर्जुन! तत्त्वदर्शी व्यक्ति ही तुम्हें ब्रह्म ज्ञानका उपदेश करेंगे।" इसके द्वारा यह

विदित होता है कि जो कितना ही शास्त्र अध्ययनकर शब्दब्रह्म निष्णात क्यों न हो, जब तक सत्सङ्गमें अपरोक्षानुभव सम्पन्न तत्त्वदर्शी महापुरुषोंकी कृपा प्राप्त नहीं करता, तब तक यथार्थ भगवत्-तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेकी तनिक भी सम्भावना नहीं है।

और भी वैसे महत्पुरुषोंके मुखसे श्रीविष्णुतत्त्व और श्रीशिवतत्त्व श्रवणकर उसका यथार्थ ज्ञान होनेपर ही उस अपराधका नाश हो जाएगा, ऐसा भी नहीं है। किए हुए अपराधके लिए यथार्थ प्रायश्चित्त जो अनुताप है, उस अनुतापके साथमें नामप्रभुके एकान्त शरणागत होकर नामसंकीर्त्तन करनेसे ही उन अपराधोंको दूर किया जा सकता है।

श्रुति-शास्त्र-निन्दा—चतुर्थ नामापराध

एवञ्च "नैता भगवद्भक्तिं स्पृशन्ति बहिर्मुख्यो विगीता" इति ज्ञानकर्मप्रतिपादिकाः श्रुतीर्येनैव मुखेन निन्दंस्तेनैव मुखेन तास्तदनुष्ठातृंश्च जनान् मुहुरभिनन्द्य नामभिरुच्चैः संकीर्त्तितैः श्रुतिशास्त्रनिन्दनरूपाच्चतुर्था-पराधान्निस्तरेयुः। यतस्ताः श्रुतयो भक्तिमार्गेष्वनधिकारिणः स्वच्छन्दवर्त्तिनः परमरागान्धानामपि वर्त्ममात्रमध्यारोहयितुमुद्यताः परमकारुणिका एवेति तत्तात्पर्यविज्ञजनप्रबोधिता यदि भाग्यवशाद्भवेयुस्तदैवेति। एवमेवान्येषामपि षन्नामपराधानामुद्भवनिवृत्तिनिदानानि अवगन्तव्यानि ॥३॥

भावानुवाद—इसी प्रकार—"ये श्रुतियाँ भगवद्भक्तिको स्पर्श ही नहीं करती हैं, ये बहिर्मुखी हैं"—ऐसा कहकर ज्ञान और कर्मका प्रतिपादन करनेवाली समस्त श्रुतियोंकी जिस मुखसे निन्दाकी जाती है, उसी मुखसे यदि उन समस्त श्रुतियोंका और उन श्रुतियोंके अनुष्ठाता-व्यक्तियोंका बार-बार अभिनन्दन किया जाए तथा उच्च स्वरसे हरिनाम-संकीर्त्तनका अनुष्ठान किया जाए, तो श्रुति-शास्त्र-निन्दा रूप चतुर्थ नामापराधसे रक्षा हो सकती है। श्रुति-शास्त्रकी निन्दा करनेवाले अपराधी व्यक्तियोंको सौभाग्यवश यदि श्रुतियोंके तत्त्ववेत्ता महत्पुरुषोंका सङ्ग और उनके द्वारा यह ज्ञान हो जाए कि ये करुणापरायण श्रुतियाँ भक्तिमार्गके अनधिकारी एवं स्वेच्छापरायण तथा विषयोंमें परम-आसक्त लोगोंको शास्त्रपथपर लानेके लिए ही प्रयत्नशील हैं, तभी उन

अपराधी व्यक्तियोंका श्रुति-शास्त्र-निन्दाजनित अपराध नष्ट हो सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य अपराधोंकी उत्पत्ति और निवृत्ति जाननी चाहिए।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—अब ग्रन्थकार महोदय चौथे अपराध 'श्रुति-शास्त्रोंकी निन्दा' के विषयमें इस अपराधके उत्पन्न होनेका कारण और उसकी निवृत्तिका उपाय निरूपण कर रहे हैं। अनेक प्रकारकी श्रुतियाँ हैं, कोई भगवद्भक्तिका प्रतिपादन करती हैं और कोई ज्ञानमार्गका तथा कोई कर्ममार्ग अर्थात् यज्ञ इत्यादि कर्मोंका निरूपणकर अनेक प्रकारके स्वर्ग लोकोंके भोगोंका अनुमोदन करती हैं। जिन्होंने भगवद्भक्ति या भजनपथका आश्रय किया है, उनके लिए भक्तिमार्गवाले श्रुति-शास्त्रोंकी निन्दा कभी सम्भवपर नहीं है। क्योंकि शास्त्रवचनपर विश्वास करनेका नाम ही श्रद्धा है और वही श्रद्धा भक्तिमार्गका प्रथम सोपान है। इसलिए भक्तिपथका आश्रय लेनेवाले शास्त्रविश्वासी श्रद्धालु भक्तोंके लिए भक्तिमार्गके श्रुति-शास्त्रोंकी निन्दा सम्भवपर नहीं होनेपर भी ज्ञान-कर्मादि प्रतिपादक श्रुति-शास्त्रोंकी निन्दाका अवसर रहता है। जिन लोगोंने ऐहिक और पारत्रिक, यहाँ तक कि मुक्तिको भी तुच्छ समझकर भक्तिपथका आश्रय लिया है, उनमेंसे कोई-कोई कर्म और ज्ञान प्रतिपादक श्रुतियों या तदनुगत शास्त्रोंमें भगवद्भक्तिके तथा श्रवण, कीर्त्तनादि भजनाङ्गका कोई भी वर्णन अथवा प्रशंसा न देखनेपर क्रुद्ध हो जाते हैं और वैसे श्रुति-शास्त्रोंमें जब भक्तिका स्पर्श नहीं है, तब वे बहिर्मुख या निन्दित हैं, जो इस प्रकार समझते हैं, उनके लिए यह श्रुति-शास्त्रनिन्दा रूप चौथा अपराध घटित होता है।

यथार्थतः जो श्रुति-शास्त्र ज्ञान और कर्मादिके प्रतिपादक हैं, वे भी ज्ञान और कर्मके अधिकारियोंको भक्तिमन्दिरमें प्रवेश करानेके लिए ही विशेष रूपसे प्रयत्नशील हैं। जिन लोगोंने महत्पुरुषों अर्थात् भगवद्भक्तोंका सङ्ग प्राप्त किया है और उनकी कृपा प्राप्तिके फलस्वरूप श्रद्धाको प्राप्त किया है, वे लोग ही भक्तिके अधिकारी हैं, "श्रद्धावान् जन हय भक्ति अधिकारी।" जो लोग ऐसे सौभाग्यसे वञ्चित हैं, ब्रह्मसायुज्य या मुक्तिसुखकी ही कामना करते हैं,

ज्ञानमार्गीय शास्त्र उनको ज्ञानसाधनमें प्रवृत्त कराकर वैचित्रीहीन ब्रह्मानन्द प्राप्तिका पथ प्रदर्शन करते हैं। वस्तुतः ज्ञानसाधनमें प्रवृत्त ज्ञानीसाधक साधनकालमें महत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त करनेपर अनन्त वैचित्रीमय भगवत्-रसानन्दमें प्रलुब्ध होकर वैचित्रीशून्य ज्ञानानन्द या मुक्तिसुखको अत्यन्त तुच्छ समझकर ज्ञानमार्गका परित्यागकर भक्तिपथका आश्रय कर धन्य होंगे, ज्ञानकाण्डीय श्रुतियोंका यही यथार्थ अभिप्राय है।

उसी प्रकार स्वेच्छाचारी, विषयसुखमें प्रमत्त भक्तिमार्गके अनधिकारियोंको आपात मधुर स्वर्गसुखादिमें प्रलुब्धकर कर्मकाण्डीय श्रुतियाँ उनको याग, यज्ञादि सकाम कर्मोंमें प्रवर्तित करती हैं और भक्तिमार्गमें प्रवेश करानेके लिए प्रयत्न करती हैं। तात्पर्य यह है कि स्वेच्छाचारी, विषयासक्त व्यक्तियोंको स्वर्गादि सुखमें प्रवर्तित न करनेपर वे धर्म, कर्मादि आचरणसे विमुख हो जाएँगे एवं और भी अधिक स्वेच्छाचारी हो जाएँगे। कर्मकाण्डी श्रुतियाँ कृपापरवश होकर उन लोगोंके लिए कर्ममार्गका उपदेश देकर उन्हें कर्ममार्गमें प्रवृत्त किया करती हैं। इस प्रकार शास्त्रोंके उपदिष्ट कर्ममार्गमें जब याग, यज्ञ इत्यादि करते-करते उन लोगोंको भी अवश्य ही किसी महत्पुरुष अर्थात् भक्तका सङ्ग होगा और वे कर्मके दुःखमय फलको जानकर अन्तमें महत्कृपासे भक्तिपथका आश्रयकर धन्य हो जाएँगे। इसलिए परम करुणामय ऐसे श्रुति-शास्त्रोंकी निन्दा करना अपराधजनक है।

हठात् भक्तिसाधकोंका यह अपराध होनेपर भाग्यवशतः वह अपराधी यदि ज्ञान-कर्मकाण्डीय श्रुतियोंके यथार्थ तात्पर्यविद् किसी महत्पुरुषका सङ्ग प्राप्त करता है और उनकी कृपासे उन श्रुतियोंके यथार्थ उद्देश्यसे अवगत होता है, और जिस मुखसे उसने श्रुतियोंकी निन्दा की है, उसी मुखसे उन सब श्रुतियोंकी प्रशंसा करे एवं उन श्रुतियोंके आश्रयमें जो लोग कर्म, ज्ञानादिका अनुष्ठान करनेमें निरत हैं, उनका पुनः-पुनः अभिनन्दन करे और उच्च स्वरसे नामसंकीर्त्तन करे, तब वह इन अपराधोंसे विमुक्त हो सकता है।

श्रील ग्रन्थकार महोदयने दस प्रकारके नामापराधोंमेंसे साधुनिन्दा, श्रीविष्णुसे शिवके नामादिका स्वतन्त्र मनन करना, गुरुदेवकी अवज्ञा एवं श्रुति-शात्रोंकी निन्दा—इन चार प्रकारके अपराधोंके विषयमें स्वयं

विशद रूपसे वर्णन किया है। शेष छह अपराधोंकी उत्पत्तिके कारणोंको और उनकी निवृत्तियोंका उपाय इसी प्रकार समझना चाहिए। अतएव हम लोग श्रीग्रन्थकार महोदयकी प्रदर्शित रीतिके अनुसार अन्यान्य अपराधोंके उदय और उनको दूर करनेके उपायोंका वर्णन कर रहे हैं।

नामकी महिमामें अर्थवाद पाँचवाँ अपराध है। शास्त्रोंमें श्रीहरिनामकी अतुलनीय महिमा दृष्टिगोचर होती है। उन महिमाओंको केवल स्तुतिमात्र, प्रशंसामात्र समझना—नामकी महिमामें अर्थवाद है। शास्त्रों और महत्पुरुषोंका कथन है कि नामकी महिमा जितनी भी कही जाए, फिर भी नाममहिमा रूपी सागरका बिन्दुमात्र भी कोई वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। शास्त्रोंमें नामकी महिमा केवल जनसाधारणको नामके प्रति रुचि उत्पादन करनेके लिए कही गई है; ऐसा समझना नाममें अर्थवाद है या प्रबल अपराध है।

यथार्थतः श्रुति–शास्त्रोंके वचनों और महाजनोंकी वाणीमें जो नामकी महिमा देखी व सुनी जाती हैं, वह नामरूपी सूर्यके लिए क्षुद्र खद्योतकी भाँति अत्यन्त क्षुद्र है। नामकी पूर्ण महिमा वर्णन करनेमें किसीका सामर्थ्य नहीं है। इसलिए जो कुछ नामकी महिमा शास्त्रोंमें लिखी गई है, उसमें अर्थवादकी कल्पना करनेका कोई भी कारण नहीं है।

नाम–महिमाको भली–भाँति जाननेवाले महत्पुरुषोंके सङ्गके अभावके कारण ही ये अपराध हुआ करते हैं। यदि ऐसे नामपरायण महत्पुरुषोंका सङ्ग हो जाए और उनके मुखसे हरिनामकी महिमाको सुना जाए, तब अपराधीका कलुषित मन शुद्ध हो जाता है। कृतापराधके लिए अनुतापके साथ ऐकान्तिक रूपमें नामप्रभुके शरणागत होकर निरन्तर नामकीर्त्तनसे अपराध क्रमशः दूर होता है।

भगवान्‌के नामोंको कल्पित माननेसे छठा अपराध होता है। मायावादी और भौतिक कर्मवादी निराकार, निःशक्तिक और नाम–रूपरहित ब्रह्मको परमतत्त्व मानते हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि ऋषियोंने अपने कार्यकी सिद्धिके लिए 'राम–कृष्ण' आदि नामोंकी कल्पना की हैं—वे अपराधी हैं। हरिनाम काल्पनिक नहीं; वरन् नित्य

और चिन्मय वस्तु हैं—भक्तिके द्वारा चित्-इन्द्रियोंपर आविर्भूत मात्र होते हैं। सद्गुरु और वेदशास्त्र यही शिक्षा देते हैं। अतः हरिनामको परम सत्य मानना चाहिए। उन्हें कल्पित समझनेसे कभी भी नामप्रभुकी कृपा नहीं पाई जा सकती है।

नामके बलपर पापाचरण यह सातवाँ अपराध है। नामसंकीर्त्तनसे समस्त प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ और अनर्थ दूर हो जाते हैं। किन्तु जो लोग नामके बलपर पापकार्योंका पुनः-पुनः अनुष्ठान करते हैं, हरिनाम करनेपर भी उनकी विघ्न-बाधाएँ दूर नहीं होती हैं और भयङ्कर अपराध हो जाता है। हरिनाम शुद्ध सत्त्वमय हैं। श्रद्धाके साथ नामकीर्त्तन करनेसे हृदय-दौर्बल्यरूपी सभी विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं, तब पापकार्यमें मति नहीं होती, वरन् उनकी पापवासना अविद्या तक दूर हो जाती हैं। संस्कारवशतः भक्तोंका यदि कोई पाप भी हो जाता है, तो उसके लिए प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती। उनके हृदयमें विराजमान श्रीहरि उसे दूर कर देते हैं। यदि कोई ऐसा समझे कि हरिनाम करनेसे सब पाप दूर हो जाते हैं, "मैं पाप करूँगा, इसमें कोई हानि नहीं है। हरिनाम करूँगा, जिससे पाप दूर हो जाएँगे।" इस प्रकार नामके बलपर पुनः-पुनः पाप होनेसे वह नामापराध हो जाता है। यदि अपराधी व्यक्ति इस प्रकार सोचे, "हाय! हाय! मैं कितना महापराधी हूँ, जिस नामके द्वारा भगवान्की साक्षात् सेवा या प्रेम अनायास प्राप्त हो सकता है, मैंने उस महाशक्तिशाली चिन्मय हरिनामको घृणा और पापके लिए ही नियुक्त किया। हाय! हाय! कोटि-कोटि नरक भोगसे भी मेरा निस्तार नहीं है।" इस प्रकार अनुतापके साथ गभीर दुःख करते हुए नित्य वैष्णव वन्दना और वैष्णवकी सेवा सहित निरन्तर हरिनाम-संकीर्त्तनसे अपराध दूर हो जाता है।

धर्म, व्रत, यज्ञादि अन्य शुभक्रियाओंको नामके समान समझना आठवाँ अपराध है। नाम और नामीमें कोई भी भेद नहीं है, हमारे गोस्वामियोंने ऐसा कहा है और श्रुति-स्मृति आदि समस्त शास्त्रोंमें ऐसा उल्लेख है। नाम श्रीहरिके अक्षरात्मक अवतार हैं। इसलिए वे प्राकृत इन्द्रियोंसे ग्रहणीय नहीं हैं—वे स्वप्रकाश हैं। श्रीहरिनाम-ग्रहणमें उन्मुख

होनेपर ही वे स्वयं साधकोंकी रसनापर प्रकाशित होते हैं। ऐसे सर्वशक्तिमान, स्वयंप्रकाश श्रीहरिनामको याग, यज्ञादि शुभक्रियाओंके साथ समान समझनेपर भीषण नामापराध होता है। यह हरिनामके सम्बन्धमें प्रमाद है। असत्सङ्गको त्यागकर नामपरायण महत्पुरुषोंके साथ नामकी महिमा विश्वास पूर्वक श्रवण करनेसे अनुतप्त होकर नामके शरणागत होनेपर निरन्तर नामकीर्त्तनसे यह अपराध दूर हो जाता है।

अश्रद्धालुओंको नामोपदेश करना—नवम अपराध है। श्रद्धावान व्यक्ति ही नामग्रहणका अधिकारी है। श्रद्धाहीन व्यक्तिको नाम प्रदान करनेसे वह अवज्ञा करेगा। कृष्णनाम ही समस्त जीवोंके सर्वस्व धन हैं, ऐसे नामको श्रद्धाहीन विषय-विष्ठाभोगी शूकरको देनेसे वह उस अमूल्य रत्नका आदर नहीं करेगा, बल्कि अवज्ञापूर्वक उसे त्याग देगा। इस अपराधसे वह स्वयं मरेगा और नामोपदेश करनेवाले गुरुको भी अपराधी बनाएगा। जो लोग किसी व्यक्ति विशेषको सुनानेके लिए नहीं, किन्तु उच्च स्वरसे नामकीर्त्तन किया करते हैं, श्रद्धालु और अश्रद्धालु सभी लोग उसे श्रवण करते हैं। यहाँ उन लोगोंके लिए ये बातें नहीं कही गई हैं। व्यक्ति विशेषके प्रति श्रीनामका उपदेश देनेवालेके प्रति ही यह सब बातें कही गई हैं। इसलिए श्रद्धारहित लोगोंको नामोपदेश करना कदापि उचित नहीं। पहले शिष्यके हृदयमें श्रद्धा उदितकर तब उसे नामका उपदेश दिया जाए। ऐसा अपराध होनेपर अनुताप करते हुए श्रीहरिनामके शरणापन्न होकर नामसंकीर्त्तनके द्वारा यह अपराध दूर हो सकता है।

नामका माहात्म्य श्रवण करके भी श्रीनामके प्रति प्रीति नहीं होना, दसवाँ अपराध है। जो नामकी महिमा श्रवण करके भी इस नश्वर शरीरके प्रति 'मैं' और उससे सम्बन्धित वस्तुओंमें 'मेरा' अभिमानवाले व्यक्ति विषय भोगोंमें प्रमत्त रहनेके कारण हरिनामका आदर नहीं करते, वे अपराधी हैं। क्योंकि वे इसके द्वारा नामकी अवज्ञा ही करते हैं। ऐसा अपराध हो जानेपर सत्सङ्गमें साधुओंकी सेवासे और अनुताप करते हुए हरिनाम-संकीर्त्तन करनेसे भगवन्नाममें प्रीति उत्पन्न होती है और अपराध भी दूर हो जाता है।

भक्तिसे उत्पन्न अनर्थ

अथ भक्त्युत्थास्ते च मूलशाखात उपशाखा इव भक्त्यैव धनादि-लाभपूजाप्रतिष्ठाद्याः स्ववृत्तिभिः साधकचित्तमप्युपरज्य स्ववृद्ध्या मूलशाखामिव भक्तिमपि कुण्ठयितुं प्रभवन्तीति।

भावानुवाद—तदनन्तर भक्तिसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंकी बात बतलाई जा रही है। ये अनर्थ भक्तिकी मूलशाखासे उपशाखाकी भाँति उत्पन्न होकर भक्तिके द्वारा धन प्राप्ति, पूजा, प्रतिष्ठा इत्यादिकी वासना उत्पन्नकर अपनी समस्त वृत्तियोंसे साधकके चित्तको उपरञ्जित करके अपनी-अपनी वृद्धिसे भक्तिरूपा मूलशाखाको भी कुण्ठित करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—माधुर्य-कादम्बिनीकी इस तृतीयामृत-वृष्टिके प्रारम्भमें ही ग्रन्थकारने अनर्थोंका विस्तृत रूपसे वर्णन किया है। वे अनर्थ चार प्रकारके हैं, (१) दुष्कृतिसे उत्पन्न, (२) सुकृतिसे उत्पन्न, (३) अपराधसे उत्पन्न, और (४) भक्तिसे उत्पन्न। ग्रन्थकार इन चारोंमेंसे प्रथम तीन अनर्थोंका वर्णनकर अब यहाँ भक्त्युत्थ अनर्थके सम्बन्धमें बतला रहे हैं। यह अनर्थ भक्ति या भजनसे उत्पन्न होता है, इसलिए इसका नाम 'भक्त्युत्थ अनर्थ' है। जो लोग श्रीहरिका भजन करते हैं, स्वभावतः सभी लोग उनके प्रति अनुरक्त हुआ करते हैं। इसलिए भजनकालमें स्वाभाविक रूपमें साधकोंके निकट धन-सम्पत्ति, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि उपस्थित होते हैं। परन्तु साधकोंके भजनकी उन्नति या प्रेम प्राप्तिके पथमें ये सब प्रचण्ड विघ्न-बाधाएँ हैं। प्रेम प्राप्तिके इच्छुक साधकोंको सावधानीपूर्वक इस प्रकारकी कामनाओंसे अपनी रक्षाकर दीनतापूर्वक निष्किञ्चन रूपसे भजनपथपर अग्रसर होना चाहिए। लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदिकी कामनासे यदि एक बार हृदय उपरञ्जित हो जाता है, तब भजन-साधन करनेपर भी फलस्वरूप ये अनर्थसमूह ही बढ़ जाते हैं, इसलिए भक्त्युत्थ अनर्थ लाभ, पूजा, प्रतिष्ठाको मूल भक्तिकल्प लताकी उपशाखाके समान कहा गया है। उपशाखा या परगाछा जैसे मूल वृक्षसे उत्पन्न

होकर सिञ्चित जल एवं वृक्षके रससे स्वयं परिपुष्ट होकर मूल वृक्षको बढ़नेसे स्तम्भित कर देते हैं और अन्तमें मूल वृक्षको ही सुखा देते हैं, उसी प्रकार भक्त्युत्थ अनर्थ धन, यश, प्रतिष्ठा आदि अपनी वृत्तिके द्वारा साधकोंके चित्तको उपरञ्जितकर मूल भक्तिकल्पलताको स्तम्भित कर देते हैं। श्रीमन्महाप्रभुजीने श्रीरूप-शिक्षा (चै. च. म. १९/१५८-१६१) में कहा है—

किन्तु यदि लतार सङ्गे उठे 'उपशाखा'।
भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छा, जत असंख्य तार लेखा॥
'निषिद्धाचार', 'कुटिनाटी', 'जीवहिंसन'।
'लाभ', 'पूजा', 'प्रतिष्ठादि' जत उपशाखागण॥
सेकजल पाञा उपशाखा बाढ़ि' जाय।
स्तब्ध हञा मूलशाखा बाढ़िते ना पाय॥
प्रथमेइ उपशाखार करये छेदन।
तबे मूलशाखा बाढ़ि' जाय वृन्दावन॥

श्रीमन्महाप्रभुने यहाँ भुक्ति-मुक्ति वाञ्छा, निषिद्धाचार, कुटीनाटी, जीवहिंसा, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदिको उपशाखा कहा है। श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णकी भक्तिके अतिरिक्त अन्य कामनाएँ ही कृष्णके नित्यदास जीवके लिए कपटता है। ये सभी जीवकी दुर्वासनाएँ हैं। इनमेंसे कोई एक भी हृदयमें उदित होनेपर और भी नाना प्रकारकी दुर्वासनाएँ चित्तमें आश्रय करती हैं और चित्तको दुर्वासनामय बना देती हैं। ऐसी दशामें भक्तिकी वासना भी हृदयसे दूर हो जाती है। भोग वासना, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदिकी वासनाएँ हृदयमें रहनेपर साधक इनकी प्राप्तिके लिए मिथ्याभाषण, कटूक्ति, औद्धत्य, परहिंसा, परद्रव्य अपहरण आदि लोकशास्त्रोंमें भी निन्दनीय, निषिद्धाचाररूप दुराचारोंको किया करता है। बाहरसे तिलक, माला और यन्त्रकी भाँति श्रवण, कीर्त्तन आदि चलता तो रहता है, किन्तु उसका दुराचार लोगोंकी दृष्टिमें पड़ न जाए या भक्तसमाजमें उसे निन्दित न होना पड़े, इसलिए बाहरसे दैन्यभाव दिखलाता हुआ, छिपकर दुराचार आदि विविध कपटतामें लिप्त हो जाता है। अन्तमें चित्त उस कपटतासे

इतना भर उठता है कि हृदयमें भजनकी आकांक्षाका लेश भी नहीं रहता। इसलिए श्रीमन्महाप्रभुने सर्वप्रथम इन उपशाखाओंको काट देनेके लिए उपदेश दिया है। भुक्ति-मुक्ति आदिकी इच्छाओंका छेदन करनेपर भी प्रतिष्ठाकी वासनाको दूर करना बड़ा भारी कठिन है। श्रील सनातन गोस्वामिपादने हरिभक्तिविलासके उपसंहारमें लिखा है—

सर्वत्यागेऽप्यहेयायाः सर्वानर्थभुवश्च ते।
कुर्याः प्रतिष्ठाविष्ठाया यत्नमस्पर्शने वरम्॥

अर्थात् सब कुछ त्याग करनेपर भी समस्त अनर्थोंके मूल प्रतिष्ठाको त्याग करना बड़ा भारी कठिन है। इसलिए साधक प्रतिष्ठारूपी विष्ठासे बचनेके लिए विशेष सतर्कताका अवलम्बन करेंगे। यह प्रतिष्ठाकी आशा हृदयमें स्थान पानेपर, प्रतिष्ठाका प्रिय सहगामी मात्सर्य भी उसके चित्तका आश्रय पा लेता है। क्योंकि वे परस्पर दाम्पत्य भावसे विराजमान रहते हैं। मात्सर्य ही चण्डाल है, उस चण्डालरूप पितासे और प्रतिष्ठाकी आशारूप पिशाचीके गर्भसे हिंसा और ईर्ष्या दोनों ही यमज सन्तान एक साथ पैदा होते हैं। इन सबके ताण्डव नृत्यसे हृदयकी सारी सद्वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। और फिर उस अपवित्र चित्तमें भक्तिकी वासनाका स्थान कैसे हो सकता है? इसलिए साधक अमानी-मानद होकर यत्नपूर्वक प्रतिष्ठाकी आशाको सदैवके लिए त्याग कर दें।

पाँच प्रकारकी अनर्थनिवृत्ति

तेषां चतुर्णाम् अनर्थानां निवृत्तिरपि पञ्चविधा। एकदेशवर्त्तिनी बहुदेशवर्त्तिनी प्रायिकी पूर्णा आत्यन्तिकी चेति। तत्र "ग्रामो दग्धः पटो भग्न" इति न्यायेनापराधोत्थानामनर्थानां निवृत्तिर्भजनक्रियानन्तरमेकदेशवर्त्तिनी निष्ठायामुत्पन्नायां बहुलदेशवर्त्तिनी रतावुत्पद्यमानायां प्रायिकी प्रेम्नि पूर्णा श्रीभगवत्पदप्राप्तावात्यन्तिकी।

भावानुवाद—इन चार प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्ति भी पाँच प्रकारसे होती है—एकदेशवर्त्तिनी, बहुदेशवर्त्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा और आत्यन्तिकी।

इसमेंसे "ग्रामो दग्धः पटो भग्नः" इस न्यायके अनुसार अपराधोत्थ अनर्थोंकी निवृत्ति भजनक्रियाके बादमें एकदेशवर्त्तिनी होती है। निष्ठा उत्पन्न होनेपर बहुदेशवर्त्तिनी होती है। श्रीभगवान्के प्रति रति उत्पन्न होनेपर प्रायिकी होती है, प्रेम-सूर्यके उदय होनेपर पूर्णा और भगवत्-पादपद्मकी प्राप्ति होनेपर आत्यन्तिकी अनर्थनिवृत्ति हुआ करती है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रद्धासे आरम्भकर प्रेम प्राप्ति तक भक्तिसाधनके कतिपय जिन स्तरोंका उल्लेख किया गया है, उनमें अनर्थनिवृत्तिके स्तरसे चार प्रकारके अनर्थोंका विचार और उनके निवृत्तिकी बात कही जा रही है। ये चारों अनर्थ इस स्तरपर सहसा विनष्ट हो जाते हैं, ऐसा नहीं, उनके दूर होनेमें भी पाँच प्रकारके क्रम हैं। वे हैं एकदेशवर्त्तिनी, बहुदेशवर्त्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा और आत्यन्तिकी।

(१) एकदेशवर्त्तिनी—अल्प परिमाणमें अनर्थोंकी जो निवृत्ति होती है, जैसे एक रुपयेमें दो-चार आना भरकी कमी होना, 'एकदेशवर्त्तिनी-निवृत्ति' कहलाती है।

(२) बहुदेशवर्त्तिनी—बहुत परिमाणमें अनर्थोंकी जो आंशिक निवृत्ति होती है, जैसे रुपयेमें बारह आने भरकी कमी होना, 'बहुदेशवर्त्तिनी-निवृत्ति' कही गई है।

(३) प्रायिकी—जब प्रायः सब अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है थोड़ी मात्रामें अवशिष्ट रहती है, जैसे रुपयेमें दो पैसा भर, तब उसे 'प्रायिकी अनर्थनिवृत्ति' कहा जाता है।

(४) पूर्णा—जब सम्पूर्ण रूपसे रुपयेमें रुपया या शत-प्रतिशत अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं, कुछ भी अंश उसका बाकी नहीं रहता तब वह 'पूर्णा अनर्थनिवृत्ति' कही जाती है।

(५) आत्यन्तिकी—पूर्णा-निवृत्तिमें सम्पूर्ण रूपसे अनर्थ दूर हो जानेपर भी अनर्थोंके उद्गमकी पुनः सम्भावना बनी रहती है, अर्थात् वे फिर कभी किसी कारणसे उदित हो सकते हैं। अतः जिस अवस्थामें अनर्थनिवृत्तिमें फिर कभी अनर्थोंके उद्गमकी सम्भावना भी नहीं रहती, उसे आत्यन्तिक निवृत्ति कहते हैं। भगवत्-प्राप्तिमें ही आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

ग्रन्थकार श्रीचक्रवर्ती ठाकुरजीने कहा है, "ग्रामो दग्धः पटो भग्नः" अर्थात् जैसे कोई कहे, "ग्राममें आग लग गई या कपड़ा फट गया" तो इन वचनोंसे कुछ अंशके जल जानेका ही परिचय मिलता है। कपड़ेके फटनेसे भी दो भागमें या अनेक टुकड़ोंमें समझा जा सकता है। ग्राम या कपड़ेका यहाँ पूर्ण अभाव अभिप्रेत नहीं है। उसी प्रकार अपराधोत्थ अनर्थोंकी निवृत्ति भजनक्रिया (जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है) के बाद क्रमशः होने लगती है, किन्तु वह एकदेशवर्त्तिनी-निवृत्ति होती है, पूर्णा नहीं। इसी तरह जब साधकोंमें निष्ठा उत्पन्न हो जाती है, तब उनके अनर्थोंकी बहुदेशवर्त्तिनी-निवृत्ति हो जाती है। रति या भावके उत्पन्न होनेपर अनर्थोंकी प्रायिकी-निवृत्ति हो जाती है। जब रति या भाव गाढ़ अवस्थाको प्राप्तकर प्रेम नामको धारण करता है, उस प्रेमप्राप्त भक्तकी पूर्ण रूपसे अनर्थनिवृत्ति हो जाती है। जब प्रेमपूर्वक भक्ति करते-करते भक्तिकी कृपासे साधक भगवान्के चरणोंकी सेवा प्राप्त कर लेता है, तब फिर उसमें अनर्थोंके पैदा होनेकी तनिक भी सम्भावना नहीं रहती है। तब उस अवस्थामें उसके अनर्थोंकी आत्यन्तिकी-निवृत्ति हो जाती है।

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जातरति या जातप्रेम साधकोंके हृदयमें क्या अपराध उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है? श्रीभक्ति-रसामृतसिन्धुमें कहा गया है—

भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः।
आभासताञ्च शनकैर्न्यूनजातीयतामपि॥
(भ. र. सि. १/३/५४)

अर्थात् श्रीकृष्णके परम प्रिय भक्तोंके प्रति अपराध होनेपर जातरति साधकोंके भावका भी अभाव हो जाता है। रति आभासके रूपमें परिणत हो जाती है और क्रमशः उत्कृष्ट सख्य, वात्सल्य जातीय रति, दास्य इत्यादि रतिमें परिणत हो जाती है। द्विविद नामक एक बन्दर श्रीरामचन्द्रजीके पार्षद थे, किन्तु श्रीलक्ष्मणके चरणोंमें अपराध होनेके कारण अनेकानेक कष्टोंको भोगनेके पश्चात् द्वापरके अन्तमें

श्रीबलदेवजीके हाथोंसे वे मारे गए। इन सब प्रमाणोंसे महत् चरणोंमें अपराधके गुरुत्वकी उपलब्धि हुआ करती है। जातरति और जातप्रेम साधकोंमें भी महत् अपराध उत्पन्न होना कुछ असम्भव नहीं है। प्रेमीभक्त जब श्रीभगवान्‌की पूर्ण कृपा प्राप्तकर साक्षात् भगवान्‌का दर्शन और उनकी सेवाको प्राप्त किया करते हैं, तभी अपराधोत्थ अनर्थोंकी आत्यन्तिकी-निवृत्ति हुआ करती है। पुनः अपराध होनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

चित्रकेतु महाराजका अपराध वास्तवमें अपराध नहीं है तथा जय-विजयने स्वेच्छापूर्वक प्रतिकूल भाव अङ्गीकार किया है

यस्तु तत्रापि चित्रकेतौ कादाचित्को महदपराधः स प्रातीतिक एव न वास्तवः। सत्यां प्रेमसम्पत्तौ पार्षदत्ववृत्रत्वयोर्वैशिष्ट्याभावसिद्धान्तात्। जयविजयोस्त्वपराधकारणं प्रेमविजृम्भिता स्वेच्छैव। सा च 'हे प्रभुवर देवादिदेव नारायण अन्यत्राल्पबलत्वात् अस्मासु तु प्रातिकूल्याभावात् यदि तत्र भवतो युयुत्सा न सम्पद्यते तदा आवामेव केनापि प्रकारेण प्रतिकूलीकृत्य तद् युद्धसुखमनुभूयतामित्यावयोः स्वतः परिपूर्णतायाम् अनुमात्रमपि न्यूनत्वमसहमानयोः किङ्करयोः प्रार्थनाहठः स्वभक्तवात्सल्यगुणमपि लघुकृत्य निष्पाद्यताम्' इत्याकारा कादाचित्कप्रसङ्गभवा मानसा मनसैव जेया।

भावानुवाद—भगवत्-प्राप्तिके बाद भी महाराज चित्रकेतुके विषयमें जो महदपराधकी बात सुनी जाती है, वह वास्तविक नहीं है, प्रातीतिकमात्र है। क्योंकि उस महत् अपराधके कारण वृत्रासुरकी योनि प्राप्त करनेके बाद भी उसमें प्रेमाभक्ति विद्यमान रहनेसे उसके पार्षदत्व तथा वृत्रत्वके वैशिट्यका अभाव ही सिद्ध होता है। जय-विजयके अपराधका कारण भी तो उनके प्रेमसे परिवर्धित अपनी इच्छा ही थी। और वह थी—"हे प्रभो! देवादिदेव नारायण! आपकी युद्धकी इच्छाको पूर्ण कर सके ऐसा कोई भी बलवान व्यक्ति अन्यत्र नहीं दीखता और हममें यदि ऐसा बल है, तो हम आपके प्रतिकूल हो ही नहीं सकते। अतः किसी प्रकार हमें ही अपना प्रतिकूल-विरोधी

बनाकर आप युद्धके सुखका अनुभव करें। आपकी स्वतःपूर्णतामें बिन्दुमात्र भी ह्रास हो, यह बात हम लोग सहन नहीं कर सकते। अतः आप अपने भक्तवात्सल्य गुणको आच्छादितकर हमारी प्रार्थनाको पूर्ण करें, क्योंकि हम आपके दास हैं। यदि किसी समय प्रसङ्गवश इस प्रकारका मानसिक वासनामय अपराध मनमें जाग उठे, तो विचारपरायण बुद्धि वृत्तिके द्वारा मानसिक भावको जीतकर उसे दबा देना चाहिए।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—भगवत्प्राप्तिके पश्चात् अपराधोत्थ अनर्थकी आत्यन्तिकी-निवृत्ति हुआ करती है, अर्थात् उसके पश्चात् महदपराध होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती। यहाँ प्रश्न हो सकता है, ऐसा होनेसे चित्रकेतु महाराजकी भगवत्प्राप्ति होनेपर भी उनकी श्रीमन्महादेवके प्रति अपराधकी प्रवृत्ति कैसे जाएगी? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रील ग्रन्थकार कहते हैं—चित्रकेतु महाराजके महदपराधकी जो बात सुनी जाती है, वह वास्तविक नहीं है, उसकी प्रतीतिमात्र है। अर्थात् वह महदपराधकी भाँति प्रतीत होनेपर भी यथार्थमें महदपराध नहीं है। क्योंकि महदपराधके फलसे भक्ति विलुप्त हो जाती है अथवा वह कम हो जाती है, ऐसा कहा गया है। चित्रकेतु महाराज पार्वतीके द्वारा अभिशप्त होने तथा असुरत्वको प्राप्त करनेपर भी, उनकी भक्ति अविकृत रही, अतएव उनका यथार्थमें महदपराध नहीं हुआ, क्योंकि "फलेन फलकारणमनुमीयते" फलसे ही फलके कारणका अनुमान होता है।

श्रीमद्भागवतके षष्ठ स्कन्धके चौदहवें अध्यायसे सत्रहवें अध्याय पर्यन्त चित्रकेतु महाराजजीका चरित्र वर्णन किया गया है। महाराज चित्रकेतु शूरसेन देशके चक्रवर्ती सम्राट थे। अतुल राजैश्वर्य होनेपर भी उनको कोई पुत्र न होनेके कारण वे बहुत ही दुःखी रहते थे। पुत्र प्राप्त करनेके लिए महाराज चित्रकेतुने एक करोड़ रमणियोंका पाणि ग्रहण किया था। तथापि उनको एक भी सन्तान प्राप्त नहीं हुई।

एक समय महर्षि अङ्गिरा भगवत्-इच्छासे उनके राजभवनमें उपस्थित हुए। राजा अपनी मनोव्यथाकी बात कहकर पुत्र प्राप्तिके

लिए पुनः-पुनः प्रार्थना करने लगे। महर्षि अङ्गिराने राजाकी प्रार्थनासे यज्ञके लिए चरु पाककर यज्ञका अवशेष चरु पट्टमहिषी कृतद्युतिको खिलाया, जिससे राजाके लिए हर्ष-शोक प्रदायक पुत्र हो—ऐसा कहकर ऋषि वहाँसे चले गए। चरुके खानेसे रानीको गर्भ हुआ और यथासमयपर अत्यन्त सुन्दर एक पुत्र उनके गर्भसे पैदा हुआ। पुत्र शशिकलाकी भाँति बढ़ने लगा। और महाराज चित्रकेतु स्वभावतः ही सन्तानवती महारानी कृतद्युतिके प्रति अत्यन्त अनुरक्त हो गए। यह देखकर ईर्ष्या-द्वेषसे कातर होकर अन्यान्य महिषियोंने उसके पुत्रको विष देकर मार डाला। ऋषिने पहले ही कहा था, तुम्हें सुख और दुःख देनेवाला पुत्र प्राप्त होगा। पुत्रकी मृत्युकी बात सुनकर महाराज चित्रकेतु अत्यन्त दुःखी हुए। उसी समय परम करुणामय श्रीनारदजी और अङ्गिरा ऋषिने आकर उन्हें बहुत उपदेश और सान्त्वना दी, परन्तु महाराजको उसे धारण करना कठिन हो गया। अन्तमें ऋषियोंने पुत्रकी जीवात्माको बुलाकर उसके द्वारा राजाको इस संसारकी असारता और पति-पुत्र, माता-पिताके सम्बन्धोंकी असत्यताका उपदेश देकर शान्त किया। राजा संसारसे विरक्त होकर श्रीनारदजीके उपदेशानुसार भजनमें प्रवृत्त हुए और उन्हें भगवान् श्रीसङ्कर्षणका साक्षात्कार प्राप्त हुआ। श्रीभगवान्‌ने प्रसन्न होकर उन्हें धर्म एवं ज्ञानके तत्त्वका उपदेश दिया। तत्पश्चात् राजा विद्याधरोंके अधिपतिके रूपमें दिव्य विमानपर चढ़कर स्वच्छन्द रूपसे सुमेरु पर्वतकी घाटियोंमें विचरण करने लगे।

एक दिन उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीशङ्कर पार्वतीजीको अपनी गोदमें बैठाकर एक हाथसे उनका आलिङ्गन करते हुए बड़े-बड़े मुनि और सिद्ध-चारणोंकी सभामें विराजमान थे। राजा चित्रकेतु समीप पहुँचकर भगवती पार्वतीको सुना-सुनाकर जोरसे हँसने लगे और कहने लगे, "समस्त जगतके धर्म शिक्षक एवं गुरु श्रीमहादेवजीकी ऐसी दशा! इस विद्वत् सभामें अपनी स्त्रीको गोदमें बिठाए हुए हैं? इतनी निर्लज्जता!"

भगवान् श्रीशङ्कर तो जानते थे कि चित्रकेतु भगवान्‌के परम प्रिय भक्त हैं, उनके दास हैं। वे कुछ नहीं बोले, केवल मुस्कुराकर रह

गए। परन्तु पार्वतीजीसे चित्रकेतुका यह व्यवहार, यह उपहास और निरादर सहन नहीं हो सका। उन्होंने झट अभिशाप दे दिया कि "तुमको पापमय असुर योनि प्राप्त हो, जिससे कि तुम कभी भी महापुरुषोंके प्रति अपमान न कर सको।"

राजा चित्रकेतु तनिक भी दुःखित नहीं हुए और पार्वतीजीको प्रसन्न करनेके लिए स्तव-स्तुति की एवं शाप सिरपर धारण किया और प्रणामकर वहाँसे चले गए। उनमें उसकी कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं हुई। यदि वे चाहते तो अभिशाप दे सकते थे, क्योंकि उनमें ऐसी सामर्थ्य थी, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

देवीके अभिशापसे चित्रकेतु अभिशप्त होकर त्वष्टा ऋषिके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुए और वृत्रासुरके नामसे प्रसिद्ध हुए। उनका शरीर अति विशाल और भयानक था। समस्त देवता उनसे त्रस्त हो उठे। देवताओंसे महान युद्ध हुआ, दधीचि ऋषिकी अस्थियोंसे वज्र बनाकर इन्द्र उन्हें मारनेके लिए आए। ऐरावत हाथीपर चढ़कर इन्द्र इनसे युद्ध करनेके लिए सामने उपस्थित हुए। युद्धमें वह वज्र जिससे वृत्रासुरका वध होना श्रीभगवान्‌ने बताया था, इन्द्रके हाथसे गिर गया और वृत्रासुरने उठा लिया, परन्तु इतनी धर्मपरायणता कि अपने हाथोंसे वज्रको उठाकर इन्द्रको फिरसे दे दिया और बोले, तुम इससे मुझे मारो, क्योंकि मुझे कालसे भी भय नहीं है। श्रीश्यामसुन्दर भगवान् मेरे सामने हैं, उनका दर्शन करते-करते मैं इस असुर शरीरको छोड़ देनेमें ही अपना सौभाग्य समझता हूँ। भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वे प्रार्थना करने लगे—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतरा क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

ममोत्तमःश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽत्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥
(श्रीमद्भा. ६/११/२४-२७)

प्रभो! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिए कि अनन्य भावसे आपके श्रीचरणकमलोंमें आश्रित सेवकोंकी सेवा करनेका मुझे जन्मजन्मान्तरमें भी अवसर प्राप्त हो। हे प्राणवल्लभ! मेरा मन आपके मङ्गलमय गुणोंका स्मरण करता रहे और मेरी वाणी उन्हींका गान करती रहे एवं शरीर आपकी सेवामें संलग्न रहे।

हे सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका राज्य, रसातलका एकछत्र राज्य, योग सिद्धियाँ, यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।

जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बच्चे अपनी माँका दूध पीनेके लिए आतुर रहते हैं, जैसे वियोगिनी पत्नी अपने परदेशी प्रियतमसे मिलनेके लिए ललायित रहती है, वैसे ही, हे कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनोंके लिए छटपटा रहा है।

प्रभो! मैं मुक्ति नहीं चाहता, मेरे कर्मके फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्यके चक्करमें भटकना पड़े, इसकी चिन्ता नहीं, किन्तु मैं जहाँपर भी जाऊँ, जिस-तिस योनिमें जन्म ग्रहण करूँ, वहाँ भगवान्‌के प्यारे भक्तजनोंसे मेरा प्रेममय मैत्रीभाव बना रहे। स्वामी! मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ कभी भी किसी प्रकारसे मेरा सम्बन्ध न हो।

इस प्रकार उस असुर-योनिमें भी चित्रकेतु (वृत्रासुर) को केवल भगवान्‌की निरन्तर स्मृति ही नहीं बनी रही, अपितु उन्हें भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन भी प्राप्त होता रहा। उन्हें भगवान्‌की पूर्ण प्राप्ति असुर-अवस्थामें भी बनी रही।

श्रीजीव गोस्वामीने प्रीतिसन्दर्भके ७२ अनुछेदमें इन चारों श्लोकोंको उद्धृतकर अन्तमें यह सिद्धान्त किया है कि "तदेतच्छुद्धप्रेमोद्‌गारमयत्वेनैव

श्रीमद्वृत्तवधोऽसौ विलक्षणत्वाच्छ्री-भागवल्लक्षणेषु पुराणान्तरेषु गण्यते, वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते इति।”

अर्थात् वृत्रासुरके इन वचनोंसे भगवान्के प्रति विशुद्ध प्रेम प्रकट हुआ है। और इसीलिए वृत्रासुरके वध वृत्तान्तको श्रीमद्भागवतका एक विशेष प्रसङ्ग माना गया है। इसलिए दूसरे पुराणोंमें श्रीमद्भागवतके लक्षणोंमें यह एक अन्यतम लक्षण माना गया है। मत्स्यपुराणमें भी कहा गया है—वृत्रासुर वध प्रसङ्गयुक्त ग्रन्थ श्रीमद्भागवतके नामसे कथित है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके तृतीयस्कन्धके पंचम अध्यायमें श्रीवैकुण्ठ पार्षद जय-विजयके प्रति श्रीसनकादि मुनियोंके अभिशापका प्रसङ्ग भी वर्णन हुआ है। वह जय-विजयके महदपराधकी भाँति लक्षित होनेपर भी यथार्थमें उसका कारण भगवान्की सेवाके द्वारा ही उनको प्रसन्न करनेकी जय-विजयकी कामना ही थी। जय-विजय वैकुण्ठके द्वारपर प्रहरी बनकर चिन्ता कर रहे थे कि श्रीवैकुण्ठनाथकी सेवाकर सभी उनको सुख प्रदान किया करते हैं। परन्तु सर्वशक्तिमान श्रीनारायणको कोई भी युद्धका रसास्वादन नहीं करा सकते। श्रीनारायणके समान विश्वमें कोई भी योद्धा नहीं है। हमारेमें प्रचुर शक्ति तो है, किन्तु हम लोगोंमें प्रतिकूल भावना नहीं होनेके कारण हम उनको युद्धरसका आस्वादन नहीं करा सकते। शत्रु भावके बिना युद्धका रसास्वादन करानेका कोई उपाय नहीं है।

इसलिए श्रीनारायणके निकट प्रार्थना करने लगे कि—हे प्रभो! आपको युद्ध-रसास्वादन हो, ऐसी हमारी ऐकान्तिक रूपमें वासना है। क्योंकि आप स्वतःपूर्ण हैं, हम लोग आपके किसी भी अभावको सह्य नहीं कर सकते। सभी भक्तलोग आपके अनुकूल भावसे ही सेवा करते हैं। युद्ध रसास्वादन करानेकी इच्छा किसीकी भी नहीं होती। हे प्रभो! हम प्रार्थना करते हैं कि आप कृपाकर हमें प्रतिकूल भाव प्रदान करें, जिससे हमलोग आपको युद्धरसका आस्वादन पूर्ण करा सकें। भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीनारायण उनकी वासनापूर्तिके लिए सनकादि मुनियोंको अन्तरमें प्रेरणा देकर वैकुण्ठ ले आए और उनकी प्रेरणासे ही जय-विजयने मुनियोंको वैकुण्ठमें प्रवेश करनेपर रोक दिया था,

फलस्वरूप उन लोगोंने उनको अभिशाप प्रदानकर असुरयोनि प्राप्त करनेके लिए अभिशाप दे दिया। इस प्रकार वे श्रीनारायणको युद्धरस आस्वादन कराकर अपनेको धन्य समझते हैं।

यदि किसी साधकके हृदयमें श्रीचित्रकेतु अथवा जय-विजयकी भाँति प्रतिकूल भावसे सेवा करनेकी प्रवृत्ति उदित हो, तब साधक उस अपराधमय मानस भावको अपनी बुद्धि द्वारा दूर करेंगे। अर्थात् पार्षदोंकी लोकातीत क्रियाओंका अनुकरण करना साधकके लिए कभी भी उचित नहीं है।

दुष्कृतोत्थ, भक्त्योत्थ अनर्थ निवृत्तिका क्रम

तथा दुष्कृतोत्थानां भजनक्रियानन्तरमेव प्रायिकी निष्ठायां जातायां पूर्णा आसक्तावेवात्यन्तिकी। तथा भक्त्युत्थानां भजनक्रियानन्तरमेकदेशवर्त्तिनी निष्ठायां पूर्णा रुचावात्यन्तिकीति अनुभविना बहुदृश्वना सम्यग् विविच्यानुमन्तव्यम् ॥४॥

भावानुवाद—इस प्रकार दुष्कृतोत्थ अनर्थोंकी जो निवृत्ति भजनक्रियाके बाद होती है, वह 'प्रायिकी' होती है और निष्ठा उत्पन्न होनेपर जो निवृत्ति होती है वह 'पूर्णा' होती है। आसक्ति होनेपर उनकी 'आत्यन्तिकी' निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार भक्तिजात अनर्थोंकी भजनक्रियाके बाद जो अनर्थनिवृत्ति होती है, वह 'एकदेशवर्त्तिनी' है। निष्ठाके उत्पन्न होनेपर 'पूर्णा' और रुचिके उत्पन्न होनेपर 'आत्यन्तिकी' निवृत्ति है। यह निर्णय बहुदर्शी अनुभवपरायण साधकोंने भली प्रकारसे विवेचनाकर निश्चित किया है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—अनर्थनिवृत्तिके पाँच प्रकारके क्रमोंका उल्लेखकर और सर्वाधिक प्रबल विघ्न अपराधोत्थ अनर्थकी निवृत्तिका क्रम उल्लेखकर, यहाँपर दूसरे अनर्थोंकी निवृत्ति-क्रमका निरूपण कर रहे हैं। दुष्कृतिजात अनर्थ अर्थात् जड़ीय विषयमें आसक्ति, द्वेष, अभिनिवेश आदिसे उत्पन्न अनर्थोंकी भजनक्रियाके तुरन्त बाद 'प्रायिकी' अर्थात् प्रायः सभी दूर हो जाया करते हैं। निष्ठाके उत्पन्न

होनेपर वह 'पूर्णा' अर्थात् सम्पूर्ण निवृत्त हो जाते हैं। आसक्तिके स्तरपर उनकी 'आत्यन्तिकी' निवृत्ति हो जाती है तथा पुनः और अनर्थ उत्पन्न होनेकी कोई सम्भावना नहीं होती। ग्रन्थकार महोदयने सुकृतिजात अनर्थोंकी निवृत्तिका क्रम पृथक् रूपसे उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि अविद्याका पञ्चपर्व दुःखमय विषयमें अभिनिवेश दुष्कृतिजात अनर्थ है एवं भोगानिवेश सुकृतिजात अनर्थ है। श्रीहरिमें आसक्ति उत्पन्न होनेपर जड़ीय दुःख-सुख आदिमें अभिनिवेश पैदा होनेकी और कोई सम्भावना नहीं रहती है। इसीलिए दुष्कृतिजात अनर्थोंकी निवृत्तिके अनुरूप ही सुकृतिजात अनर्थोंकी निवृत्तिका भी क्रम समझना चाहिए।

तदनन्तर भक्त्युत्थ अनर्थ और लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि रूप अनर्थकी निवृत्तिका क्रम निर्देश कर रहे हैं। भक्तिक्रियाके पश्चात् भक्त्युत्थ अनर्थोंकी एकदेशवर्त्तिनी अर्थात् थोड़ी-थोड़ी निवृत्ति होती है। क्योंकि भजनक्रियासे यह उत्पन्न होती है। निष्ठा उत्पन्न होनेपर पूर्णा, रुचि उत्पन्न होनेपर आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। अर्थात् भजनमें रुचि होनेसे लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि आकांक्षाएँ स्वभावतः दूर हो जाती हैं। बहुदर्शी अनुभवी पुरुषोंने विवेचनके द्वारा ऐसा निर्णय किया है।

तात्पर्य यह है कि भजनक्रियासे पूर्व किसी भी प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्ति नहीं होती। भजनक्रियाके आरम्भ होनेपर उनमें दृढ़ता आनेसे क्रमशः सब प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्तियाँ आरम्भ हो जाती हैं। भजनमें शिथिलता आनेपर अनर्थ प्रबल हो जाते हैं, यहाँ तक कि भजन करनेकी इच्छाका भी लोप हो जाता है। अतः भजनक्रिया जो श्रद्धा एवं साधुसङ्गके सेवनके बाद प्राप्त होती है, उसमें प्रवृत्त होना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना अनर्थोंकी निवृत्ति असम्भव है। और जब तक अनर्थोंकी निवृत्ति नहीं होती, तब तक भगवत्-प्राप्तिकी बात सोचना भी व्यर्थ है।

चतुर्विध अनर्थनिवृत्तिका क्रम

साधनभजनकी विभिन्न अवस्थाएँ	सुकृतोत्थ / दुष्कृतोत्थ अनर्थ	भक्त्युत्थ अनर्थ	अपराधोत्थ अनर्थ
भजनक्रिया	प्रायिकी	एकदेशवर्त्तिनी	एकदेशवर्त्तिनी
निष्ठा	पूर्णा	पूर्णा	बहुदेशवर्त्तिनी
रुचि	पूर्णा	आत्यन्तिकी	बहुदेशवर्त्तिनी
आसक्ति	आत्यन्तिकी	—	बहुदेशवर्त्तिनी
भाव / रति	—	—	प्रायिकी
प्रेम	—	—	पूर्णा
भगवत्पद प्राप्ति	—	—	आत्यन्तिकी

नामापराधीके प्रति अप्रसन्न श्रीनामप्रभु द्वारा अपनी शक्ति गोपन करना

ननु ''अंहःसंहरदखिलं सकृदुदयादेव'' इति ''यन्नामसकृच्छ्रवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्'' इत्यादि प्रमाणशतादजामिलाद्युपाख्यानेष्वेकस्यैव नामाभासस्याविद्यापर्यन्तसर्वानर्थनिवृत्तिपूर्वकभगवत्प्रापकत्वानुभवाद्भगवद्भक्तानां दुरितादिनिवृत्तावुक्तः क्रमो न सङ्गच्छते। सत्यम्। नाम्न एतावत्येव शक्ति नात्र सन्देहः। परन्तु सापराधिष्वप्रसन्नेन तेन यत् स्वशक्तिः सम्यक् न प्रकाश्यते तदेव दुष्टतादीनां जीवातुरित्यवगन्तव्यम्। किन्तु यमदूतानां तदाक्रमणे न शक्तिः। ''न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्तीत्यादेः।'' ''न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः'' इत्यत्र यमेर्योगाङ्गैरिति व्याख्येयम्।

भावानुवाद—"नामरूपी सूर्यके एक बार उदित होनेपर समस्त पापरूप अन्धकार नष्ट हो जाते हैं" तथा "श्रीभगवान्‌के नामका एक बार भी श्रवण करनेसे दुराचारी चण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है" इत्यादि सैंकड़ों प्रमाण शास्त्रोंमें विद्यमान हैं। और अजामिलके उपाख्यानसे यह स्पष्ट है कि एक नामाभाससे ही अविद्या पर्यन्त सब प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्तिके साथ-साथ श्रीभगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, तब भगवद्भक्तोंकी अनर्थोंकी निवृत्तिके बारेमें जो क्रम कहा गया है वह सङ्गत नहीं दीखता। श्रीचक्रवर्तिपाद कहते हैं—यह कहना सत्य है, नाममें ऐसी ही शक्ति है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। परन्तु अपने अपराधियोंके प्रति अप्रसन्नताके कारण नामप्रभु अपनी शक्तिको सम्यक् रूपसे प्रकाश नहीं करते। बस, यही अनर्थोंकी निवृत्ति न होनेका कारण है, ऐसा समझना चाहिए। किन्तु यमदूतोंमें भी नामापराधियोंपर आक्रमण करनेकी शक्ति नहीं है। जैसा कि कहा गया है कि "ऐसे व्यक्ति यमका तथा उसके पाशधारी दूतोंका स्वप्नमें भी दर्शन नहीं करते।" "नामापराधी व्यक्तिकी शुद्धि यमसे भी नहीं होती"—शास्त्रके वचनोंमें 'यम' शब्दसे योगशास्त्रके यम, नियम इत्यादिको समझना चाहिए।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्ती ठाकुर नाममहिमा सम्बन्धी अन्यान्य शास्त्रवचनोंके साथ अनर्थनिवृत्तिके पाँच प्रकारके क्रमसे सामञ्जस्य विधान कर रहे हैं। श्रीपद्यावलीमें यह देखा जाता है—

अंहःसंहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

"जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हरिनाम एक बार उच्चारित होनेसे ही जीवमात्रके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देते हैं। ऐसे जगन्मङ्गल हरिनाम की जय हो।" पुनः श्रीमद्भागवतमें भी श्रीचित्रकेतुने भगवान् अनन्तकी स्तुति करते हुए कहा है—

न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः।
यन्मासकृच्छ्रवणात् पुल्कशोऽपि विम्युचते संसारात्॥
(श्रीमद्भा. ६/१६/४४)

"हे भगवान्! आपके दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके अखिल पाप नष्ट हो जाते हैं। यह बात असम्भव नहीं है, क्योंकि आपका नाम एक बार सुननेमात्रसे ही नीच चाण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है।" इस प्रकार हरिनामकी महिमा वर्णन करनेवाले सैंकड़ों प्रमाण शास्त्रोंमें मिलते हैं। और अजामिलके चरित्रसे भी यह स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है कि पुत्रका नाम 'नारायण' उच्चारण करनेसे अर्थात् नामाभाससे ही उसके समस्त पाप नष्ट हो गए। पापोंकी मूल अविद्या भी नष्ट हो गई और वह भगवान्को प्राप्त हो गया। इसलिए जो श्रद्धालु भक्त सद्गुरुके निकट नियमके अनुसार दीक्षा ग्रहणकर हरिनामकीर्त्तन कर रहे हैं, उनकी अनर्थनिवृत्तिके सम्बन्धमें एकदेशवर्त्तिनी, बहुदेशवर्त्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा, आत्यन्तिकी इत्यादि क्रम कैसे सङ्गत हो सकता है? श्रील ग्रन्थकार महाशय इस प्रश्नको उठाकर स्वयं इसका समाधान कर रहे हैं।

शास्त्रोंमें श्रीनाम महिमाके सम्बन्धमें जो कुछ वर्णन किया गया है वह सम्पूर्ण सत्य है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। श्रीनामकी अनन्त महिमाके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें बहुत थोड़े रूपमें ही वर्णन किया गया है। इसलिए शास्त्रोंके वचनोंमें सन्देह करनेका कोई भी कारण नहीं है। सन्देह होनेपर ही नाममें अर्थवाद अथवा अर्थान्तर कल्पनारूप भीषण नामापराध होगा। निरपराधी व्यक्ति नामाभासके द्वारा ही निखिल पापोंका नाश करते हैं और तत्पश्चात् उन्हें वैकुण्ठ प्राप्ति होती है। "निरपराधानान्तु भगवत्प्राप्तौ नास्ति विलम्बस्तेषां हि भगवन्नामग्रहणं वैकुण्ठारोहणञ्चोति द्वे एव भूमिके—यथा अजामिलादीनाम्।" अर्थात् निरपराधी व्यक्तियोंको भगवत्-प्राप्तिमें कुछ भी विलम्ब नहीं होता। उनको श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजनक्रिया इत्यादि स्तरोंको पार नहीं करना पड़ता। उनके लिए केवल दो ही सोपान होते हैं—नाम ग्रहण और वैकुण्ठ आरोहण। उसका दृष्टान्त अजामिल आदि हैं। अजामिलने बहुतसे पाप किए थे, किन्तु वह अपराधी नहीं था।

दुराचारी अजामिल निरन्तर स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त रहनेके कारण साधुनिन्दा आदि अपराध करनेका कोई अवसर प्राप्त नहीं कर सका। इसलिए उसके निरपराध चित्तमें भगवन्नामकी शक्ति प्रकाशित होनेमें कोई बाधा नहीं हुई। दूसरी ओर नाम सर्वशक्तिमान होकर भी अपराधी व्यक्तियोंके प्रति अप्रसन्नतावशतः अपनी शक्तिका प्रकाश नहीं करते। जहाँ श्रीनाम अपनी शक्तिका प्रकाश नहीं करते, वहाँपर नामकी महिमाके सम्बन्धमें तनिक भी शङ्का नहीं करनी चाहिए। वहाँ अपराधी व्यक्तिकी दुष्टता और उसके अनर्थोंके अस्तित्वको ही उसका कारण समझना चाहिए।

यहाँ और भी एक विशेष बात ग्रन्थकार कहते हैं कि नामापराध रहते हुए भी नाम ग्रहण करनेवाले व्यक्तिपर यम या यमदूतोंका कोई भी शासन या दण्ड नहीं रहता। जब तक नामापराधीकी अनर्थनिवृत्ति नहीं होती, तब तक नामके मुख्य फल प्रेमकी प्राप्ति भी नहीं होती अथवा भगवान्‌की प्राप्ति भी नहीं होती, परन्तु वह यम-यातनासे मुक्त हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्‌गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥
(श्रीमद्भा. ६/१/१९)

अर्थात् "जिन्होंने अपने भगवत्-गुणानुरागी मन मधुकरको भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणारविन्दके मकरन्दका एक बार पान करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित्त कर लिए। वे स्वप्नमें भी यमराज और उनके पाशधारी दूतोंको नहीं देखते, फिर नरककी तो बात ही क्या है?" श्रील ग्रन्थकार कह रहे हैं कि पद्मपुराणमें वर्णित दश नामापराधोंका जहाँ वर्णन आया है, वहाँ "नाम्नोबलात् यस्य ही पापबुद्धि र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः" अर्थात् नामके बलपर जिन लोगोंमें पापाचरणकी प्रवृत्ति देखी जाती है या जो पापाचरण करता है, उसकी अनेक काल तक यमसे भी शुद्धि नहीं होती। नामापराधी व्यक्ति जो यमदण्डका भोग करते हैं, इस वचनके द्वारा इसका प्रमाण पाया जाता है। इसलिए पहले निर्णय किए गए सिद्धान्तोंकी सङ्गति कैसे होगी? इसका

समाधान श्रील ग्रन्थकार कह रहे हैं, नामापराध सम्बन्धी उल्लिखित श्लोकमें जो 'यम' शब्द आया है, उसे योगाङ्गके अन्तर्भुक्त यम, नियम आदिको समझना चाहिए। अर्थात् अधिक समय तक यम, नियम आदिके द्वारा उनकी शुद्धि भी नहीं होती। श्रीनामके निकट अपराध श्रीनामकी ही प्रसन्नतासे दूर हो सकता है। यम, नियम आदि साधनोंके द्वारा वह कैसे नष्ट हो सकता है? इसी अभिप्रायसे वैसा कहा गया है। यहाँपर यम महाराजजीको लक्ष्य करके 'यम' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है।

नामकी कृपासे सभी प्रकारके अनर्थोंका नाश

यथा समर्थेन परमाढ्येनापि स्वामिना कृतापराधः स्वजनो यदि न पाल्यते किन्तु तत्रोदास्यते तदैव दुःखदारिद्र्यमालिन्यशोकादयः क्रमेण लब्धावसरा भवन्ति न त्वन्यदीया जनाः केऽपि कदापीति ज्ञेयम्। तथा च पुनः स्वस्वामिनो मनोभिरोचिन्यामनुवृत्तौ सत्यां शनैस्तत्प्रसादाद्दुःखदारिद्र्यादयः शनैरपयान्ति। तथा भगवद्भक्तशास्त्रगुरुप्रभृतिभिरमायया मुहुः सेवितैः शनैरेव तस्य नाम्नः प्रसादे दुरितादीनामपि शनैरेव नाश इति नास्ति विवादः। न च मम कोऽपि नास्ति नामापराध इति वक्तव्यं फलेनैव फलकारणस्यापराधस्य प्राचीनस्यार्वाचीनस्य वा अनुमानात्। फलञ्च बहुनामकीर्त्तनेऽपि प्रेमलिङ्गानुदय इति। यदुक्तम् (श्रीमद्भा. २/३/२४)—

"तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्‌गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्ष॥" इति

भावानुवाद—जिस प्रकार कोई निग्रह और अनुग्रह करनेमें समर्थ परम धनाढ्य स्वामी यदि अपने प्रति किसी अपराधी स्वजनका पालन नहीं करता और उसके प्रति उदासीन रहता है, तो उसकी उदासीनताके कारण उस अपराधीको दुःख-दारिद्र, मलिनता, शोक आदि क्रमशः घेर लेते हैं। परन्तु वह स्वामी किसी दूसरे अनात्मीय जनका पालन नहीं करता। यदि फिर वही अपराधी व्यक्ति अपने स्वामीके मनके अनुकूल आचरण करता है और उसको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है, तो स्वामीके सन्तुष्ट होनेपर उसके

दुःख-दारिद्र आदि क्रमशः दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार नामापराधी व्यक्ति जब भगवद्भक्त, शास्त्र एवं गुरु आदिकी निष्कपट होकर सेवा करता है, तब क्रमशः नामकी ही कृपासे उसके अपराधरूपी अनर्थोंका क्रमशः विनाश होने लगता है, इसमें कोई भी विवाद नहीं है। यदि कोई इस प्रकार कहे कि मेरा नामापराध नहीं है, तो यह कहना होगा कि फलको देखकर ही उसके कारणका अनुमान होता है। वह आधुनिक हो या प्राचीन, नामापराधका अनुमान हो जाता है। उसका फल यह है कि अनेक नामसंकीर्त्तन करनेपर भी प्रेमके लक्षण उदित नहीं होते। जैसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमानैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥
(श्रीमद्भा. २/३/२४)

अर्थात् हरिनामके ग्रहण करनेपर भी जिस व्यक्तिके नेत्रोंसे अश्रु, शरीरमें रोमाञ्चादि सात्त्विक विकार उत्पन्न नहीं होते, उनका हृदय वज्रके समान कठोर है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—यह पहले ही कहा गया है कि अपराध कहनेसे 'राध' अर्थात् सन्तोष दूर हो जाता है, इसीका नाम अपराध है। अपराधी व्यक्तियोंके प्रति नामका सन्तोष या उनकी प्रसन्नता दूर हो जाती है। इसलिए उसको नामका फल प्राप्त होते हुए नहीं देखा जाता। श्रील ग्रन्थकार महोदय इस विषयको सहज रूपमें समझानेके लिए एक दृष्टान्त दे रहे हैं। अपराधी सेवकके प्रति जैसे उसका स्वामी समर्थ होते हुए भी उससे उदासीन रहता है, उसका पालन-पोषण नहीं करता और वह सेवक दुःखी हो जाता है। उसी प्रकार नामापराधी व्यक्तिके प्रति श्रीनाम भी उदासीन हो जाते हैं। अपनी कृपा या महान शक्तिका उसके प्रति प्रकाश नहीं करते और उसके फलस्वरूप नामापराधीको नाना प्रकारके अनर्थ घेरे रहते हैं। उस अपराधी व्यक्तिके दुःख-दारिद्रका दर्शनकर ऐसा समझना उचित नहीं है कि धनाढ्य व्यक्तिमें अपने उस आत्मीय स्वजन या सेवकको

पालन करनेकी शक्ति नहीं है। सामर्थ्य युक्त होकर भी धनाढ्य व्यक्ति असन्तुष्ट होकर उसके पालन करनेकी इच्छा नहीं करता, किन्तु तब भी वह व्यक्ति धनाढ्य व्यक्तिका पाल्य है, क्योंकि वह आत्मीय स्वजन है। उसे छोड़कर वह धनाढ्य व्यक्ति किसी भी अनात्मीय जनका पालन नहीं करता। यदि किसी कारणवश अपराधी व्यक्ति अपने अपराधको समझकर अपने स्वामीके मनोभावको जानकर उसके अनुरूप सेवा करता है अथवा उसको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है, तो स्वभावतः दयालु स्वामी सन्तुष्ट होकर क्रमशः उसके दुःख–दारिद्र इत्यादिको दूर करते हैं।

इसी प्रकार अनुग्रह करनेमें परम समर्थ श्रीहरिनाम अपने आश्रित अर्थात् भक्तिपथका आश्रय ग्रहणकर नामकीर्त्तन आदि भजनकारी मनुष्योंको प्रेमदानकर निरन्तर पालन किया करते हैं। किन्तु नामाश्रित व्यक्ति उनके प्रति यदि अपराध करते हैं, तब अपराधीके प्रति सन्तुष्ट न रहनेके कारण वे उसका पालन नहीं करते अर्थात् उसके भजनका फल प्रेम नहीं देते। इसलिए किसीको ऐसा नहीं समझना चाहिए कि श्रीहरिनाममें भजनका फल देनेका सामर्थ्य नहीं है। भजनका फल नहीं पानेपर भी वे श्रीनामप्रभुके पाल्य ही हैं। आश्रितजनोंको छोड़कर श्रीहरिनाम अनाश्रितोंको अर्थात् जो भजन नहीं करते, उनका पालन–पोषण नहीं करते। यदि अपराधी व्यक्ति अपनी त्रुटि या भूल समझकर जिसके प्रति उसका अपराध है, उस भक्त, शास्त्र या गुरुकी निष्कपट रूपमें पुनः–पुनः सेवा करता है, उनको प्रसन्न करनेके लिए चेष्टा करता है। तब श्रीनामप्रभु पुनः क्रमशः उसके प्रति प्रसन्न होकर उसके नामापराध आदिका नाश कर देते हैं तथा प्रेम फल प्रदान करते हैं। इस विषयमें किसी प्रकारके मतभेदकी कोई आशङ्का नहीं है। "साधुसङ्गवशात् सर्वनामापराधक्षये तु भक्तिदेवी–सम्यक्–प्रसादेन नामफलप्राप्तिरेव निर्विवादा।" (श्रीमद्भा. ६/२/९–१० श्लोककी सारार्थदर्शिणी टीका) अर्थात् साधुसङ्गमें हरिकथाके द्वारा सब प्रकारके नामापराध क्षय हो जाते हैं और तब भक्तिदेवीकी पूर्ण कृपा प्राप्त होती है और उससे नामका फल प्रेम प्राप्त हुआ जाता है। इस विषयमें किसी प्रकारका कोई विवाद नहीं है।

फिर भी यदि कोई यह कहते हैं कि मेरा कोई भी अपराध नहीं है, फिर भी मैं नामका फल क्यों नहीं अनुभव कर रहा हूँ? इसके उत्तरमें कहते हैं, फलके द्वारा ही फलका कारण अनुमान किया जाता है। अपराधके बिना दूसरी कोई भी विघ्न-बाधा महाशक्तिशाली हरिनामके फलको प्राप्त होनेमें बाधा नहीं दे सकती। इसलिए नामका फल अनुभव न करनेपर यह समझना चाहिए कि मुझसे अवश्य ही कुछ अपराध हो गया है। इस विषयमें किसी प्रकारका सन्देह करना उचित नहीं है। यदि नामका फल अनुभव न किया जा सके और यदि जान-बूझकर कोई अपराध न हुआ हो, तो ऐसी दशामें यह समझना चाहिए कि मुझसे अवश्य ही कोई अज्ञात अपराध हो गया है। इसलिए श्रीनामप्रभु मुझपर प्रसन्न नहीं हैं। बहुत नामसंकीर्त्तन करनेपर भी यदि प्रेमका चिह्न या सात्त्विक विकार आदि प्रकाशित नहीं हो रहे हैं, तो समझना चाहिए कि नामका फल प्राप्त नहीं हो रहा है। श्रीमद्भागवत (२/३/२४) में देखा जाता है—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

"वह हृदय नहीं लोहा है जो भगवान्‌के मङ्गलमय नामोंका श्रवण-कीर्त्तन करनेपर भी पिघल नहीं जाता। जिस समय हृदय पिघलता है, उस समय नेत्रोंसे अश्रु छलकने लगते हैं और शरीरका रोमरोम खिल उठता है।" इस श्लोककी सारार्थदर्शिनी टीकामें श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने जो लिखा है, उसका तात्पर्य यह है कि बार-बार हरिनाम करनेपर भी जिसके हृदयमें भक्तिका विकार नहीं होता, वह लोहेके समान अत्यन्त कठिन है। अर्थात् बाहरमें नेत्रोंसे अश्रुधारा और शरीरमें रोमाञ्च इत्यादि भाव उदित नहीं हो रहे हैं, बार-बार नामसंकीर्त्तनसे भी चित्त द्रवित नहीं होता—ये सब नामापराधके ही चिह्न हैं। पुनः केवल अश्रु-पुलकादि भी चित्तके द्रवित होनेके लक्षण नहीं भी हो सकते हैं, क्योंकि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें ऐसा कहा गया है—स्वभावतः पिच्छिलचित्तवाले व्यक्ति एवं जो अश्रु-पुलकादि प्रकाश करनेके लिए अभ्यास करते हैं, उनके सत्त्वाभासके बिना भी

अश्रु-पुलकादि देखे जाते हैं। पक्षान्तरमें अत्यन्त गम्भीर स्वभाववाले महानुभावका चित्त हरिनाम ग्रहणसे द्रवित होनेपर भी उनके अङ्गोंमें सहसा बाहरमें अश्रु-पुलकादि देखा नहीं जाता। इसलिए इस श्लोककी व्याख्या इस रूपसे होगी—जब बाहरमें अश्रु-पुलकादि विकार देखा जाए, उस समय यदि हृदय द्रवित नहीं होता हो तो वह हृदय लोहेके समान कठिन है।

भक्तिभावके द्वारा हृदय द्रवित होनेपर बहिर्क्रियाके स्वरूप अश्रु-पुलकादि उदित होनेपर उसे सात्त्विक विकार कहते हैं। हृदय विकारका ऐसा साधारण लक्षण होनेपर भी कुछ असाधारण लक्षण भी हैं—क्षान्ति, अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, नामगानमें सदा रुचि, भगवत्-गुणकीर्त्तनमें आसक्ति और वृन्दावनादि भगवत्-धामोंमें वास करनेमें प्रीति। हृदय-द्रवित होनेके ये नौ यथार्थ लक्षण हैं। निरापराधी भक्तजन नामसंकीर्त्तन करनेसे ही अपने हृदयमें नामका प्रभाव अनुभव करते हैं और नामके आस्वादनमें विभोर हो जाते हैं। उस अनुभवके कार्यस्वरूप हृदय द्रवित हो जाता है, जिससे उक्त लक्षण प्रकटित होते हैं। किन्तु जो अपराधी, परश्रीकातर (दूसरोंके सम्पन्न होनेपर ईर्ष्यालु) होते हैं, वे बहुत नाम करनेपर भी नामकी अप्रसन्नतासे उनका चित्त भक्तिभावसे द्रवित नहीं होता। बाहरसे अश्रु-पुलकादि देखे जानेपर भी हृदय लोहेके समान कठिन होनेके कारण, इस श्लोकमें उनकी निन्दा की गई है। साधुसङ्गके प्रभावसे निरन्तर नाम ग्रहण करनेसे चित्त द्रवित होनेपर उनके हृदयका काठिन्य दूर हो सकता है।

क्या नामापराधी व्यक्तिका गुरुधारण करना व्यर्थ है?

तथाहि नामापराधप्रसङ्ग एव—(भ. र. सि.)

"के तेऽपराधा विपेन्द्र नाम्नो भगवतः कृताः।
विनिघ्नन्ति नृणां कृत्यं प्राकृतं ह्यानयन्ति हि॥" इति।

तदीयगुणनामादीनि सद्यः प्रेमप्रदान्यपि श्रुतानि कीर्त्तितानि च तत्तीर्थादिकं सद्यः सिद्धिदमपि चिरात् सेवितं तन्निवेदितानि घृतदुग्धताम्बूलादीनि सद्यः सर्वेन्द्रियतरङ्गनिवर्त्तकानि मुहुरास्वाद्य उपयुक्तान्येव स्वतः परमचिन्मयान्यप्येतानि

यस्मात् प्राकृतानीव भवन्ति तेऽपराधाः के भगवन्नाम्न इति सोत्कम्पसविस्मयः प्रश्नः। नन्वेवं सति नामापराधवतो जनस्य भगवद्वैमुख्यस्यैवौचित्यात् तदुक्तं गुरुपादाश्रयभजनक्रियादिकमपि न सम्भवेत्। सत्यम्। प्रवर्त्तमाने महाज्वर इव ओदनादेररोचकत्वादेवानुपादानामिव नामापराधस्य गाढ़त्वे सति तत्र पुंसि श्रवणकीर्त्तादिभजनक्रियाया अवकाश एव न स्यादित्यत्र कः सन्देहः। किन्तु ज्वरस्य मृदुत्वे चिरन्तनत्वे ओदनादेरपि किञ्चिद्रोचकत्वमिव। बहुदिनतो भोगेनापराधस्य क्षीणवेगत्वे मृदुत्वे च भगवद्भक्तौ किञ्चिन्मात्ररुचिः स्यादिति पुंसः प्रसज्जति भक्त्यधिकारः। ततश्च यथा पौष्टिकान्यपि दुग्धौदनादीनि जीर्णज्वरवन्तं पुमांसं न पुष्यन्ति किञ्चित् पुष्यन्ति च किन्तु ग्लानिकार्श्ये न निवर्त्तयितुं शक्नुवन्ति कालेनौषधपथ्ययोः सेवितयोः शक्नुवन्ति च। तथैव तादृशस्य भक्त्यधिकारिणः श्रवणकीर्त्तनादीनि कालेनैव क्रमेणैव सकलं प्रकाशयन्तीति साधूक्तमादौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठेत्यादि।

भावानुवाद—नामापराधके प्रसङ्गमें श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! श्रीभगवान्‌के नामके प्रति कौनसे अपराध हैं, जिनका आचरण करनेसे मनुष्योंकी सब सुकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं और अप्राकृत वस्तुओंमें भी प्राकृत होनेका भाव ला देते हैं? और श्रीभगवान्‌के गुण, नामादि तत्काल प्रेमप्रदाता होकर भी अनेक काल पर्यन्त श्रवण और कीर्त्तन करनेसे भी जिन अपराधोंके कारण वे अपना फल प्रदान नहीं कर पाते, वे कौन-से हैं? और भगवत्-सम्बन्धी तीर्थादि सदा सिद्धिप्रद होकर भी अनेक समय तक सेवन किए जानेपर भी सिद्धि क्यों प्रदान नहीं कर पाते? तथा भगवान्‌को निवेदित किए जानेपर भी घी, दूध, ताम्बूलादि तत्काल सब इन्द्रियोंकी विषय-वासनारूप तरङ्गोंको नष्ट करनेवाले और बार-बार आस्वादन करनेपर चिन्मय होते हुए भी प्राकृत वस्तुकी भाँति क्यों प्रतीत होते हैं? श्रीभगवन्नामके प्रति जिन गुरुतर अपराधोंके कारण ये सब अपना-अपना फल प्रदान नहीं करते, वे अपराध कौनसे हैं? अत्यन्त भयभीत होकर और कौतूहलके साथ प्रश्न किया गया है।

यदि ऐसा ही है तो नामापराधी व्यक्तिको भगवान्से विमुख ही मानना उचित है। फिर उसके लिए तो गुरुपदाश्रय और भजनक्रिया आदि जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, उनका आचरण करना सम्भव नहीं हो सकता? ग्रन्थकार कहते हैं, यह ठीक है; किन्तु प्रबल ज्वर होनेपर भोजनमें अरुचि होनेके कारण जैसे अन्न आदिके ग्रहणकी सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार नामापराधोंकी प्रबलता होनेपर उस व्यक्तिमें श्रवण-कीर्त्तनादि भजनक्रियाका अवसर नहीं रहता। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। किन्तु जब ज्वर उतर जाता है, उसका वेग भी क्षीण हो जाता है, तब जैसे अन्नादि भोजन करनेपर कुछ-कुछ रुचिकर होने लगता है।

उसी प्रकार अनेक दिन तक भोग करनेपर नामापराधोंका वेग क्षीण और हल्का पड़ जाता है, तब भगवद्भक्तिमें थोड़ी-थोड़ी रुचि पैदा होने लगती है। ऐसे ही उस नामापराधी पुरुषका भक्तिमें अधिकार पैदा होना सिद्ध होता है। तदनन्तर जैसे दूध, अन्नादि पुष्टिकारक खाद्य पदार्थ भी उतरे हुए ज्वरके रोगीको अच्छी तरह पुष्ट नहीं करते, किन्तु थोड़ा-थोड़ा पुष्ट करते हैं। कुछ समय तक क्रमसे औषधि और पथ्य इत्यादिका सेवन करनेपर वे अन्नादि ग्लानि और दुर्बलताको दूर कर देते हैं। उसी प्रकार ऐसे भक्ति-अधिकारीके लिए कुछ समय तक श्रवण-कीर्त्तनादि क्रमशः सेवन करनेके बाद वे अपना फल प्रकाशित करते हैं। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि पहले श्रद्धा, साधुसङ्ग, उसके बाद भजनक्रिया, फिर अनर्थनिवृत्ति, तत्पश्चात् निष्ठा और पुनः रुचि उत्पन्न होती है, इत्यादि।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकारने यहाँ एक और शङ्का उठाई है कि भगवन्नाम-गुणादिका श्रवण और कीर्त्तन तत्काल प्रेम देनेवाला है, समस्त तीर्थ सिद्धि देनेवाले हैं तथा भगवत्-प्रसाद चिन्मय या अप्राकृत हैं—यह सब बातें शास्त्रमें कही गई हैं और इनके विषयमें असंख्य प्रमाण हैं, फिर भी अनेक समय तक भगवन्नाम-गुण श्रवण और कीर्त्तन करनेपर भी प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती, अनेक काल तक तीर्थोंमें वास करनेपर भी सिद्धि या अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती

तथा श्रीभगवान्‌को भोग लगानेपर भी उन पदार्थोंमें चिन्मयता या अप्राकृतत्वकी अनुभूति नहीं होती। ऐसे कौन-से अपराध हैं जिनके कारण मनुष्योंको इनका फल प्राप्त नहीं होता? और यदि यह बातें ठीक हैं कि अपराधोंके कारण भगवन्नाम, तीर्थवास और भगवत्-प्रसाद अपना कुछ भी फल नहीं देते, तो यह कहा जा सकता है कि फिर अपराधी मनुष्योंको श्रवण, कीर्त्तन, भजनादि करनेकी ही क्या आवश्यकता है? भक्तिके अङ्ग गुरुपदाश्रय आदिमें उसका प्रवृत्त होना भी सम्भव नहीं हो सकता है।

इस पूर्वपक्षको उठाकर श्रीलचक्रवर्तिपाद स्वयं इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि भगवन्नाम, तीर्थवास, श्रवण-कीर्त्तन, भगवत्-प्रसाद ग्रहण करना भी निष्फल नहीं होता। उनमें अपना-अपना फल देनेकी शक्ति नित्य विराजमान है। फिर भी वे अपनी शक्तियोंको किसलिए प्रकाश नहीं करते, इसके सम्बन्धमें श्रील चक्रवर्ती ठाकुर कह रहे हैं—इसके पहले कहा गया है कि निरपराध व्यक्तियोंके लिए भगवत्-प्राप्तिके केवलमात्र दो सोपान हैं—नामग्रहण और वैकुण्ठारोहण। किन्तु निरपराध व्यक्ति इस विश्वमें अति विरल हैं। अपराधसे ही इस देहकी सृष्टि हुई है। अतएव सभीके प्राक्तनी अथवा आधुनिकी अपराध कुछ कम या अधिक हैं ही। इसलिए श्रद्धासे प्रेम प्राप्तिके जो नौ सोपान कहे गए हैं, वह युक्तिसङ्गत है। श्रील ग्रन्थकार महोदय दृष्टान्तके द्वारा इस विषयको परिस्फुट कर रहे हैं।

नामापराध वर्णनके प्रसङ्गमें एक श्लोक कहा गया है—

के तेऽपराधा विप्रेन्द्र नाम्नो भगवतः कृताः।
विनिघ्नन्ति नृणां कृत्यं प्राकृतं ह्यानयन्ति हि॥

"हे विप्रश्रेष्ठ! श्रीभगवान्‌के नामके प्रति कौन-से अपराध हैं जिनके आचरणके कारण मनुष्योंकी सब सुकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं और अप्राकृत वस्तुमें प्राकृत बुद्धि हो जाती है?" श्रील ग्रन्थकार स्वयं उपरोक्त श्लोककी व्याख्या कर रहे हैं—शास्त्रोंमें देखा जाता है कि श्रीभगवान्‌के गुण, नामादि श्रवण-कीर्त्तनमात्रसे ही मनुष्य तत्क्षणात् प्रेमलाभकर धन्य हो जाते हैं। श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही देखा जाता

है, "सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्" (श्रीमद्भा. १/१/२) अर्थात् "श्रीमद्भागवतके श्रवणकी इच्छा करनेवाले पुण्यात्माओंके हृदयमें श्रीहरि तत्क्षणात् अवरुद्ध हो जाते हैं।" प्रेमके अतिरिक्त भगवान् कभी भी किसीके हृदयमें अवरुद्ध नहीं होते। इसलिए श्रीहरिके गुण-नामादि वर्णनमें श्रीमद्भागवतके श्रवणकी इच्छा करनेमात्रसे प्रेम उदयकी फलश्रुति देखी जाती है। उसी प्रकार पुराणमें श्रीवृन्दावनादि धाममें भी प्रेम प्रदानकी शक्तिका वर्णन है—"अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी। दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते॥" (पद्मपुराण) "अहो! मधुपुरी अत्यन्त धन्य है और वैकुण्ठसे भी प्रशंसनीय है, क्योंकि वहाँ एक दिन निवास करनेपर भी भगवद्भक्ति प्राप्त होती है।" इसी प्रकार भगवन्निवेदित महाप्रसादकी महिमा भी अपूर्व है। श्रीउद्धव महाशयने श्रीकृष्णसे कहा है—

त्वयोपभुक्तस्रग्-गन्ध-वासोऽलङ्कारचर्च्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥

अर्थात् "आपकी उपभुक्त माला, गन्ध, वसन या अलङ्कारके द्वारा अलंकृत होकर, आपके उच्छिष्टभोजी दास हम आपकी मायाको जय करेंगे।"

इस प्रकार प्रेमदानमें परम समर्थ भगवान्के रूप-गुण-नामादि पुनः-पुनः श्रवण और कीर्त्तन करनेपर भी, दीर्घकाल तक धाममें निवास करके भी, बहुत दिनों तक भगवन्निवेदित महाप्रसादका सेवन करके भी प्रेमलाभ करना तो दूरकी बात रहे, अपराध आदि अनर्थ ही बढ़ जाते हैं। फलस्वरूप इन चिन्मय वस्तुओंमें भी प्राकृत बुद्धि उपस्थित हो रही है। जो नामापराध भजनमें इतना बड़ा बाधक है, भयसे काँपते हुए और विस्मयके साथ प्रश्न हो रहा है, वे नामापराध कौन-कौनसे हैं? अर्थात् प्रत्येक साधकोंको ही इन नामापराधोंको अच्छी तरह जानकर अत्यन्त सावधानीके साथ इनका वर्जनकर भजन पथमें अग्रसर होना चाहिए। अपराधोंका फल जिस प्रकार भीषण है, उससे अपराधीकी भगवत्-विमुखता होनी ही उचित है।

अर्थात् अपराधियोंके लिए गुरुपदाश्रय, भजनक्रिया आदि न होना ही उचित है।

श्रील ग्रन्थकार कहते हैं ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। किन्तु प्रबल ज्वरकी स्थितिमें अन्नादि भोजन करना सम्भवपर नहीं होता, उसी प्रकार अपराधोंके प्रबल रहते समय गुरुपदाश्रय और श्रवण-कीर्त्तन आदि भजनका अवकाश नहीं रहता। किन्तु ज्वर उतर जानेपर और उसका वेग कम हो जानेपर जिस प्रकार अन्नादि कुछ-कुछ रुचिकर होने लगते हैं, उसी प्रकार अधिक समय तक अपराध भोगनेके बाद जब उसकी गति शिथिल हो जाती है, तब भजनक्रियामें कुछ-कुछ रुचि होती है। इसीलिए गुरुपदाश्रय और भजनकी क्रिया हो सकती है। पुनः ज्वर उतर जानेपर और उसका वेग कम होनेपर भी पुष्टिकर खाद्य इत्यादि उसको विशेष पुष्ट नहीं करते, थोड़े परिमाणमें ही पुष्ट करते हैं। उसी प्रकार अपराधकी गति मन्द होनेपर भी श्रीकृष्णके गुण, नामादिका आस्वादन या अनुभव विशेष रूपसे नहीं होता, कम परिमाणमें ही होता है। अधिक समय तक ज्वरके लिए उचित औषध और पथ्य इत्यादिका सेवन करते रहनेपर जिस प्रकार रोग दूर हो जाता है, उसीके अनुरूप देहकी पुष्टि साधित होती है। उसी प्रकार अपराधोंके लिए महौषधि स्वरूप श्रीनाम, श्रीगुरु, श्रीवैष्णवोंकी निष्कपट रूपसे सेवा करते-करते अपराध नाशके तारतम्यसे क्रमशः भजनकी परिपुष्टि एवं भजनरसमें आस्वादनकी चमत्कारिता जग उठती है। इसलिए श्रीभगवान्‌के गुण, नाम आदिमें तत्क्षणात् प्रेमदानमें परम सामर्थ्य रहनेपर भी साधकोंमें अपराधका अस्तित्व रहनेपर श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा आदि स्तरका वर्णन सुसङ्गत ही हुआ है।

प्रारब्ध नहीं रहनेपर भी, भक्तमें दीनता तथा उत्कण्ठाकी वृद्धि करनेके लिए भगवान् द्वारा अपने भक्तोंको दुःख प्रदान

कैश्चित्तुनामकीर्त्तनादिवतां भक्तानां प्रेमलिङ्गादर्शनेन पापप्रवृत्त्या च न केवलमपराधः कल्प्यते व्यवहारिकबहुदुःखदर्शनेन चापि प्रारब्धनाशाभावश्च।

निरपराधत्वेन निर्द्धारितस्याजामिलस्यापि स्वपुत्रनामकरणप्रतिदिन-बहुधातन्नामाह्वानसमयेष्वपि प्रेमाभावदासीसङ्गादि पापप्रवृत्तिदर्शनात्, प्रारब्धाभावेऽपि युधिष्ठिरादेर्व्यवहारिकबहुदुःखदर्शनाच्च। तस्मात् फलन्नपि वृक्षः प्रायशः काल एव फलति इतिवत् निरपराधेषु प्रसीददपि नाम स्वप्रसादं काल एव प्रकाशयेत्। पूर्वाभ्यासात् क्रियमाणा पापराशिरपि उत्खातदंष्ट्रौरगदंश इवाकिञ्चित्करा एव। रोगशोकादि दुःखमपि न प्रारब्धफलम्। "यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः। ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥" इति। "निर्धनत्वमहारोगो मदनुग्रहलक्षणम्।" इत्यादि वचनात्। स्वभक्तहितकारिणा तदीयदैन्योत्कण्ठादिवर्द्धनचतुरेण भगवतैव दुःखस्य दीयमानत्वात् कर्मफलत्वाभावेन न प्रारब्धत्वमित्याहुः॥५॥

इति माधुर्य-कादम्बिन्यां सर्वग्रहप्रशमिनी नाम तृतीयामृतवृष्टिः॥३॥

भावानुवाद—कुछ लोग भक्तोंमें प्रेमके लक्षणोंको न देखकर तथा उनकी पापोंमें प्रवृत्तिको देखकर उनमें केवल नामापराधोंकी ही कल्पना नहीं करते, अपितु उनमें व्यवहारिक अनेक दुःखोंको देखकर ऐसा मानते हैं कि इनका अभी प्रारब्ध भी नष्ट नहीं हुआ है। जिस प्रकार निरपराध रूपमें निर्धारित अजामिल द्वारा अपने पुत्रका नाम ग्रहण करनेमें तथा प्रतिदिन बार-बार उसे नाम ले-लेकर पुकारनेपर भी उसमें प्रेमका अभाव और दासीसङ्ग आदि पापोंमें भी प्रवृत्ति दीखती है और युधिष्ठिरादि पाण्डवोंमें प्रारब्धका अभाव होनेपर भी उनमें व्यवहारिक अनेक दुःखोंको देखा जाता है। इसलिए यह सिद्धान्त निरूपित होता है कि जैसे फल देनेवाला वृक्ष प्रायः समयपर ही फलता है, उसी तरह भगवन्नाम भी निरपराधियोंपर प्रसन्न होकर समयपर ही अपनी कृपा प्रकाशित करते हैं तथा भक्तोंके पूर्वाभ्यासवश किए गए पापसमूह भी विषरहित सर्पके काटनेकी तरह प्रभाव या क्रिया रहित ही होते हैं। भक्तोंमें जो रोग, शोक और दुःख दीखते हैं, वे प्रारब्धके फल नहीं होते। क्योंकि शास्त्रोंमें भगवान्ने स्वयं कहा है—"जिनपर मैं अनुग्रह करता हूँ उनकी सम्पत्ति मैं धीरे-धीरे हर लेता हूँ। दुःखसे दुःखित उस मेरे निर्धन भक्तको उसके बन्धु-बान्धव

त्याग देते हैं।" भगवान्‌ने और भी कहा है—"निर्धनतारूपी महारोग मेरी कृपाका लक्षण है।" इस प्रकारके अनेक वचन शास्त्रोंमें पाए जाते हैं। भक्तोंके हितकारी परम प्रवीण भगवान् ही अपने भक्तोंकी दीनता, उत्कण्ठा आदिकी वृद्धिके लिए उनको दुःख प्रदान करते हैं। अतएव भक्तोंमें कर्मफलका अभाव होनपर उनके समस्त दुःखादि प्रारब्धके फल नहीं होते, ऐसा तत्त्ववेत्ताओंका कहना है।

सर्वग्रहप्रशमिनी नामक तृतीयामृतवृष्टिका भावानुवाद समाप्त॥३॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—पहले यह कहा जा चुका है कि पुनः-पुनः नामकीर्त्तन आदि भजनका अनुष्ठान करनेपर भी प्रेमके लक्षणोंका उदित न होना ही अपराधके अस्तित्वका प्रमाण है। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है, यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता। किसी-किसी निरपराध व्यक्तिमें भी प्रेमके लक्षणोंका अनुदय एवं उसकी पापमें प्रवृत्ति देखी जा सकती है। जिस प्रकार अजामिलका निरपराध होना सर्वत्र निर्धारित है, अन्यथा पुत्रके लिए उच्चारित नामाभासके फलसे उसकी रक्षा करनेके लिए विष्णुदूतोंका आगमन और उसकी वैकुण्ठ प्राप्ति कभी भी सङ्गत नहीं होती। उन्होंने सन्तानके बाल्यकालसे ही उसका नाम नारायण रखा था और प्रतिदिन अनेकों बार उसे 'नारायण' नामसे पुकारा करते थे, तथापि उसमें प्रेमोदयका कोई भी लक्षण नहीं देखा गया और पुनः-पुनः दासीके सङ्गरूप पापमें उसकी प्रवृत्ति भी थी, फिर भी वह निरपराध था, पूर्वाभ्यास वश दासी-सङ्गरूप पापमें प्रवृत्ति भी उसके अपराधका चिह्न नहीं है। क्योंकि मृत्युके समय पुत्रके लिए नारायण नामका उच्चारणमात्रसे विष्णुके दूत उसकी रक्षा करनेके लिए उसके समीप आए, यही इसके लिए यथार्थ प्रमाण है। अतएव फलवान वृक्ष भी जिस प्रकार समय आनेपर ही फल देते हैं, उसी प्रकार श्रीहरि भी ऐसे निरपराध व्यक्तिके प्रति प्रसन्न होनेपर भी यथा समयपर ही उसको फल प्रदान करते हैं, ऐसा समझना होगा। अतः निरपराधी अजामिलके पूर्वाभ्यासवशतः जो पापराशि देखी गई, वह विष दन्तहीन सर्प दंशनकी भाँति अत्यन्त अकिञ्चित्कर या तुच्छ ही है, ऐसा समझना होगा।

पुनः किसी-किसी भक्तके प्रारब्धके अभावमें भी रोग, शोक तथा दरिद्रता इत्यादि नाना प्रकारके व्यवहारिक दुःख और पापमें प्रवृत्ति देखकर कोई-कोई उनमें प्रारब्ध फलकी स्थिति ही समझते हैं। किन्तु महाराज युधिष्ठिरादि पञ्चपाण्डवोंका वनवास और नाना प्रकारके क्लेश, द्यूत-क्रीड़ामें प्रवृत्ति, क्या यह सब उनके प्रारब्धके कारण हैं? वे श्रीकृष्णके परिकर हैं। उनका प्रारब्ध आदि कुछ भी नहीं है, यह कहना ही बाहुल्यमात्र है। साधनभक्तिके द्वारा प्रारब्ध नाशकी बात पहले कही गई है। महाजनोंका कहना है कि ब्रह्मानुभवी ज्ञानियोंकी जीवन-मुक्ति दशामें भी भोगके बिना उनका प्रारब्ध नष्ट नहीं होता। ऐसा जो भीषण प्रारब्ध कर्म है, यहाँ वह भक्तिके नामकीर्त्तन आदि किसी एक अङ्गके अनुष्ठानसे जीवोंके हृदयमें आविर्भूत होनेपर अनायास ही नष्ट हो जाते हैं। श्रील रूपगोस्वामिपाद श्रीनामाष्टकमें कहते हैं—

यद्ब्रह्मसाक्षात्कृतिनिष्ठयापि, विनाशमायाति विना न भोगैः।
अपैति नाम! स्फुरणेन तत्ते, प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः॥

"हे नाम भगवन्! जो प्रारब्धकर्म, भोगोंके बिना, ब्रह्मकी अविच्छिन्न तैलधारावत् की गई साक्षात्कारकी निष्ठाके द्वारा भी, विनष्ट नहीं हो पाता; वह प्रारब्धकर्म, आपकी स्फूर्तिमात्रसे ही अर्थात् भक्तोंकी जिह्वापर स्फुरण होनेमात्रसे ही दूर भाग जाता है, इस बातको वेद उच्च स्वरसे कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मविद्याके साक्षात्कारसे, सञ्चित और क्रियमाण कर्मोंका नाश तो हो जाता है, किन्तु फल देनेके लिए प्रवृत्त पाप-पुण्यरूप प्रारब्ध कर्मोंका नाश तो भोगसे ही होता है, ब्रह्मविद्यासे नहीं। किन्तु वह प्रारब्ध कर्म भी, नामोच्चारण मात्रसे विनष्ट हो जाता है।" श्रीकृष्ण स्वयं उद्धवके प्रति कहते हैं—"भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्।" अर्थात् "मन्निष्ठ भक्ति कुकुरभोजी चण्डालको भी जातिदोषसे पवित्र करती है।" जातिदोष प्रारब्धकर्म जनित होता है। "कारण नाशसे कार्य नाश" इस न्यायके अनुसार कार्य स्थानीय जातिदोषका नाश स्वीकार करनेके कारण स्थानीय प्रारब्धका नाश

स्वीकृत हुआ। पुनः नामसंकीर्त्तन इत्यादिके द्वारा प्रारब्ध जनित आधि-व्याधि इत्यादि नाशका भी पुराणोंमें वर्णन किया गया है—

आधयो व्याधयो यस्य स्मरणान्नामकीर्त्तनात्।
तदैव विलयं यान्ति तमनन्तं नमाम्यहम्॥

अर्थात् "जिनके स्मरण और नामसंकीर्त्तनसे आधि और व्याधि समूह तत्क्षण विनष्ट हो जाते हैं, मैं उन अनन्त भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ।" इसीलिए भक्तोंके प्रारब्धके अभाव रहनेपर भी भगवान् करुणाकर उनमें दैन्य, आर्ति, उत्कण्ठा आदि वृद्धिके लिए भक्तोंको व्यवहारिक रोग-शोकादि एवं दुःख-दैन्यादि प्रदान किया करते हैं। श्रीमद्भागवतमें यह देखा जाता है कि श्रीकुन्तीदेवीने श्रीकृष्णके निकट विपदके लिए ही प्रार्थना की है। इस विपत्तिके भीतर जो प्रेमसम्पद छिपा हुआ है, वह सहज ही जाना जाता है।

श्रीभगवान्‌ने स्वयं मुखसे कहा है, "मैं जिसपर अनुग्रह करता हूँ, उसका शीघ्र ही समस्त धन हरण कर लेता हूँ। धन हरण करनेपर उसके आत्मीय स्वजन उसे दुःखी जानकर उसका त्याग कर देते हैं। तभी वह निराश्रय व्यक्ति श्रीभगवान्‌के चरणोंमें सब प्रकारसे आश्रय ग्रहण करता है।" भगवान् और भी कहते हैं, "निर्धनता रूप महारोग मेरे अनुग्रहका लक्षण है।" अतः भक्तोंके कल्याणके लिए ही श्रीभगवान् स्वेच्छापूर्वक उनको दुःख, दैन्य इत्यादि प्रदान किया करते हैं। इसलिए भक्तोंमें कर्मफलके अभावके कारण इन दुःखोंको कभी भी प्रारब्धका फल नहीं कहा जा सकता।

सर्वग्रहप्रशमिनी नामक तृतीयामृतवृष्टिकी
पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त॥३॥

चतुर्थ्यमृतवृष्टिः

श्रीमद्भागवतमें वर्णित क्रमके अनुसार निष्ठिताभक्तिका वर्णन

अथ पूर्वं या अनिष्ठिता निष्ठितेति द्विविधोक्ता भजनक्रिया तस्याः प्रथमा षड्विधा लक्षिता। ततो द्वितीयामलक्षयित्वैवानर्थनिवृत्तिः प्रक्रान्ता। यदुक्तम्—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥ इति।

तत्र "शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः" इत्यनिष्ठितैव भक्तिरवगम्यते नैष्ठिकीत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। "अभद्राणि विधुनोति" इति तयोर्मध्ये एवानर्थानां निवृत्तिरुक्ता। नष्टप्रायेष्वभद्रेष्वित्यत्र तेषां कश्चन भागो नापि निवर्त्तत इत्यपि सूचित इति। अतएव क्रमप्राप्ततया निष्ठिता भक्तिरिदानीं विव्रियते॥१॥

भावानुवाद—पहले जिस अनिष्ठिता और निष्ठिता, दो प्रकारकी भजनक्रियाओंका वर्णन किया गया है, उनमेंसे पहली अर्थात् अनिष्ठिता-भजनक्रियाके छह भेद प्रदर्शित किए जा चुके हैं। तदनन्तर निष्ठिता-भजनक्रियाके लक्षणादिका निरूपण नहीं करके अनर्थनिवृत्तिकी आलोचना की गई है; क्योंकि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—"साधुओंके परम सुहृद् पुण्यश्रवणकीर्त्तन श्रीकृष्ण अपनी कथा श्रवण करनेवाले मनुष्योंके हृदयमें विराजमान होकर उनके अमङ्गलसमूहका नाश कर देते हैं। श्रीभागवतके नित्य सेवन द्वारा अमङ्गलसमूहके प्रायः नष्ट हो जानेपर उत्तमश्लोक भगवान्में उनकी नैष्ठिकी भक्तिका उदय हो जाता है।"

उक्त श्लोकके "शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः"—इस प्रथम अंशमें अनिष्ठिता भक्तिका वर्णन किया गया है; क्योंकि उसके

बादमें ही नैष्ठिकी भक्तिका वर्णन मिलता है। इन दोनों प्रकारकी भक्तियोंके बीचमें अनर्थनिवृत्तिका वर्णन किया गया है। "अमङ्गलसमूहका नाश करते हैं।" इस वाक्यसे अनर्थनिवृत्तिकी बात भी सूचित होती है। पुनः वहींपर 'नष्टप्राय अभद्र' इस वचनके द्वारा यह भी सूचित होता है कि अमङ्गलोंके किसी-किसी अशंकी निवृत्ति नहीं भी होती है। अतः श्रीमद्भागवतमें वर्णित क्रमके अनुसार यहाँपर निष्ठिता-भक्तिका वर्णन किया जा रहा है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—द्वितीयामृत-वृष्टिके पाँचवें अनुच्छेदमें भजनक्रियाके दो भेद अनिष्ठिता और निष्ठिताका वर्णन किया जा चुका है और छठे अनुच्छेदमें छह प्रकारकी अनिष्ठिता-भजनक्रियाका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। इसके पश्चात् दूसरे प्रकारकी निष्ठिता-भजनक्रियाकी लक्षण सहित कुछ भी आलोचना नहीं की गयी है, किन्तु अनर्थनिवृत्तिकी आलोचना की गई है। अनिष्ठिताके बाद निष्ठिता भजनक्रियाका वर्णन न कर अनर्थनिवृत्तिका वर्णन क्यों किया गया? इसका कारण उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार श्रीचक्रवर्तिपादने भागवतके दो श्लोकोंको उद्धृत किया है। जिसमें अनर्थनिवृत्तिके बाद ही निष्ठाका वर्णन किया गया है।

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
(श्रीमद्भा. १/२/१७-१८)

सन्तोंके नित्य सुहृत् भगवान् श्रीकृष्णके यशका श्रवण और कीर्त्तन दोनों ही पवित्र करनेवाले हैं। वे अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें विराजमान होकर उनकी समस्त अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं। श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तोंके निरन्तर सेवनसे जब हृदयकी अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब पवित्रकीर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णके प्रति नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है।

उपरोक्त दोनों श्लोकोंके प्रारम्भमें ही कहा गया है—"शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः" अर्थात् "भगवान् श्रीकृष्णके यशका श्रवण और कीर्त्तन दोनों ही पवित्र करनेवाले हैं। वे अपनी कथा सुननेवालोंके"—इस वचनसे अनिष्ठिता-भजनक्रियाकी बात की गई है, ऐसा ज्ञात होता है; क्योंकि उसके बाद "हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि" अर्थात् "हृदयमें प्रवेशकर अमङ्गलोंका नाश करते हैं," ऐसा वर्णन किया गया है। इस वाक्यके द्वारा अनर्थनिवृत्तिकी बात कही गई है। अतएव अनिष्ठिता-भजनक्रियाके पश्चात् ही अनर्थनिवृत्तिका क्रम उपलब्ध होता है। द्वितीय श्लोकके पूर्वार्द्धमें "नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया" अर्थात् "नित्य श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तोंके सेवनके फलसे अनर्थ नष्टप्राय होनेपर"—इस वाक्यसे अनर्थनिवृत्तिके स्तरमें भी कोई-कोई प्रबल अनर्थ किसी-किसी अंशमें निवृत्त नहीं होता है, ऐसा भी सूचित होता है।

अतः श्रीपाद ग्रन्थकारने जो अनर्थनिवृत्तिकी एकदेशवर्त्तिनी, बहुदेश-वर्त्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा और आत्यन्तिकी—इन पाँच प्रकारकी अवस्थाओंका वर्णन किया है, वह भी युक्तिसङ्गत ही है। अर्थात् अपराधोत्थ कोई-कोई प्रबल अनर्थ कुछ-कुछ अंशोंमें रतिके स्तर तक रह जाते हैं, ऐसा कहा गया है। श्रीमद्भागवतके वचनोंसे भी ऐसा सङ्केत मिलता है। श्रील रूपगोस्वामिपादने जो "आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्"—इस प्रकार क्रमका निरूपण किया है। इसमें उल्लिखित भजनक्रिया अनिष्ठिता अवस्था ही है; क्योंकि यहाँ भी अनर्थनिवृत्तिके बाद ही निष्ठाका वर्णन किया गया है। इसलिए अनर्थनिवृत्तिके पश्चात् ही निष्ठिता-भजनक्रियाका वर्णन सुसङ्गत है। अब यहाँ निष्ठिता भजनक्रियाका वर्णन किया जा रहा है।

निष्ठा तथा निष्ठाके लक्षण

निष्ठा नैश्चल्यमुत्पन्ना यस्या इति निष्ठिता। नैश्चल्यं भक्तेः प्रत्यहं विधित्सितमप्यनर्थदशायां लयविक्षेपाप्रतिपत्तिकषायरसास्वादानां पञ्चा-नामन्तरीयाणां दूर्वारत्वान्न सिद्धमासीत्। अनर्थनिवृत्त्यनन्तरं तेषां तदीयानां

निवृत्तप्रायत्वात् नैश्चल्यं सम्पद्यते इति लयाद्यभाव एव निष्ठालिङ्गम्। तत्र लयः कीर्त्तनश्रवणस्मरणेषु उत्तरेष्वाधिक्येन निद्रोदगमः। विक्षेपः तेषु व्यवहारिकवार्त्तासम्पर्कः। अप्रतिपत्तिः कदाचिल्लयविक्षेपयोरभावे कीर्त्तनाद्य–सामर्थ्यम्। कषायः क्रोधलोभगर्वादिसंस्कारः। रसास्वादः विषयसुखोदयकाले कीर्त्तनादिषु मनोऽनभिनिवेश इति। ''भक्तिर्भवति नैष्ठिकी। तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये। चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति'' इत्यत्र चकारस्य समुच्चयार्थत्वाद्रजस्तमोभावा एव लभ्यन्ते। किञ्च एतैरनाविद्धमित्युक्ते भावपर्यन्तं तेषां स्थितिरप्यस्ति भक्त्यबाधकतयैव॥२॥

भावानुवाद—जिसमें निष्ठा या निश्चलता उत्पन्न होती है, उसे निष्ठिता–भजनक्रिया कहते हैं। प्रतिदिन चेष्टा करनेपर भी अनर्थग्रस्त अवस्थामें लय, विक्षेप, अप्रतिपत्ति, कषाय, रसास्वाद—इन पाँच प्रकारके विघ्नोंकी दुर्वारताके कारण भक्तिमें निश्चलता नहीं आ पाती। अनर्थनिवृत्तिके पश्चात् ही इन पाँचों प्रकारके विघ्नोंके दूर हो जानेपर भक्तिमें निश्चलता आती है। अतएव लय, विक्षेपादि पाँचों विघ्नोंके अभावको ही निष्ठाका लक्षण जानना चाहिए। इनमेंसे श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणके समय उत्तरोत्तर निद्रा आना 'लय' कहलाता है। श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणके समय व्यवहारिक बातोंका जो सम्पर्क है, उसे 'विक्षेप' कहते हैं। लय और विक्षेपके न होते हुए भी श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणके समय कभी–कभी जो असमर्थता लक्षित होती है, उसे 'अप्रतिपत्ति' कहते हैं। श्रवणादि भक्त्यङ्गोंके साधनकालमें क्रोध, लोभ एवं अभिमानका जो संस्कार है, उसे 'कषाय' कहा गया है तथा श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणके समयमें विषयसुख उत्पन्न होनेके कारण जो मनका न लगना है, उसे 'रसास्वाद' कहते हैं। नैष्ठिकी–भक्तिके उत्पन्न होनेपर रजोगुण और तमोगुणके भाव एवं काम लोभादिके द्वारा चित्त अनाविद्ध (कलुषित) न होनेपर सत्त्वगुणमें स्थिरता प्राप्तकर प्रसन्नता लाभ करता है। यहाँ मूल श्लोकमें जो चकार है, उसका समुच्चय अर्थ करनेसे उस अवस्थामें भी राजसिक, तामसिक आदि भावोंका अस्तित्त्व समझा जाता है। परन्तु "इनके द्वारा चित्त अनाविद्ध या अछूता ही रहता है" इस वाक्यसे यह सिद्ध होता है कि जब तक भावावस्था

नहीं आती, तब तक राजसिक, तामसिक आदि भाव भक्तिके बाधक न होकर उसके अबाधक रूपमें ही अवस्थान करते हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—यहाँ निष्ठाके स्तरोंका लक्षण कहा जा रहा है। निष्ठा अर्थात् निश्चलता, भजनमें स्थिरता प्राप्त होनेपर उसे निष्ठिता-भजनक्रिया कहते हैं। भजनमें स्थिरता लानेकी चेष्टा करनेपर भी अनर्थावस्थामें साधक व्यर्थमनोरथ होता है; क्योंकि उस समय लय, विक्षेप, अप्रतिपत्ति, कषाय और रसास्वाद—ये पाँच प्रकारकी बाधाएँ अन्तरमें स्थित रहती हैं, जिसके फलस्वरूप साधक भजनमें स्थिर नहीं हो पाता। ये पाँच प्रकारके अनर्थ इस प्रकारसे हैं—

(१) लय—श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणकालमें उत्तरोत्तर अधिक निद्रा आनेका नाम लय है। कीर्त्तनकी अपेक्षा श्रवणमें अधिक और श्रवणसे भी अधिक स्मरणमें निद्रा आती है। यह तमोगुणसे उत्पन्न होती है और साधकको भजनरसास्वादन करनेसे वञ्चित करती है, श्रवण, कीर्त्तन आदिके माधुर्यका आस्वादन नहीं करने देती। वस्तुतः भगवान्‌के नाम, गुणादिके आस्वादनके अभावके कारण ही यह बाधा उत्पन्न होती है।

(२) विक्षेप—श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण आदिके समय व्यवहारिक बातोंका सम्पर्क होना ही विक्षेप कहलाता है। हाथमें माला लेकर संख्या जप भी चलता रहता है और लोगोंके साथ विविध प्रकारकी विषयचर्चा भी चलती रहती है। साधकका चञ्चल या विक्षिप्त चित्त नामको स्पर्श न कर विषयकी बातोंमें ही मग्न रहता है। केवल संख्यापूर्तिकी तरफ लक्ष्य होनेके कारण नामके रसास्वादनसे साधक वञ्चित रहता है। इसी प्रकार श्रवणकालमें भी भगवत्कथाके आरम्भ और अन्तमें भगवत्सभामें बैठकर विविध विषयोंकी बातोंमें ही संलग्न हो जाता है। इस बाधाके फलस्वरूप श्रवणकालमें साधकका चित्त स्मरणीय भगवत्स्वरूप-लीलादिको छोड़कर इधर-उधरकी बातोंमें ही लगा रहता है। यह रजोगुणका ही कार्य है।

(३) अप्रतिपत्ति—लय और विक्षेपके न रहते हुए भी श्रवण और कीर्त्तनमें जो असमर्थता देखी जाती है, उसे अप्रतिपत्ति कहा जाता

है। ऐसी दशामें साधकोंके मनमें निरुत्साह उपस्थित होकर भजनमें आलस्यकी सृष्टि करता है। अथच उत्साहको ही श्रद्धाका जीवन कहा गया है। यह अप्रतिपत्ति तमोगुणसे उत्पन्न होती है।

(४) कषाय—श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणादिके साधनकालमें क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कारका जो संस्कार है, उसे कषाय कहा जाता है। अनर्थावस्थामें पूर्व-पूर्व संस्कारके अनुरूप साधारण कारणसे ही क्रोध, मधुर स्वादिष्ट खाद्यवस्तुओंका आस्वादन, अर्थादिमें लोभ तथा देह-दैहिक आदि विषयोंमें गर्व और अहङ्कार चित्तमें उदित होते हैं।

(५) रसास्वाद—विषयसुख उत्पन्न होनेके समय श्रवण, कीर्त्तन आदिमें मनका न लगना ही रसास्वाद कहलाता है। विषयोंमें लगनेके कारण चित्त भजनमें निविष्ट नहीं होता। कषाय और रसास्वादको रजोगुणका कार्य समझना चाहिए।

श्रीपाद ग्रन्थकार कहते हैं कि अनर्थनिवृत्तिके पश्चात् भी साधकोंके हृदयमें रजः और तमोगुणके भावोंका अस्तित्व रहता है, किन्तु जिस प्रकार ये अनर्थावस्थामें उल्लिखित पाँच प्रकारकी बाधाओंको उत्पन्नकर भजनमें बाधक होते हैं, निष्ठाके स्तरमें भजनके बाधक न होकर अबाधकरूपमें अवस्थित रहते हैं। इस वृष्टिके प्रारम्भमें ही श्रीमद्भागवतके जिन दो श्लोकोंको उद्धृत किया गया है, उनमें देखा जाता है—"भक्तिर्भवति नैष्ठिकी। तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये। चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति।" अर्थात् "नैष्ठिकीभक्ति उदित होनेपर कामलोभादि द्वारा चित्त अनाविद्ध होकर शुद्धसत्त्वमें स्थित होकर प्रसन्न हो जाता है।" उक्त श्लोकमें जो चकार है, उसकी समुच्चय अर्थमें व्याख्या करनेपर कामलोभादिके साथ राजसिक, तामसिक भावोंका अस्तित्व सूचित होता है, किन्तु वे तब भजनके बाधक न होकर, अबाधक रूपमें साधकोंके हृदयमें अवस्थित रहते हैं। इसलिए श्रवण, कीर्त्तन आदिमें निष्ठा होनेपर कोई बाधा नहीं रहती।

श्रीलग्रन्थकारने सारार्थदर्शिनी टीकामें इन श्लोकोंके 'अनाविद्धं' शब्दकी व्याख्यामें लिखा है—"तेन पूर्वदशायां कामलोभाद्यैः तीक्ष्णशरायितैराविद्धं चेतः कथं प्रसीदतु कथं वा कीर्त्तनादे सम्यगास्वादं लभतां नहि व्यथाजर्जरितस्यान्नादिकं सम्यक् रोचते इति भावः।"

अर्थात् भजनमें निष्ठा उत्पन्न होनेसे पहले काम, लोभादिके द्वारा विद्ध चित्त किस प्रकारसे प्रसन्नता लाभ करेगा एवं किस प्रकारसे साधक श्रवण, कीर्त्तनादिका भलीभाँति रसास्वादन करनेमें समर्थ होगा? बाणबिद्ध अवस्थामें जर्जरित व्यक्तिको अन्नादि कभी भी सम्यक् रूपसे रुचिकर नहीं होता।"

साक्षाद्–भक्तिवर्तिनी निष्ठा तथा भक्ति–अनुकूलवस्तुवर्तिनी निष्ठा

सा च निष्ठा साक्षाद्भक्तिवर्त्तिनी तदनुकूलवस्तुवर्त्तिनीति द्विविधा। तत्र साक्षाद्भक्तिरनन्तप्रकारापि स्थूलतया त्रिविधा; कायिकी वाचिकी मानसी चेति। तत्र प्रथमं कायिक्यास्ततो वाचिक्यास्तत एव मानस्या भक्तेर्निष्ठा सम्भवेदिति केचित्। भक्तेषु तारतम्येन स्थितानामपि सहौजोबलानां मध्ये क्वचन भक्ते विलक्षणतादृशसंस्कारवशात् कस्यचिदेव भगवदुन्मुखत्वाधिक्यं स्यादिति नायं क्रम इत्यन्ये। तदनुकूलवस्तूनि अमानित्वमानदत्वमैत्रीदयादीनि। तेषां निष्ठा च कुत्रचन शमप्रकृतौ भक्ते भक्तेरनिष्ठितत्वे दृश्यते कुत्रचन तस्मिन्नुद्धते भक्ते निष्ठितत्वेऽपि न दृश्यते यद्यपि तदपि भक्तिनिष्ठैव स्वसत्त्वासत्त्वाभ्यां तन्निष्ठासत्त्वासत्त्वे सुधियमवगमयति न तु बालप्रतीतिरव वास्तवीकर्त्तुं शक्येति। यदुक्तम्–"भक्तिर्भवति नैष्ठिकी। तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये। चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदतीति।" श्रवणकीर्त्तनादिषु यत्नस्य शैथिल्यप्राबल्य एव दुस्त्यज्ये संभवन्ती निष्ठितानिष्ठिते भक्ती प्रदर्शयेतामिति संक्षेपतो विवेकः॥३॥

इति माधुर्य–कादम्बिन्यां निष्यन्दबन्धुरानाम चतुर्थ्यमृतवृष्टिः॥४॥

भावानुवाद—वह निष्ठा भी दो प्रकारकी होती है। 'साक्षात् भक्तिवर्तिनी' और 'तदनुकूल वस्तुवर्तिनी'। साक्षात् भक्ति अनेक प्रकारकी होनेपर भी स्थूल रूपसे कायिकी, वाचिकी और मानसी भेदसे तीन प्रकारकी होती है। भक्तोंमें सहनशीलता, तेज और बलकी स्थितिके तारतम्यके अनुसार किसी-किसी भक्तमें विलक्षण संस्कारवशतः भगवत्-उन्मुखताका आधिक्य देखा जाता है। इसलिए कोई-कोई कहते हैं कि इस विषयमें कोई क्रम नहीं है। अमानित्व, मानदत्व, मैत्री, दयादि गुण भक्तिके लिए अनुकूल हैं। भक्तिनिष्ठाके अभावमें

किसी-किसी शमप्रकृतिके भक्तमें इन सब गुणोंके प्रति निष्ठा देखी जाती है और कहीं-कहीं किसी उद्धत भक्तमें भक्तिनिष्ठा रहनेपर भी इन गुणोंके प्रति निष्ठा नहीं देखी जाती। इन गुणोंके होनेपर भक्तिमें निष्ठा तथा इन गुणोंके न होनेपर भक्तिमें निष्ठाका अभाव केवल बालकोंके निकट ही वास्तविक होनेकी प्रतीति पैदा नहीं करता, अपितु विज्ञ पुरुषोंके निकट भी ऐसी ही प्रतीति उत्पन्न करता है; क्योंकि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि नैष्ठिकीभक्तिके उदित होनेपर चित्त रजः, तमः और कामलोभादिके द्वारा अनाविद्ध होकर शुद्धसत्त्वमें स्थित होकर प्रसन्नता प्राप्त करता है। अतएव श्रवण-कीर्त्तन आदि भक्ति-अङ्गोंमें प्रबल उत्कण्ठा अथवा शिथिलता ही भक्तिमें निष्ठा अथवा अनिष्ठाकी कसौटी है। यही भक्तिनिष्ठाके सम्बन्धमें संक्षिप्त विचारधारा है।

निष्यन्दबन्धुरा नामक चतुर्थामृतवृष्टिका भावानुवाद समाप्त॥४॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने निष्ठास्तरके वर्णनके प्रसङ्गमें कहा है कि लय, विक्षेपादि पाँच प्रकारकी बाधाओंका अभाव ही निष्ठा उत्पन्न होनेका लक्षण है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं तमोगुहायाञ्च विशुद्धमाविशत्।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा, मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम्॥
(श्रीमद्भा. ४/२४/५९)

श्रीरुद्र श्रीभगवान्‌की वन्दनामें कह रहे हैं—"हे प्रभो! सत्सङ्गके फलसे आपके भक्तियोगके द्वारा मनुष्यका चित्त अनुगृहीत और विशुद्ध होनेपर बाहरी विषयों द्वारा विक्षिप्त नहीं होता और तमरूप गुहामें प्रविष्ट नहीं करता। उस समय मनुष्य आपके तत्त्वको जान सकता है।" इस श्लोकमें साधकोंके लय, विक्षेपादिसे रहित होनेकी बात कही गई है। यहाँ निष्ठाके भेदोंका निरूपण कर रहे हैं। निष्ठा दो प्रकारकी होती है।—(१) साक्षाद्भक्तिविषयिनी और (२) तदनुकूलवस्तुविषयिनी।

(१) साक्षाद्भक्तिविषयिनी निष्ठा—कायिकी, वाचिकी और मानसी भेदसे तीन प्रकारकी होती है।

कायिकी—श्रीभगवत्कथाश्रवण, तुलसीचयन, मालाग्रन्थन, अर्चन, दण्डवत्, परिक्रमा, श्रीमन्दिरमार्जन आदि कायिकी हैं।

वाचिकी—श्रीभगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका कीर्त्तन, स्तव, स्तुति, विज्ञप्ति, वन्दना आदि पाठ वाचिकी हैं।

मानसी—श्रीभगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका स्मरण, मननादि मानसी हैं।

इन भजनाङ्गोंमें निष्ठा या स्थिरता साक्षाद्भक्तिविषयिणी है। श्रील जीव गोस्वामीने लिखा है—"निष्ठा तत्राविक्षेपेन सातत्यम्" (भक्तिरसामृत-सिन्धुकी टीकामें) अर्थात् "भजन विषयमें विक्षेपशून्य नैरन्तर्यको ही निष्ठा कहा जाता है।"

किसी-किसीके मतसे पहले कायिकी, उसके बादमें वाचिकी और अन्तमें मानसी भक्तिमें निष्ठा पैदा होती है। किन्तु सभी साधकोंके लिए यह क्रम सङ्गत नहीं है; क्योंकि साधकोंमें संस्कारके अनुरूप सहनशीलता, तेज और बलकी अधिकता या न्यूनता देखी जाती है। इसलिए मनःशक्तिके आधिक्यवशतः किसी-किसी साधककी पहले मानसी भक्तिमें निष्ठा उत्पन्न होना कोई विचित्र बात नहीं है। इसलिए किसी-किसीका कहना है कि इस विषयमें कोई क्रम सङ्गत नहीं होता।

(२) तदनुकूलवस्तुविषयिनी—अमानित्व, मानदत्व, मैत्री, दया, क्षमा, कृतज्ञता आदि भक्तिके अनुकूल गुण हैं। अमानित्व और मानदत्व गुणोंसे साधककी भक्तिके संजीवक दैन्यकी परिपुष्टि साधित हुआ करती है। प्राणिमात्रके प्रति दया, मैत्री और सौहार्द्र भावके द्वारा भक्ति निर्विघ्न और सुस्थिर होती है। जो दूसरोंका दोष क्षमा नहीं कर पाते, उनका अपने लिए ईश्वरके निकट क्षमा माँगना भी विडम्बनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन गुणोंमें कृतज्ञता गुण विशेष रूपसे भक्तिके अनुकूल है। अकृतज्ञ हृदयमें भक्तिदेवीका आविर्भाव नहीं होता। श्रीभगवान् स्वयं कृतज्ञता गुणसे पूर्ण हैं। भक्तके द्वारा जल और तुलसी अर्पण करनेपर वे स्वयंको भी दान कर देते हैं। केवल मातृभावका अनुकरण करनेवाली दुष्टा राक्षसी पूतनाको धात्रीकी गति प्रदानकर कृतार्थ किया। कृतज्ञता ही महत्-व्यक्तियोंके महत्वका

निदर्शन है और अकृतज्ञता ही क्षुद्र व्यक्तिकी क्षुद्रताका चरम निदर्शन है। जो जितने श्रेष्ठ हैं उनके हृदयमें उतनी ही कृतज्ञता होती है। कृतज्ञताशून्य संकीर्ण हृदयमें भक्तिदेवी विराजमान नहीं होतीं।

किसी-किसी शमप्रकृतिवाले साधकके हृदयमें भक्तिनिष्ठाके अभावमें भी ये गुण देखे जाते हैं। अर्थात् अनिष्ठिता स्तरमें ही शमस्वभावापन्न भक्तमें यह गुणावली देखी जाती है और निष्ठा उत्पन्न होनेपर भी किसी-किसी उद्धत स्वभाववाले भक्तके हृदयमें ये गुण नहीं देखे जाते। अतएव सभी क्षेत्रोंमें निष्ठाके उदित होनेपर अनुकूल गुणावली भी उदित होगी, ऐसा निश्चित नहीं है। इन गुणोंके उदित होनेपर भक्तिमें निष्ठाका उदित होने और नहीं होनेपर निष्ठाका अभाव—ऐसी प्रतीति न केवल शास्त्र-अनभिज्ञ व्यक्तिको ही होती है, अपितु शास्त्रको जाननेवाले विज्ञ पुरुषके निकट भी ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है; क्योंकि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है "भक्तिर्भवति नैष्ठिकी। तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये। चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति।" अर्थात् नैष्ठिकीभक्तिके उदित होनेपर चित्त राजसिक, तामसिकभाव और काम, लोभ आदिके द्वारा अनाविद्ध होकर शुद्धसत्त्वमें स्थित हो प्रसन्नता प्राप्त करता है। अतः भक्तिनिष्ठाके अनुकूल उल्लिखित गुणोंका विकास निष्ठामयी भक्तिके निरूपणमें अपरिहार्य नहीं होनेपर भी श्रवण, कीर्त्तन आदि भजनमें प्राबल्य अथवा शैथिल्य निष्ठिता और अनिष्ठिताभक्तिके निरूपणमें अपरिहार्य कारण है। अर्थात् श्रवण, कीर्त्तनमें यत्नकी प्रबलता दिखाई देनेपर निष्ठिताभक्ति होती है और उसके अभावमें अनिष्ठिताभक्ति होती है, ऐसा समझना चाहिए।

निष्यन्दबन्धुरा नामक चतुर्थामृतवृष्टिकी
पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त॥४॥

पञ्चम्यमृतवृष्टिः

रुचिका उदय तथा उसके लक्षण

अथाभ्यासकृष्णवर्त्मदीपितां भक्तिकाञ्चनमुद्रां स्वतेजसा वहन्तीं दधाने भक्तहृदि तस्यां रुचिरुत्पद्यते। श्रवणकीर्त्तनादीनामन्यतो वैलक्षण्येन रोचकत्वं रुचिः। यस्यामुत्पद्यमानायां पूर्वदशायामिव तैर्मुहुरप्यनुशीलितैर्न श्रमोपलब्धि–गन्धोऽपि। या हि तेषु व्यसनित्वमचिरादेवोत्पादयति।

भावानुवाद—निष्ठाके अनन्तर अभ्यासरूप अग्नि द्वारा तपी हुई उत्तम भक्तिस्वर्णमुद्राको धारण करनेवाले भक्तके हृदयमें उसके प्रभावसे भक्तिमें रुचि उत्पन्न होती है। श्रवण, कीर्त्तन आदिका एकसे दूसरेमें विलक्षण भावसे जो रोचकत्व है, उसीका नाम रुचि है। रुचि उत्पन्न होनेपर पूर्व दशाकी भाँति श्रवण, कीर्त्तन आदिके बार–बार अनुशीलन करनेमें लेशमात्र भी परिश्रम नहीं होता। अतिशीघ्र यही रुचि श्रवण, कीर्त्तन आदिको भक्तका व्यसन बना देती है अर्थात् उनमें अत्यन्त आसक्ति उत्पन्न करा देती है।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—चतुर्थामृत–वृष्टिमें भजननिष्ठाकी बात कही गई है। निष्ठाके साथ भजनका अभ्यास करनेसे साधक तपे हुए सोनेकी भाँति तेजयुक्त हो उठता है। स्वर्णमणि धारण करनेवाले व्यक्तिका वक्षस्थल जिस प्रकार स्वर्णकान्तिसे युक्त होकर सुशोभित होने लगता है, उसी प्रकार इस भक्तिमुद्राको धारण करनेवाले भक्तका हृदय भी भक्तिमुद्राकी कान्तिसे प्रकाशित हो उठता है। जिसके फलस्वरूप श्रवणसे अधिक कीर्त्तनमें और कीर्त्तनसे अधिक स्मरणमें प्रियता उत्पन्न होने लगती है। सपरिकर श्रीकृष्णके रूप, गुण, लीला आदिके अनुभवसे प्राप्त विशेष आस्वादनको रुचि कहा जाता है। श्रील जीवगोस्वामीने लिखा है, "रुचिरभिलाषः किन्तु बुद्धिपूर्वकम्" (टीका भ. र. सि. १/४/१५) अर्थात् "रुचि कहनेसे अभिलाषाका बोध होता

है।" श्रीकृष्णमें अभिलाष या तृष्णा। श्रीभगवान्में अनुकूल भावमयी तृष्णा ही भक्तिका जीवन है। अभिलषित श्रीकृष्णमें अनुकूल भावके साथ प्राप्त-अभिलाषा और सौहार्द्र-अभिलाषा स्वयं ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए श्रील जीवगोस्वामीने लिखा है कि अभिलाषा तीन प्रकारकी होती है—आनुकूल्याभिलाषा, सौहार्द्याभिलाषा एवं प्राप्ताभिलाषा। भगवान्की सेवाकर उन्हें सुखी करनेकी अभिलाषाके साथ ही उनको प्राप्त करनेकी अभिलाषा और उनके प्रति सौहार्द्य अभिलाषा अपने आप चित्तमें जागृत होती है। रुचिके स्तरमें यह बुद्धिपूर्वक और आसक्तिके स्तरमें यह स्वाभाविक हो जाती है।

रुचि भजन विषयक होती है। श्रीहरिके रूप, गुण एवं लीलाकथाके श्रवण, कीर्त्तन आदिमें एकसे दूसरेमें विलक्षण रूपसे जो रोचकत्व है, उसीका नाम रुचि है। रुचि उत्पन्न होनेपर पूर्व दशाकी भाँति श्रवण, कीर्त्तन आदिके निरन्तर अनुशीलनमें तनिक भी परिश्रमका अनुभव नहीं होता। यही रुचि भक्तके हृदयमें श्रवण, कीर्त्तन आदिके प्रति अत्यन्त आसक्ति उत्पन्न करा देती है। उस समय भगवत्-प्रसङ्गके अतिरिक्त जो समय अतिवाहित होता है, वह नितान्त व्यर्थ प्रतीत होता है। रुचिसे पूर्व श्रीकृष्णकी कथा स्वादिष्ट नहीं लगती। रुचिके स्तरमें वह अत्यन्त सुस्वादु लगती है—इसीको माधुर्यानुभव कहते हैं। "रुचिः पापबीजनाशाद् भक्तौ माधुर्यानुभवः" (टीका भ. र. सि. १/४/१५-१७) अर्थात् "इस रुचिके स्तरमें पापका बीज नष्ट हो जाता है और भजनके माधुर्यका अनुभव होने लगता है।" श्रील जीवगोस्वामीने लिखा है—"माधुर्यन्तु रूपगुणलीलानां रोचकत्वं" (टीका भ. र. सि. ४/४/१५) अर्थात् "श्रीकृष्णके रूप, गुण एवं लीलाकी रोचकताका अनुभव ही माधुर्यका अनुभव है।" श्रीकृष्णकी लीलाकथामें रुचि उत्पन्न होनेपर हरिकथा श्रवण-कीर्त्तनसे तृप्ति नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमःश्लोकविक्रमे।
यच्छृन्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥

(श्रीमद्भा. १/१/१९)

श्रीशौनकादि ऋषिगण कह रहे हैं—"हे सूतजी! उत्तम श्लोक श्रीहरिके चरित्र श्रवण करते-करते हम परितृप्त नहीं हो रहे हैं; क्योंकि रसिकोंके निकट हरिलीलाकथाका श्रवण पद-पदमें सुस्वादु होता है।" श्रील जीवगोस्वामिपादने इस हरिकथा-रुचिको ही भजन-रुचिके उत्पत्ति स्थलके रूपमें निरूपण किया गया है—"कथारुचेः सर्वत्रैवाद्यत्वात् श्रेष्ठत्वाच्च।" (श्रीमद्भा. १/२/८ श्लोककी क्रमसन्दर्भटीका)

मिश्री द्वारा पितरोग दूर होनेके समान भक्तिके अनुशीलनसे अविद्याकी निवृत्ति तथा रुचिका उदय होना

यथा नित्यं शास्त्रमधीयानस्य बटोः काले शास्त्रार्थप्रवेशे सति शास्त्रस्य रोचकत्वमुत्पाद्यमानमेव तं तत्र श्रमं नोपनयत्यासञ्जयति च॥१॥

वस्तुतः सिद्धान्ते तु पैत्तिकवैगुण्येन दूषितायां रसनायां सिताया अरोचकत्वेऽपि सितैव तद्वैगुण्यनिरासकमौषधमिति विवेकिनः तस्या एव यथा मुहुरुपसेवने कालेन स्वाद्वीयं स्वाद्वीयमाभातीति तस्या एव रोचकत्वं तथैवाविद्यादिविदूषितस्य जीवान्तःकरणस्य श्रवणादिभक्त्या तद्दोषप्रशमे तस्यां रुचिरुद्भवतीति॥२॥

भावानुवाद—नित्यप्रति शास्त्रका अध्ययन करनेवाले बालकका कालक्रमसे शास्त्रके अर्थमें प्रवेश होनेपर उसकी शास्त्रमें रुचि उत्पन्न होती है और तब शास्त्रानुशीलनमें किसी प्रकारके श्रमका बोध नहीं होता। वास्तवमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे पित्त-दोषसे दूषित जिह्वामें मिश्री अरुचिकर लगनेपर भी, वही मिश्री पित्त-दोषकी नाशक-औषधि है। विचारवान व्यक्तियोंके इस मतके अनुसार निरन्तर मिश्रीका सेवन करनेपर जिस प्रकार मिश्री कालक्रमसे मीठी लगने लगती है और उसमें रुचि उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार अविद्यादि कारणोंसे दूषित जीवका अन्तःकरण श्रवणादि भक्तिका बार-बार अनुशीलन करनेपर अविद्या-दोषसे रहित हो जाता है और श्रवण-कीर्त्तन आदि भक्तिमें उसकी रुचि उत्पन्न हो जाती है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—किसी शास्त्रका प्रथम बार अध्ययन करनेपर विद्यार्थीको बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है और उसे वह

अध्ययन रुचिकर प्रतीत नहीं होता। किन्तु जब शास्त्रके अभिप्रायको विद्यार्थी क्रमशः समझने लगता है, तब उसे एक सुखद आस्वादन मिलता है, जो अत्यन्त रुचिकर होता है और बिना परिश्रम विद्यार्थी उस शास्त्रका अध्ययन करता रहता है। उसी प्रकार श्रवण–कीर्त्तन आदि भजनाङ्गोंमें आस्वादन प्राप्त नहीं होनेके कारण भक्तिपथमें प्रविष्ट होनेवाले साधकोंके भजनमें शिथिलता लक्षित होती है और भजन भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। किन्तु भजन करते–करते क्रमशः जिस रूपमें चित्त शुद्ध होकर भजनरसका आस्वादन प्राप्त करता है, उसीके अनुरूप भजनमें भी रुचि उत्पन्न होती है।

ग्रन्थकार श्रीलचक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि वस्तुतः जिनकी जिह्वा पीलिया रोगसे दूषित है उन्हींकी जिह्वाको मीठी मिश्री कड़वी लगती है। वैद्यजन कहते हैं कि मिश्री पीलिया रोगको दूर करनेके लिए महा औषधि है। इसका नित्य सेवन करनेसे यह रोग दूर हो जाता है। मिश्रीका बार–बार सेवन करनेसे जितने परिमाणमें पीलिया रोग दूर होता है उसी परिमाणमें क्रमशः मिश्रीका मीठापन भी अनुभव हुआ करता है। इसी प्रकार जिनका अन्तःकरण अविद्या, अस्मिता, राग एवं द्वेष आदिके द्वारा दूषित है, उनके द्वारा श्रवण–कीर्त्तन करनेपर भी उन्हें स्वभावसे ही परम मधुर श्रीहरिके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका आस्वादन प्राप्त नहीं होता। विज्ञ महापुरुष कहते हैं कि यह श्रवण–कीर्त्तन ही अविद्या आदिका नाश करनेके लिए महा औषधि है। श्रीहरिके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका श्रवण करते–करते क्रमशः जिस परिमाणमें अविद्या–दोष दूर होगा तथा चित्त शुद्ध होगा, उसी परिमाणमें श्रवण और कीर्त्तन आदिका आस्वादन प्राप्त होगा। इस प्रकार श्रवण–कीर्त्तन आदिमें साधकोंकी रुचि उत्पन्न होती है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णने यह बात उद्धवसे कही है—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवांजनसम्प्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/२६)

"हे उद्धव! जिस प्रकार अञ्जनके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर नेत्रोंमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है, उसी प्रकार मेरी परम पावन लीलाकथाके श्रवण-कीर्त्तनसे ज्यों-ज्यों मनका मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों साधकको सूक्ष्म वस्तुके वास्तविक तत्त्वका दर्शन होने लगता है।"

वस्तुवैशिष्ट्य-अपेक्षिणी तथा वस्तुवैशिष्ट्य-अनपेक्षिणी रुचि

सा च रुचिर्द्विविधा; वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षिणी तदनपेक्षिणी च। वस्तूनां भगवन्नामरूपगुणलीलादीनां वैशिष्ट्यं कीर्त्तनस्य सौस्वर्यादिमत्त्वं वर्णितभगवच्चरितादेर्गुणालङ्कारध्वन्यादिमत्त्वं परिचर्यादीनां तादृशस्वाभीष्ट-देशपात्रद्रव्यादिसद्भाववत्त्वं यदपेक्षते तद्वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षिणी। किं किं कीदृशं व्यञ्जनमस्ति इति पृच्छतां मन्दक्षुद्वतामिव। प्रथमा सेयं यतोऽन्तःकरणस्य यत्किंचिद्दोषलव एव कीर्त्तनादीनां वैशिष्ट्यमपेक्षते अतोऽस्त्यन्तःकरणदोषाभासा ज्ञेया। द्वितीया तु यथा तन्नामरूपाद्युपक्रम एव बलवती भवन्ती वैशिष्ट्ये त्वतिप्रौढत्वमापद्यमानेयं नास्ति मनोवैगुण्यगन्धा एव ज्ञेया॥३॥

भावानुवाद—वह रुचि दो प्रकारकी होती है—वस्तुवैशिष्ट्य-अपेक्षिणी और वस्तुवैशिष्ट्य-अनपेक्षिणी। जो रुचि वस्तु अर्थात् भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीलादिके वैशिष्ट्य—जैसे कीर्त्तनमें सुस्वर, वर्णित भगवत्-चरित्रोंमें यथोपयुक्त गुण, अलङ्कार, ध्वनि आदिकी विशुद्धि और परिचर्या आदिमें यथोपयुक्त अपने अभीष्टके अनुरूप देश, काल, पात्र एवं द्रव्य आदिकी शुद्धिकी अपेक्षा रखती है, उसे वस्तुवैशिष्ट्य-अपेक्षिणी रुचि कहा जाता है। जिस प्रकार भोजन करनेवाले व्यक्तिके लिए यह पूछना "कि क्या-क्या व्यञ्जन बना है और कैसा बना है?" मन्द क्षुधाका ही लक्षण है, यह रुचि भी उसी प्रकार है; क्योंकि अन्तःकरणमें यत् किञ्चित् अर्थात् लेशमात्र भी दोष रहनेपर कीर्त्तन आदिमें उपर्युक्त कहे गए वैशिष्ट्योंकी अपेक्षा रहती है। इसलिए वैसी रुचिको अन्तःकरणके दोषोंका आभासरूप ही जानना चाहिए। द्वितीय प्रकारकी रुचि भगवान्‌के नाम, रूपादिके उपक्रममें ही बलवती होती है। वस्तु-वैशिष्ट्यमें वह अत्यन्त प्रौढ़ा और उल्लासमयी हुआ करती

है। उस समय अन्तःकरणके विकारोंसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंकी गन्धमात्र भी नहीं रहती, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए उसे वस्तुवैशिष्ट्य-अनपेक्षिणी रुचि कहा जाता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—उपर्युक्त रुचि भी दो प्रकारकी होती है— वस्तुवैशिष्ट्य-अपेक्षिणी और वस्तुवैशिष्ट्य-अनपेक्षिणी।

(१) वस्तुवैशिष्ट्य-अपेक्षिणी—जो रुचि वस्तुके वैशिष्ट्यकी-अपेक्षा रखती है, उसे वस्तुवैशिष्ट्य-अपेक्षिणी कहा जाता है। यहाँ वस्तुसे श्रीभगवान्को ही समझना चाहिए। श्रीभगवान्के रूप, गुण, लीला आदिके कीर्त्तनमें सुन्दर स्वर, ताल, लय, मान आदिकी जहाँ अपेक्षा रहती है, भगवत्-कथाके वर्णनमें जहाँ अलङ्कारयुक्त मधुर वर्णनकी अपेक्षा रहती है अथवा श्रीभगवान्की सेवा-पूजामें जहाँ अपने मनोवाञ्छित पवित्र स्थान, उपयुक्त समय एवं पूजादिके उपकरणोंकी अपेक्षा रहती है, वह वस्तुवैशिष्ट्य-अपेक्षिणी रुचि है।

जिस व्यक्तिको भूख नहीं है वह भोजन करनेसे पूर्व पूछता है—"क्या-क्या व्यञ्जन बना है? कैसा बना है?" और जिसे तीव्र भूख होती है, वह ऐसे प्रश्न नहीं करता। जो बना है, जैसा बना है, उसे स्वीकार करता है। उसी प्रकार जिनकी भक्तिके अङ्गोंमें तीव्र रुचि होती है वे स्वर, ताल, लय, मान आदिकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते और जो रखते हैं उनका अन्तःकरण अभी पूर्ण रूपसे शुद्ध नहीं हुआ है। अभी वहाँ दोषोंका आभास विद्यमान है, ऐसा समझना चाहिए।

(२) वस्तुवैशिष्ट्य-अनपेक्षिणी—जो रुचि वस्तुके वैशिष्ट्यकी-अपेक्षा नहीं रखती। इस रुचिको उपर्युक्त वर्णित किसी भी वैशिष्ट्यकी-अपेक्षा नहीं रहती और आरम्भकालसे ही यह दृढ़, तीव्र और उत्साहमयी होती है। भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलाकथा एवं पूजनकी विशेषतामें ही यह अटल विश्वासमयी होती है। कीर्त्तन आदिमें सुन्दर स्वर, ताल, लय, मानकी अपेक्षा नहीं रखती और वस्तुवैशिष्ट्य रहनेपर तो प्रौढ़रुचिका उदय होता है। जिस प्रकार, अत्यन्त भूखा व्यक्ति सुस्वादु व्यञ्जन आदिकी अपेक्षा किए बिना ही भोजनमें प्रवृत्त

होता है और बिना उपकरणके ही अन्न आदिमें उसकी रुचि होती है तथा विविध प्रकारके स्वादिष्ट व्यञ्जन रहनेपर तो भोजनरसमें और भी अधिक चमत्कारिक आस्वादन प्राप्त करता है। उसी प्रकार, जो रुचि स्वरादि वैशिष्ट्यकी अपेक्षा नहीं रखती वह वस्तुवैशिष्ट्य-अनपेक्षिणी रुचि कहलाती है और वस्तुवैशिष्ट्य रहनेपर तो वह अत्यन्त प्रौढ़ा और उल्लासमयी हो जाती है। इस रुचिके उत्पन्न होनेपर अन्तःकरणमें वैगुण्यजनित दोषोंका गन्धमात्र भी नहीं रहता।

जात-रुचि-व्यक्तिका आचरण

ततश्चाहो सखे! कृष्णनामामृतानि विहाय किमिति दुष्परिग्रहयोग-क्षेमवार्त्ताविषयेषु निमज्जयसि त्वां वा किं ब्रवीमि धिङ् मां यदहमपि पामरः श्रीगुरुचरणप्रसादलब्धमप्येतद्वस्तु स्वग्रन्थिनिबद्धं महारत्नमिवानुपलभ्य परितो भ्रमन्नेतावन्तं कालम् अन्यव्या-पारपारावारमध्ये मिथ्यासुखलेशस्फुटित-कपर्द्दकमात्रमन्विष्यायुंषि वृथैवानयम्। भक्तेः कमप्यनङ्गीकुर्वन् शक्तेरभावमेवाद्योतयम्। हन्त स एवाहं सैवेयं मे रसना या ह्यनृतकटु-ग्राम्यप्रलापममृतमिव लिह्यती भगवन्नामगुणवार्त्तासु सालसैवासीत्। हन्त हन्त तत्कथाश्रवणारम्भ एव स्वापं भजंस्तदैव कदाचित् प्रस्तुतायां ग्राम्यवार्त्तायामुत्कर्णतया लब्धजागरं साधूनां सद एव तत् सकलमकलङ्कयम्। अस्य च दुष्पूरस्य जठरस्य कृते जरठोऽपि कांस्कान् दुष्कृतोद्यमान्नाकरवम्। तदहं न जाने कस्मिन् वा निरये स्वकृतफलमुपभुञ्जानः स्थास्यामीति निर्विद्यमानस्तदैव क्वचिदहो रहो भुवि महोपनिषत्कल्पवल्लीफलसारं सारंग इव प्रभोश्चरितामृतं स्वादयन्नभिवादयन् मुहुर्मुहुरपि साधूनव्याधूतसंलाप-स्तिष्ठन्नुपविशन् प्रविशन्नपि भगवद्धामबद्धामलसेवानिष्ठस्तन्मना उन्मना इवाभिज्ञलोकैरालक्ष्यमाणो भक्तजनभजनानन्दनृत्याध्यायमध्येतुमुपक्रममाण इव रुचिनर्त्तक्या पाणिभ्यां गृहीत्वेव तत्तच्छिक्ष्यमाण इव काञ्चन-मुदमननुभूतचरीमुपलभे न जाने कुशीलवाचार्याभ्यां भावप्रेमभ्यां कालेन प्रविश्य नर्त्तयिष्यमाणः कस्यां वा निर्वृतिनीवृति विराजयिष्यतीति॥४॥

इति माधुर्य-कादम्बिन्यां उपलब्धास्वाद नाम पञ्चम्यमृतवृष्टिः॥५॥

भावानुवाद—हे सखे! श्रीकृष्ण नामामृतको त्यागकर तुम किसलिए दुष्परिग्रहकी—योगक्षेमरूपी विषय वार्त्तामें निमग्न हो रहे हो? मैं तुमसे क्या कहूँ? मुझे ही धिक्कार है; क्योंकि मुझ पापाचारीने श्रीगुरुचरणोंकी कृपासे भगवद्भक्तिको इस प्रकार प्राप्त किया जैसे अपने वस्त्रकी गाँठमें महारत्न बँधा हुआ हो। परन्तु उसका मर्म नहीं समझकर, झूठे लेशमात्र सुखको—जो कि एक कानी कौड़ीके बराबर है, इधर-उधर चारों ओर ढूँढ़ता हुआ घूम रहा हूँ। हाय-हाय! मैंने भगवद्भक्तिके अनुष्ठानको छोड़कर अन्य क्रिया-कलापोंमें वृथा ही सारी आयु नष्ट कर दी। भक्तिके किसी भी अङ्गको अङ्गीकार नहीं कर शक्तिके अभावका ही परिचय दे रहा हूँ। हाय-हाय! मेरी रसना भी मेरे जैसी ही है, जो मिथ्या, कटु ग्राम्यवार्त्ताओंको अमृतकी तरह अब तक चाटती रही और भगवान्‌के नाम, रूप, गुण एवं कथा आदिके आस्वादनमें आलसीकी तरह पड़ी रहती है। हाय-हाय! भगवत्-कथा सुननेके आरम्भमें ही मुझे नींद आने लगती है, किन्तु उसी समय कोई ग्राम्यवार्त्ता आरम्भ हो जाए तो नींद खुल जाती है और कान ऊँचे उठाकर उसे श्रवण कर मैंने अनेक बार साधु समाजको कलंकित किया है। कभी न भरनेवाले इस उदरकी पूर्तिके लिए बूढ़े होकर भी ऐसा कौनसा दुष्कर्म है, जिसके लिए मैंने प्रयत्न न किया हो? न जाने मुझे इन दुष्कर्मोंके फलोंको भोगनेके लिए किस नरकमें कितने समय तक वास करना पड़ेगा?

भक्त इस प्रकार निर्वेद अवस्थासे ग्रस्त होकर किसी दिन इस पृथ्वीतलपर महोपनिषद्‌रूप कल्पलताके फलके सारभूत श्रीभगवान्‌के चरितामृतको सारङ्गकी भाँति आस्वादन और अभिवादन करता हुआ ग्राम्यवार्त्ताओंका परित्याग कर देता है और साधु समाजमें निवास करते हुए भगवद्धाममें प्रवेश करता है। वहाँ निर्मल भगवत्-सेवानिष्ठ होकर अनभिज्ञ लोगोंके द्वारा वह उन्मत्त-सा दिखाई देता है। भक्तजनोंके भजनानन्दरूप नृत्यके अध्यायका अध्ययन करनेके लिए रुचिरूपी नर्तकी उसके दोनों हाथोंको पकड़कर उसे शिक्षा देने लगती है, जिससे अननुभूतपूर्व (जिसका अनुभव पहले कभी भी नहीं किया हो) परमानन्दका वह अनुभव करने लगता है। समय-समयपर भाव

और प्रेमरूप नटाचार्य जब उसको नचाने लगते हैं, तब वह किस अवस्थाको प्राप्तकर कैसा आनन्द लाभ करता है, उसका कोई क्या वर्णन कर सकता है?

उपलब्धास्वाद नामक पञ्चम्यमृतवृष्टिका भावानुवाद समाप्त॥५॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—ग्रन्थकार श्रीलचक्रवर्ती महोदय जातरुचि साधकोंके कायिक, वाचिक और मानसिक अनुभावोंको सहज रूपसे समझानेके लिए किसी जातरुचि साधककी चेष्टाका वर्णन कर रहे हैं। जिसके हृदयमें रुचि उत्पन्न हो गई है, उसे जातरुचि कहते हैं। ऐसा जातरुचि साधक अपने किसी मित्रसे कह रहा है—"हे सखे! श्रीकृष्ण नामामृतका त्यागकर तुम किसलिए दुष्परिग्रह अर्थात् अत्यन्त परिश्रमसे साध्य-विषयोंके संग्रह और उसके रक्षणमें निमग्न हो रहे हो?" जिस परिमाणमें साधकको श्रीकृष्ण नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें रुचि उत्पन्न होती है, उसीके तारतम्यानुसार श्रीकृष्णसे अतिरिक्त विषयोंमें उसकी अरुचि उत्पन्न होती है और प्राकृत विषयोंमें घृणाकी अनुभूति होती है। इसलिए प्रिय व्यक्तिका विषयसंग्रहमें आग्रह देखकर इस प्रकारसे वह दुःख प्रकाश करता है। भक्तिका स्वभाव ही ऐसा है कि साधकके अन्दरमें उसका लेशमात्र भी आलोकपात होनेपर साधक अपनेको सर्वथा अयोग्य और अधम समझकर स्वयंको धिक्कार देने लगता है। वही आर्ति उसको क्रमशः साधनके उन्नत सोपानोंमें ले जाती है।

जातरुचि साधक अपने मनको धिक्कार देते हुए कहता है—"हे सखे! तुम्हें और क्या कहूँ, मुझे ही धिक्कार है! मैं अत्यन्त पामर और घृणित हूँ। मैंने गुरुदेवकी कृपासे भगवद्भक्तिको इस प्रकार प्राप्त किया जैसे अपने वस्त्रकी गाँठमें महारत्न बँधा हुआ हो, किन्तु उसका तनिक भी आदर नहीं कर उदर भरण हेतु तुच्छ धनको ढूँढ़नेके लिए इधर-उधर भ्रमण करते हुए ग्राम्यवार्त्तामें निमग्न हो अपनी सारी आयुको वृथा ही गँवा दिया। मैं भजन नहीं कर सका। सब समय ग्राम्यवार्त्ता अथवा कृष्णकथाके अतिरिक्त मिथ्या विषयवार्त्ताको ही अपनी जिह्वासे अमृतकी भाँति चाटते हुए भगवान्के नाम, रूप, गुण

और कथाके श्रवणमें आलस्य करने लगा। हाय-हाय! भगवत्-कथा सुननेके आरम्भमें ही मुझे नींद आने लगती है और यदि उसी समय कोई ग्राम्यवार्त्ता आरम्भ हो जाए, तो नींद खुल जाती है और कान ऊँचे उठाकर उसे सुननेके लिए उत्सुक हो जाता हूँ। इस प्रकार न जाने मैंने कितनी बार साधु समाजको कलंकित किया है?" साधु समाजमें बैठकर हरिकथा श्रवण करनेके समय कोई श्रोता सोने लगता है, तो उसके प्रभावसे उसके निकटवर्त्ती श्रोता भी सोने लगते हैं। उस समय कोई आकर यह सब देखे तो वह समझता है कि इस सभाके लोग हरिकथा श्रवणके समय भी सो रहे हैं? अतः उसकी निन्दा दूसरोंमें संक्रमित होनेसे साधुसमाज कलुषित होता है। जातरुचि साधक अपनी पूर्व दशाका स्मरणकर इस प्रकार अपनेको धिक्कार दिया करते हैं।

जातरुचि भक्त पुनः खेद करते-करते कहते हैं, कभी नहीं भरनेवाले इस उदरकी पूर्तिके लिए मैंने बूढ़े होकर भी ऐसा कौन-सा दुष्कर्म है, जिसके लिए प्रयत्न न किया हो? न जाने मुझे इन दुष्कर्मोंके फलोंको भोगनेके लिए किस नरकमें कितने समय तक वास करना पड़ेगा? इस प्रकार भक्त निर्वेद अवस्थासे ग्रस्त होकर किसी दिन इस पृथ्वीतलपर महत्पुरुषोंके श्रीमुखसे विगलित महोपनिषद् कल्पवल्लीके सारस्वरूप श्रीहरिके चरितामृतको चकोरकी भाँति बार-बार आस्वादन करते-करते ग्राम्यवार्त्ताको छोड़कर साधुसमाजमें निवास करता है। कभी-कभी भगवान्के श्रीमन्दिरमें प्रवेशकर निर्मल भगवत्-सेवानिष्ठ होकर उसमें निमग्न हो जाता है। इस प्रकार श्रवण, कीर्त्तन, अर्चन आदि प्रत्येक भक्त्यङ्ग जातरुचि साधकको परम स्वादिष्ट लगता है। अनभिज्ञ लोग उसे पागल समझते हैं। रुचिरूपी निपुण नर्तकी उसके हाथोंको पकड़कर भक्तसमाजमें उसको भक्तजनोंके परमानन्द दायक भजनानन्दरूप नृत्यकी शिक्षा दिया करती है। उस समय वह अननुभूत आनन्दको प्राप्त किया करता है। समय-समयपर भाव और प्रेमरूप गुरुओं द्वारा नचानेपर वह जिस आनन्दका अनुभव करता है, उस आनन्दकी सीमाका वर्णन कौन कर सकता है? उसे वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं होगा।

वस्तुवैशिष्ट्य-अनपेक्षणी रुचि उत्पन्न होनेपर किस प्रकार परिपक्व अवस्थाको प्राप्त होती है, यहाँ उस क्रमका वर्णन किया गया है। समय-समयपर यही रुचि बढ़कर भाव और प्रेमका रूप धारण करती है—ग्रन्थकारने यहाँ यही दिखलाया है। किन्तु, भावके पूर्व जो आसक्तिका स्तर है, उसे षष्ठामृतवृष्टिमें वर्णन करेंगे।

उपलब्धास्वाद नामक पञ्चम्यमृतवृष्टिकी
पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त॥५॥

षष्ठ्यमृतवृष्टिः

‘रुचि’—भजनविषयक, ‘आसक्ति’—भजनीयविषयक

अथ सैव भजनविषया रुचिः परमप्रौढ़तमा सती यदा भजनीयं भगवन्तं विषयीकरोति तदेयमासक्तिरित्याख्यायते। यैव भक्तिकल्पवल्याः स्तवकीभावमासादयन्ती भावप्रेमणी पुष्पफले अचिरादेव भाविनी द्योतयति। रुचिर्भजनविषया आसक्तिर्भजनीयविषयेति भूम्नैव व्यपदेशः। वस्तुतस्तूभे अप्युभयं विषयीकरोत्येव। अप्रढौत्वप्रौढत्वाभ्यामेव भेदः। आसक्तिरेवान्तः-करणमुकुरं तथा मार्जयति यथा तत्र सहसा प्रतिबिम्बितो भगवानवलोक्यमान इव भवति। हन्त विषयैराक्रम्यते मदीयं चेतस्तदिदं भगवति निदधामीति भक्तस्य विधित्सान्तरमेव प्रायो विषयेभ्यो निष्क्रम्य तद्रूपगुणादौ यत् प्रवेशशीलं पूर्वदशायामासीत् तदेव चित्तमासक्तौ जातायां विधित्सातः पूर्वमेव स्वयमेव तथाभूतं भवेत्। यथा भगवद्रूपगुणादिभ्यो निष्क्रम्य वार्त्तान्तिरे चेतः कदा प्रविष्टमिति प्राप्तनिष्ठेनापि भक्तेन नानुसन्धातुं शक्यते तथैव वार्त्तान्तरतो निष्क्रम्य भगवद्रूपगुणादिषु कदा प्रविष्टं स्वचेत इत्यासक्तिरनासक्तेन न लक्ष्यते। आसक्तिमता भक्तेन तु तल्लक्ष्यते॥१॥

भावानुवाद—तदनन्तर पूर्वोक्त भजनविषय रुचि परम प्रौढ़तम होकर जब भजनीय श्रीभगवान्‌को ही विषय बनाती है, तब उसको आसक्ति कहते हैं। यही आसक्ति भक्तिकल्पलताके स्तवक भावको प्राप्तकर अतिशीघ्र ही भावरूप पुष्प और प्रेमरूप फलको उत्पन्न करनेकी सूचना देती है। रुचि भजन-विषय और आसक्ति भजनीय-विषय होती है। इस लक्षणसे रुचि और आसक्ति अपने-अपने विषयकी प्रधानताको लक्षित करती है। अप्रौढ़त्व और प्रौढ़त्वके भेदसे ही इनमें भेद जानना चाहिए। आसक्ति भक्तके अन्तःकरणरूप दर्पणको इस प्रकार मार्जित करती है कि उसमें सहसा प्रतिबिम्बित होनेवाले भगवान् दिखते हुए से प्रतीत होते हैं। “हाय! मेरा चित्त विषयोंके द्वारा

आक्रान्त हो रहा है, मैं इसे श्रीभगवान्‌में नियुक्त करूँ"—भक्त द्वारा इस प्रकारकी चेष्टा करनेपर जो चित्त रुचिकी अवस्थामें प्रायः विषयोंसे निकलकर श्रीभगवान्‌के रूप और गुण आदिके चिन्तनमें प्रविष्ट होता था, आसक्ति होनेपर कोई भी चेष्टा करनेसे पहले स्वतः ही इस अवस्थाको प्राप्त करता है। जिस प्रकार निष्ठा-प्राप्त भक्त यह नहीं जान पाता कि कब और कैसे उसका चित्त श्रीभगवान्‌के रूप, गुणादिके चिन्तनसे निकलकर अन्य लौकिक विषयोंमें प्रविष्ट हो गया, उसी प्रकार आसक्तिरहित साधक यह नहीं समझ सकता कि कब और कैसे आसक्तिसम्पन्न चित्त भगवत्-इतर अन्य बातोंसे निकलकर स्वतः श्रीभगवान्‌के रूप, गुणादिके चिन्तनमें लग जाता है। किन्तु आसक्तिशील भक्त इसे लक्ष्य कर लेता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीपाद ग्रन्थकार अब यहाँ आसक्तिके स्तरका लक्षण वर्णन कर रहे हैं। भजन-विषयनी रुचि अर्थात् श्रवण, कीर्त्तन आदि भजनाङ्गको विषयकर परिवर्तित होनेवाली रुचि, जब प्रगाढ़ होकर भगवान्‌को विषय बनाकर परिवर्तित होती है, तब उसको आसक्ति कहते हैं। रुचिमान भक्तको श्रवणादि भजनाङ्गमें रुचि होती है और आसक्तिमान भक्तको अपने अभीष्ट देवमें आसक्ति उत्पन्न होती है। किसी लतामें पुष्प और फल उत्पन्न होनेसे पूर्व स्तवक दृष्टिगोचर होते हैं। वे स्तवक यह सूचित करते हैं कि शीघ्र ही उस लतामें फूल और फल उत्पन्न होंगे। उसी प्रकार आसक्ति उत्पन्न होनेपर यह सूचित होता है कि शीघ्र ही साधककी भक्तिकल्पलतामें भावरूप पुष्प और प्रेमरूप फल उदित होनेवाले हैं।

रुचि भजन-विषयमें होती है और आसक्ति भजनीय श्रीभगवान्‌में होती है अर्थात् रुचिका प्रधान विषय भजन है और आसक्तिका प्रधान विषय श्रीभगवान् हैं। रुचि और आसक्तिका यही लक्षण बतलाया गया है। वास्तवमें ये दोनों ही भजन और भजनीयको अपना विषय बनाती हैं। तात्पर्य यह है कि रुचिमान भक्तकी भजनमें तो रुचि है, किन्तु उसमें श्रीभगवान्‌के प्रति आसक्ति नहीं है—ऐसी बात नहीं है। भगवान्‌में आसक्तिकी अपेक्षा भजनमें रुचिकी प्रधानता रहती है। इधर

आसक्तमान भक्तकी भगवान्‌में आसक्ति उत्पन्न होनेपर भजनमें रुचि नहीं रहती—ऐसी बात भी नहीं है। उस समय आसक्तिकी ही प्रधानता होती है। इस प्रकार दोनों ही दोनोंको विषयकर परिवर्तित होती हैं। अर्थात् भजनरुचि भगवत्-आसक्तिको अवलम्बन करती है और भगवत्-आसक्ति भी भजनरुचिको अवलम्बन करती है। इसका तात्पर्य यह है कि भजनरुचिको छोड़कर भगवत्-आसक्ति नहीं होती और भगवत्-आसक्तिसे रहित होकर भजनरुचि भी नहीं होती; क्योंकि रुचि ही परिपक्व अवस्थामें आसक्ति कहलाती है। यही आसक्ति भक्तके चित्तरूपी दर्पणको इस प्रकारसे परिमार्जित करती है कि भगवान् उसमें प्रतिबिम्बित होकर मानो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगते हैं। जीवोंके चित्तके अति समीप ही भगवान् विराजमान रहते हैं, किन्तु जीवके चित्तरूपी दर्पणपर अनादिकालसे विषय वासनारूप मल लिप्त होनेके कारण उसमें श्रीहरिका माधुर्य प्रतिबिम्बित नहीं होता। आसक्तिके उदित होते ही चित्तरूपी दर्पण अतिशय रूपमें मार्जित हो जाता है और श्रीहरि उसमें प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिगोचर होते हैं।

रुचिसे आसक्तिकी एक और भी विलक्षणता है। वह यह है कि रुचिके स्तरमें साधक विषयमें प्रविष्ट चित्तको बुद्धिपूर्वक विषयसे आकर्षणकर भगवान्‌में लगता है, किन्तु आसक्तिके स्तरमें साधकका चित्त बिना चेष्टाके अनायास ही भगवान्‌में निविष्ट हो जाता है। साधकके लिए यह एक आकांक्षणीय अवस्था है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भगवान्‌के रूप, गुणादिसे निकलकर साधकका चित्त कब भगवत्-इतर वार्त्ताओंमें प्रविष्ट हुआ—निष्ठासम्पन्न भक्त यह नहीं जान पाता। उसी प्रकार कब और कैसे भगवत्-इतर वार्त्ताओंसे निकलकर चित्त भगवान् श्रीहरिके रूप, गुणादिमें अभिनिविष्ट हो गया—जिनको आसक्ति उत्पन्न नहीं हुई है, वे इसे जान नहीं पाते। किन्तु आसक्तिमान भक्त इसे लक्ष्य कर पाता है। इसीलिए रुचिके स्तरमें भगवान्‌के रूप, गुणादिका ध्यान आसक्तिके स्तरमें और भी प्रगाढ़ हो जाता है। ऐसा समझना चाहिए। "रुचिरभिलाषः किन्तु बुद्धिपूर्विकेयं आसक्तिस्तु स्वारसिकी स्वभाविकीत्यर्थः" (भ. र. सि.

१/४/१५-१६ श्रीजीवगोस्वामीकी टीका)। अर्थात् रुचिके स्तरमें भगवत्प्राप्त्यभिलाष, आनुकूल्याभिलाष और सौहार्द्याभिलाष बुद्धिपूर्वक होती है, किन्तु आसक्तिके स्तरपर स्वाभाविक हो जाती है।

आसक्तियुक्त भक्तका आचरण तथा उसके प्रति विभिन्न लोगोंकी धारणा

ततश्च प्रातः 'कुतस्त्योऽपि भो भोः कण्ठलम्बितश्रीशालग्रामशिला-सुन्दरसम्पुटो लघुलघूच्चारितश्रीकृष्णनामामृतास्वादप्रतिक्षणलोलितरसनः प्रेक्ष्यमाण एव दुर्भगं मामुल्लासयसि कस्मिंश्चिदर्थे तत् कथय कुत्र कुत्र वा तीर्थे भ्रमन् केषां दृष्ट्या केषां वा भगवदनुभवानामास्पदीभवन्नात्मान-मन्यञ्चाकृतार्थयः।' इत्युद्भावित संलापामृतपानयापितकतिपयक्षणः पुनरन्यतो गत्वा 'भोः कक्षनिक्षिप्तमनोहरपुस्तक विलक्षणया श्रिया विद्वानेवानुमीयसे तद्व्याचक्ष्व दशमस्कन्धीयं पद्यमेकं जीवय श्रुतिचातकीं तदर्थामृतवृष्ट्या' इति तद्व्याख्यया रोमाञ्चितगात्रः पुनरन्यतो गत्वा 'हन्ताधुनैवाहं कृतार्थी भविष्यामि यदियं सभैव सद्य एव मम समस्तदुष्कृतध्वंसिनी' इति विरचितदण्डवदवनिप्रणिपातपुरःसरप्रणतिविनतिकः तत्सभामुकुटमणिना महाभागवतवर्येण परमविदुषा सरसमाद्रियमाणः संकुचिततनुस्तदन्तिक-कृतोपवेश एव 'भोः त्रिभुवनजीवभवनमहाभवरोगभिषक्शिरोमणे धृत्वैव धमनीमधमस्यापि मे महादीनस्य निरूपय रुजं समादिशस्व पथ्यौषधे केनापि प्रयुक्तेन महारसायनेन मदभीप्सितां पुष्टिमपि सम्पादय' इति सास्त्रं याचमानस्तत्कृपावलोकमधुरवाङ्मयामृतनिष्यन्दनन्दितस्तच्चरण-परिचरणनीतपञ्चषड्वासरः सरसमटन्नपि कदाचिदटवीं यदि मयि वर्त्तते कृष्णस्य कृपावलोकस्तदायं दूरतः पुरोऽवलोक्यमानः कृष्णसारस्त्रिचतुराणि पदानि मदभिमुखमायातु न चेन्मां पृष्ठीकरोत्विति नैसर्गिकीरपि मृगपशुपक्षिचेष्टास्तदनुग्रहनिग्रहलिङ्गतयैव जानन् ग्रामोपशल्येऽपि खेलतो विप्रबालकान् सनकादीनिव 'किमहं व्रजेन्द्रकुमारं प्राप्स्यामि' इति पृष्ट्वा तद्दत्तमुत्तरं मेति मुग्धाक्षरं दुर्बोधार्थतया सुबोधार्थतया वा परामृष्य स्वगृहमध्यमध्यास्यापि महाधनगृध्नुः कृपणवणिगिव 'क्वाहं यामि किं करोमि केन व्यापारेण मे तदभीष्टवस्तुजातं हस्तगतं स्याद्' इति

परिम्लानवदनश्चिन्तयन् स्वपन् उत्तिष्ठन् उपविशन् परिजनैः कारणं पृच्छमानोऽपि कदाचिन्मूक इव कदाचिदवहित्थामालम्बमानः साम्प्रतमभूदयं छन्नबुद्धिरिति बन्धुभिः स्वभावत एवायं जड इति प्रतिवेशिभिरज्ञैर्मूर्ख इति मीमांसकैः भ्रान्त इति वेदान्तिभिः भ्रष्ट इति कर्मिभिरहो महासारं वस्तु समधिगतम् इति भक्तैर्दाम्भिक इति तत्रापारधिभिः परामृष्यमाणो मानापमानविचारविधुरो भगवदासक्तिस्वर्धुनीप्रवाहपतित एव चेष्टते भक्त इति ॥२॥

इति माधुर्य-कादम्बिन्यां मनोहारिणीनाम षष्ठ्यमृतवृष्टिः ॥६॥

भावानुवाद—आसक्तियुक्त भक्तके आचरणका वर्णन करते हुए कहते हैं कि एक आसक्तिमान भक्त प्रातःकाल किसी साधुका दर्शन पाकर उनसे कहने लगा—"आप कहाँसे पधारे हैं? आपके गलेमें शालग्राम शिलाका सुन्दर पुष्प सम्पुट लटक रहा है। आप धीर-धीरे श्रीकृष्णनाम उच्चारणकर नामामृतका आस्वादन करते हुए अपनी रसनाको थोड़ा-थोड़ा हिला रहे हैं। आप मुझ जैसे दुर्भागे व्यक्तिको दर्शन देकर न जाने क्यों परमानन्दित कर रहे हैं? आपने कौन-कौनसे तीर्थस्थलोंमें भ्रमण किया है, वहाँ किन-किन महात्माओंके दर्शन किए हैं और किन-किन श्रेष्ठभक्तोंके भगवत्-अनुभवोंको प्राप्तकर स्वयंको एवं दूसरोंको कृतार्थ किया है।" इस प्रकार सुन्दर वार्त्तालापमें कुछ समय बिताकर वह फिर किसी दूसरे स्थानपर जाकर किसी श्रीमद्भागवतके पाठकको देखकर कहने लगा—"आपकी बगलमें मनोहर पुस्तककी सुन्दर विलक्षण शोभाका दर्शनकर आपको मैं श्रीमद्भागवत पुराणादिका वक्ता समझ रहा हूँ। अतएव आप अनुग्रहकर दशमस्कन्धके एक श्लोककी व्याख्यारूप अमृतवृष्टिसे मेरे श्रवणरूप चातकोंको जीवन प्रदान कीजिए।" इस प्रकार उनसे श्रीमद्भागवतके श्लोककी व्याख्या सुनकर उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया।

फिर वह अन्यत्र स्थानपर जाकर वहाँ साधुसमाजमें उपस्थित होता है और कहता है—"अहा! अब मेरा जीवन कृतार्थ हो जाएगा; क्योंकि ये सब महात्मा अभी-अभी मेरे समस्त पापोंको विनष्ट कर देंगे।" यह कहकर उसने वहाँ भूतलपर पतित होकर उनको दण्डवत्-

प्रणाम किया। उस सभाके सर्वश्रेष्ठ परम भक्त द्वारा प्रीतिपूर्वक आदर प्राप्तकर अति संकुचित होकर उनके पास बैठ गया और बोला—"त्रिभुवनके समस्त जीवोंके महाभवरोगको विनाश करनेवाले हे वैद्यशिरोमणे! आप मुझ महादीन अधमकी नाड़ी परीक्षाकर मेरे रोगका निरूपण करें तथा ऐसे महारसायन औषधि और पथ्यका आदेश करें जिससे मेरे अभीष्टकी पुष्टि हो।" इस प्रकार नेत्रोंमें आँसू भरकर उनसे कृपाभिक्षा माँगकर उनकी कृपादृष्टि और उपदेशामृतको ग्रहणकर आनन्दित हो गया और पाँच-छह दिन उनकी सेवा-परिचर्यामें उसने व्यतीत किए।

कभी-कभी प्रेमाविष्ट होकर वन-वनमें भ्रमण करते हुए कहने लगा—"यदि मेरे ऊपर कृष्णकी कृपादृष्टि है तो वह कृष्णसार मृग जो दूरसे मुझे देख रहा है, मेरी तरफ तीन-चार पग चला आवे। नहीं तो मेरी ओर पीठकर चला जाए।" इस प्रकार मृग और पशु-पक्षियोंकी स्वाभाविक चेष्टाओंको भी भगवान्‌के अनुग्रह तथा निग्रहका लक्षण समझने लगा। एक ग्राम प्रान्तमें अस्फुट मधुर बोलनेवाले ब्राह्मण बालकोंको खेलते हुए देखकर उनको सनकादि ऋषियोंकी भाँति जानकर उनसे पूछने लगा—"क्या मैं श्रीव्रजेन्द्रनन्दनको प्राप्त कर सकूँगा?" उनके स्पष्ट उत्तरको भी कभी दुर्बोध और कभी सुबोध जानने लगा, कभी घरमें बैठकर महाधनी, किन्तु कृपण वणिककी तरह "मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, कैसे अपनी उस अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करूँ?" यह सोचता हुआ व्याकुल होकर और कभी उदास होकर चिन्ता करने लगा। कभी सोता ही रहता, कभी उठकर खड़ा हो जाता है, कभी बैठा ही रहता। यदि आत्मीय स्वजन इन बातोंका कारण पूछते हैं तो गूँगेकी तरह बैठा रहता। कभी लज्जित होता है। उसकी उक्त दशाको देखकर उसके बन्धु-बान्धव कहने लगते हैं कि इसकी बुद्धि ठीक नहीं है, अज्ञ पड़ोसी कहते हैं कि यह तो स्वभावसे ही जड़ है, मीमांसकगण कहते हैं कि यह मूर्ख है, वैदान्तिक कहते हैं कि यह भ्रान्त है, कर्मी कहते हैं कि यह भ्रष्ट हो गया है और भक्त कहते हैं—"अहो! इसने महान सार वस्तुको प्राप्त कर लिया है।" भक्तापराधी लोग कहते हैं कि यह बड़ा

दाम्भिक है। किन्तु, वह भक्तप्रवर लौकिक मानापमानके विचारसे रहित होकर भगवत्–आसक्तिरूप स्वर्ग मन्दाकिनीके प्रवाहमें पड़ा हुआ उक्त रूपसे विविध प्रकारकी अलौकिक चेष्टाएँ करता रहता है।

मनोहारिणी नामक षष्ठ्यमृतवृष्टिका भावानुवाद समाप्त॥६॥

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—ग्रन्थकार श्रीलचक्रवर्ती महोदयने आसक्तिके स्तरमें उपनीत हुए भक्तोंकी चेष्टाका एक अत्यन्त सुन्दर और अनुपम चित्र प्रस्तुत किया है। आसक्ति उत्पन्न होनेपर भक्त अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त व्यग्र हो जाता है। वह कहीं एक स्थानपर स्थिर नहीं रह पाता। घरके बाहर इधर–उधर भ्रमण करने लगता है। किसी वैष्णव साधुका दर्शनकर अपने जीवनको कृतार्थ समझता है। प्रगाढ़ श्रद्धा और प्रीतिपूर्वक उनसे भजन विषयक नाना प्रकारके प्रश्न किया करता है।

कभी–कभी किसी भागवत पाठकको देखकर श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धसे श्रीकृष्णके माधुर्य सम्बन्धी किसी श्लोकका पाठ और उसकी व्याख्या श्रवणकर परमानन्दका अनुभव करता है और उसके सारे अङ्गोंमें रोमाञ्च हो उठता है। रुचि ही प्रगाढ़ अवस्थामें आसक्ति होती है। अतः आसक्तियुक्त भक्तकी श्रीकृष्णलीलाकथामें प्रगाढ़ रुचिका उदय हुआ करता है।

कभी–कभी चित्तमें विक्षेप होनेपर अन्यत्र गमनकर किसी साधुसमाजका दर्शनकर अपने जीवनको सार्थक मानने लगता है। वह उन्हें महाभवरोगका विनाश करनेके लिए सुनिश्चित रूपमें वैद्यशिरोमणिके रूपमें मानता है। वह उस वैष्णवसभाके श्रेष्ठ महत्पुरुषके निकट अत्यन्त व्याकुल होकर भवरोगकी औषधि और पथ्यके विषयमें तथा किस प्रकार वह शीघ्रसे शीघ्र अभीष्ट प्राप्त कर सकता है—इस विषयमें बहुतसे प्रश्न करता है। उनके कृपापूर्ण उपदेशसे अपनेको कृतार्थ समझकर कुछ दिन उनकी सेवामें व्यतीत करता है। उसके हृदयकी आसक्ति उसे कभी भी एक स्थानपर स्थिर नहीं रहने देती। "कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, कैसे कृष्णको पाऊँ?"—इस प्रकार उसकी अवस्था हो जाती है।

कभी-कभी चित्तमें विक्षेपके कारण वन-वनमें डोलता हुआ सामने किसी कृष्णसार मृगको देखता है, तो सोचता है—"अहो! इस मृगका नाम कृष्णसार है। इसने कृष्णको सार किया है। अतः यदि यह मेरी तरफ तीन-चार पग अग्रसर होता है, तो मैं यह समझूँगा कि मेरे प्रति श्रीकृष्णकी कृपा है और यदि मुझे पीछे रखकर भाग जाता है, तो मैं ये समझूँगा कि मेरे ऊपर कृष्णकी कृपा नहीं है।" इस प्रकार मृग और पशु-पक्षियोंकी स्वाभाविक चेष्टाओंको भी भगवान्के अनुग्रह तथा निग्रहका लक्षण समझता है। अर्थात् वह हर बातमें भगवत्कृपाकी बाट ताकता रहता है।

कभी-कभी किसी ग्रामकी सीमापर नन्हें-मुन्हें ब्राह्मण बालकोंको खेलते हुए देखता है, तो उन्हें श्रीसनकादि मुनियोंकी स्फूर्ति हो उठती है और उनसे प्रश्न करने लगता है—"क्या मुझे कृष्णकी प्राप्ति होगी?" उसके प्रश्नको सुनकर बालकोंमेंसे कोई अस्फुट वचनोंसे यदि कहता है—"नहीं।" तो यह सुनकर दुःखपूर्वक हाय-हाय करता हुआ रोदन करता है। उसे रोदन करते हुए देखकर यदि कोई कह देता है कि 'पावोगे' तो आनन्दके मारे नृत्य करने लगता है।

कभी उदासीन होकर घरमें चुपचाप बैठा रहता है, कभी परम उदासीन होकर सोचता है कि "मुझे कब भगवत्-प्राप्ति होगी? कहाँ जाऊँ? क्या करनेसे मुझे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी?" स्नान, भोजन आदि दैहिक क्रियाओंको भी भूल जाता है। कभी सोता है, कभी झटसे उठकर खड़ा हो जाता है। घरके परिजन लोगोंके द्वारा कारण पूछनेपर कुछ भी नहीं कहता। उनके निकट अपने भावोंको गुप्त रखनेकी चेष्टा करता है।

घरके बन्धु-बान्धव लोग तो यह समझने लगते हैं कि इसकी बुद्धि बिगड़ गई है। अज्ञ पड़ोसी उसकी ऐसी चेष्टाएँ देखकर उसे ज्ञान-बुद्धिहीन आलसी, जड़ कहने लगते हैं। कोई उसे मस्तिष्कका रोगी अनुमान करते हैं। तर्कशील मीमांसक उसे मूर्ख समझते हैं। मायावादी वेदान्तिक उसे भ्रान्त और कर्ममें निष्ठा रखनवाले उसे भ्रष्ट मानते हैं। भक्तोंके प्रति जो सदा अपराध करनेवाले हैं, वे उसे दाम्भिक और कपटी कहते हैं। उपर्युक्त लोगोंकी भगवत्-बर्हिमुखता

और भगवद्भक्ति तत्त्वकी नितान्त अनभिज्ञता ही इन सब विपरीत धारणाओंका कारण है। वे न तो भगवद्भक्तिकी महिमा जानते हैं, न भक्तिके लक्षण और न ही उन्हें भगवद्भक्तिकी अवस्थाओंका परिचय होता है। वे केवल सांसारिक व्यवहारमें ही कुशल होते हैं या अपनी बुद्धि द्वारा तन, मन एवं बुद्धिसे अगोचर तत्त्वको माप-तोल करनेवाले होते हैं। मायावादी तो भगवान्‌के अपराधी होते ही हैं। वे भक्तकी आनन्दास्वादन-वैचित्रीको क्या जानें? स्वयं भ्रान्त होनेके कारण भगवद्भक्त भी उन्हें भ्रान्त ही दीखते हैं। क्या, सारा जगत ही उन्हें भ्रान्त प्रतीत होता है। इसलिए केवल भगवद्भक्त ही ऐसे आसक्तिवान भक्तको पहचान सकते हैं। हीरेकी पहचान जौहरी ही जानता है, तेली या कुम्हार नहीं। अतः भक्तितत्त्वविद् भगवद्भक्त उस आसक्तिवान भक्तको पहचान लेते हैं। वे समझ जाते हैं कि इस भाग्यवानको महान सार वस्तु श्रीभगवद्भक्तिकी प्राप्ति हुई है और इसका जीवन सफल हो गया है। इस प्रकार भक्तोंको छोड़कर अन्योंके निकट दुर्लक्ष्य होकर वह महासौभाग्यवान आसक्त भक्त मानापमानको छोड़कर भगवत्-आसक्तिरूप मन्दाकिनीके प्रवाहमें पतित होकर विविध प्रकारकी चेष्टाएँ प्रकाश करते हुए क्रमशः प्रेमसिन्धुकी तरफ अग्रसर हुआ करते हैं।

मनोहारिणी नामक षष्ठ्यमृतवृष्टिकी
पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त॥६॥

सप्तम्यमृतवृष्टिः

भाव द्वारा श्रीकृष्ण प्राकट्य

अथ सैवासक्तिः परमपरिणामं प्राप्तवती रत्यपरपर्यायो भाव इत्याख्यां लभते। य एव सच्चिदानन्द इति शक्तित्रिकस्य स्वरूपभूतस्य कन्दलीभावं भजते। यमेव खलु भक्तिकल्पवल्या उत्फुल्लं प्रसूनमाचक्षते। यस्य च बाह्यैव प्रभा सर्वैः सुदुर्लभा आभ्यन्तरी तु मोक्षमपि लघुकरोति। यस्य च परमाणुरेक एव तमः समस्तमुन्मूलयति। यस्य परिमलैः प्रसृमरैः मधुसूदनं निमन्त्र्यानीय तत्र प्रकटीकर्तुं प्रभूयते। किं बहुना यैरेव वासिताश्चित्त–वृत्तितिलवितततयो द्रवीभावमासाद्य सद्य एव भगवदङ्गमखिलमेव स्नेहयितुं योग्यतां दधते। यः खल्वाविर्भवन्नेव स्वाधारं श्वपचमपि ब्रह्मादेरपि नमस्यत्वमापादयति।

भावानुवाद—यही आसक्ति परम परिपक्व होकर भाव–नाम धारण करती है। भावका ही दूसरा नाम रति है। यही भाव सत्, चित् और आनन्द—इन तीन स्वरूपशक्तियोंका कन्दलीभाव अर्थात् मुकुलित अवस्था है। इसे ही भक्तिकल्पलताका प्रफुल्लित पुष्प कहा जाता है। इसकी बाहरी प्रभा ही सबके लिए सुदुर्लभ है और इसकी आन्तरिक प्रभा तो मोक्षको भी तुच्छ कर देती है। इसका एक परमाणुमात्र ही समस्त अज्ञानरूप अन्धकारको मूलसे नष्ट कर देता है। इस भावपुष्पकी सुगन्धि फैलकर श्रीमधुसूदनको निमन्त्रणपूर्वक प्रकट करा देती है। अधिक क्या कहा जाए, भावके द्वारा सुवासित चित्तवृत्ति द्रवीभूत होकर तत्क्षणात् श्रीभगवान्के निखिल अङ्गोंको स्नेह–सिञ्चित करनेमें समर्थ होती है। आविर्भूत होनेपर यह भाव अपने आधार चाण्डालको भी ब्रह्मा आदिके द्वारा वन्दनीय बना देता है।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—परिपक्व दशामें आसक्ति ही भावके रूपमें परिणत होती है। भावको ही रति कहते हैं। यही भाव सत्, चित्

और आनन्द—इन स्वरूपभूत शक्तियों अर्थात् सम्वित्, सन्धिनी और ह्लादिनीकी मुकुलित अवस्था है। श्रीरूपगोस्वामी भावका लक्षण निरूपण करते हुए कह रहे हैं—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥
(भ. र. सि. १/३/१)

अर्थात् "पूर्वोक्त साधनभक्ति रुचि द्वारा चित्तकी आद्रता सम्पादित होनेपर भावभक्ति होती है। यह भावभक्ति शुद्धसत्त्वविशेष स्वरूप है। प्रेमभक्तिरूप सूर्यकी किरणके समान अर्थात् उदित होते हुए सूर्यके प्रथम अङ्कुरके समान है।" यह भाव या रति—प्रेम और उसके परिणाम स्नेह, मान, प्रणय आदि सब प्रकारके स्थायीभावोंके अङ्कुर स्वरूप है। इस भावसे सर्वोच्च महाभाव तक की अवस्था प्रकाशित होगी, इसी अभिप्रायसे "शुद्धसत्त्व-विशेषात्मा" पदके द्वारा भावके स्वरूप लक्षणको बतलाया गया है। "प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्" और "रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृत्" ये दोनों पद भावके तटस्थ लक्षण हैं।

यहाँ 'शुद्धसत्त्वविशेष' कहनेसे श्रीभगवान्‌की सम्वित्, सन्धिनी और ह्लादिनी—इन तीन प्रकारकी शक्तियोंमेंसे ह्लादिनी नामक महाशक्तिकी सारवृत्तिसे युक्त सम्वित्‌के सारांशको समझना होगा।

श्रीलचक्रवर्ती ठाकुरने भक्तिरसामृतसिन्धुके शुद्धसत्त्वविशेषात्मा श्लोककी टीकामें इस प्रकार लिखा है—पूर्वोक्त साधनभक्तिमें रुचि तथा भगवत्प्राप्तिकी अनुकूल अभिलाषा और सौहार्द्र अभिलाषा द्वारा चित्तकी आर्द्रता सम्पादित होनेपर उसे भावभक्ति कहते हैं। उसका स्वरूप है 'शुद्धसत्त्वविशेषात्मा'। 'शुद्धसत्त्व' कहनेसे भगवानकी स्वरूप-शक्तिकी स्वप्रकाश सम्वित् वृत्तिका बोध होता है। 'शुद्धसत्त्वविशेष' पदसे स्वरूपशक्तिकी दूसरी ह्लादिनी नामक महाशक्तिका बोध होता है। इससे शुद्धसत्त्वविशेषमें इस ह्लादिनीकी सर्वोच्चावस्था महाभाव भी अन्तर्भुक्त है, ऐसा समझना होगा। अतएव सम्वित् और ह्लादिनी दोनों शक्तियोंके सम्मिलित सार स्वरूपमें भगवान्‌के नित्य परिकरोंके हृदयमें तादात्म्य भावसे अवस्थित आनुकूल्य इच्छामयी परम प्रवृत्तिको ही

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा समझना चाहिए। सरल शब्दोंमें श्रीकृष्णके नित्य परिजनोंके आधारमें स्थित नित्यसिद्ध भावको ही शुद्धसत्त्वविशेष कहा जाता है। यह भावभक्ति प्रेमरूप सूर्यकी प्रथम किरणोंके समान है। इसलिए इसे प्रेमका अङ्कुर भी कहते हैं।

श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने श्रीचैतन्यचरितामृमें उक्त श्लोककी व्याख्या सरल सहज शब्दोंमें की है। पाठकोंकी सुविधाके लिए उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। प्रेमभक्ति ही साधनभक्तिका फल है। प्रेमभक्तिकी दो अवस्थाएँ हैं—भावावस्था और प्रेमावस्था। प्रेमसूर्यके साथ तुलना करनेपर भावको उस प्रेमसूर्यकी प्राथमिक किरण कहा जा सकता है। भाव विशुद्धसत्त्वस्वरूप रुचिके द्वारा चित्तको आर्द्र करता है। पहले भक्तिका साधारण लक्षण बतलाते हुए जिस कृष्णानुशीलनका उल्लेख किया गया है, वही कृष्णानुशीलन जिस अवस्थामें विशुद्धसत्त्व स्वरूप हो पड़ता है और रुचिके द्वारा चित्तको कोमल अर्थात् आर्द्र करता है, उस अवस्थाको भाव कहते हैं। भाव मनोवृत्तिपर आविर्भूत होकर मनोवृत्तिकी स्वरूपताको प्राप्त करता है। तत्त्वतः भाव स्वयं प्रकाशक है, परन्तु मनोवृत्तिगत होकर प्रकाशित होनेसे 'प्रकाश्य' रूपमें प्रतीत होता है। यहाँ जिसको भाव कहा गया है उसीका दूसरा नाम रति है। रति स्वयं आस्वाद्य होनेपर भी श्रीकृष्ण आदि विषयको आस्वादन करनेमें हेतुके रूपमें ग्रहण की गई है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि रति चित्–तत्त्वका भाव है। वह जड़ अन्तर्गत तत्त्व नहीं है। बद्धजीवोंकी जड़विषयोंमें जो रति होती है, वह उस जीवके चित्–विभागगत भावकी जड़ सम्बन्धसे उत्पन्न विकृतिमात्र है। जिस समय जड़में भगवत्–अनुशीलन होता है उस समय वह रति सम्वित् अंशमें भगवत्–सम्बन्धी आलोच्य विषयोंके आस्वादनका हेतु होती है। उस समय ह्लादिनीके अंशसे स्वयं आह्लाद प्रदान करती है।

श्रील ग्रन्थकार यह भी कह रहे हैं कि भाव या रति ही भक्तिकल्पलताके प्रफुल्लित पुष्पके सदृश है। इस पुष्पकी बाह्य प्रभा बहुत ही सुदुर्लभ है अर्थात् प्रचुर साधनके फलसे साधु, गुरु और श्रीहरिकी कृपासे यह सुदुर्लभ भाव सम्पत्ति प्राप्त हुआ करती है। इसकी आन्तरिक शोभा ज्ञानी एवं योगियोंके बहुत परिश्रमसे प्राप्त

मोक्षको भी तुच्छ किया करती है। भावभक्तिके दो गुण हैं—मोक्षलघुताकृत और सुदुर्लभा। उसमेंसे मोक्षलघुताकृतके सम्बन्धमें कहा गया है—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थस्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥
(भ. र. सि. १/१/३३)

अर्थात् "हृदयमें लेशमात्र भी भगवत्-रतिके उदित होनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चतुर्वर्ग पुरुषार्थ तृणके समान तुच्छ लगते हैं।" श्रील रूपगोस्वामिपादने श्रीनारदपञ्चरात्रसे प्रमाण उद्धृत कर कहा है, "हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वामुक्तादिसिद्धयः। भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥" अर्थात् "मुक्ति आदि सभी सिद्धियाँ और विषय-भोग आदि हरिभक्तिरूपा महादेवीकी दासीकी भाँति उनके पीछे-पीछे चलती हैं।" सुदुर्लभाके सम्बन्धमें—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा सात् सुदुर्लभा॥
(भ. र. सि. १/१/३५)

अर्थात् "बहुत समय तक विषयोंसे आसक्तिरहित होकर नाना प्रकारके साधन द्वारा भी हरिभक्ति सुलभ नहीं है और श्रीहरि भी इसे सहज ही प्रदान नहीं करते। इसलिए भी यह सुदुर्लभा है।" अर्थात् जब तक प्रेमभक्तिमें प्रगाढ़ आसक्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक श्रीहरि इसे प्रदान नहीं करते।

इस भावभक्तिके एक परमाणु द्वारा ही हृदयका सारा अज्ञान और अविद्या इत्यादि अन्धकार सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जाता है। इस भावरूपी पुष्पका परिमल चिन्मय लोक तक पहुँचकर उसके मधुपानके लिए भगवान् श्रीमधुसूदनको भी आमन्त्रणपूर्वक प्रकट करा देता है। अर्थात् विकसित कुसुमके सौरभसे आकृष्ट और उन्मादित होकर जिस प्रकार भ्रमर स्वयं पुष्पके निकट आगमनकर परमासक्तिके साथ उसका मधुपान किया करता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीमधुसूदन भी

भक्तके हृदयके भावकुसुमके सौरभसे आकृष्ट होकर स्वयं भक्तके हृदयमें आविर्भूत होकर इस पुष्पके मकरन्दको पान करके मत्त हो जाते हैं। केवल यही नहीं, भावके द्वारा भक्तकी चित्तवृत्ति इस प्रकार द्रवित हो जाती है कि वह श्रीभगवान्‌के अखिल अङ्गोंको स्नेहसे सिक्त करनेमें समर्थ होती है। यह भाव इतना पवित्र होता है कि उच्च कुलमें जन्म आदिकी तनिक भी अपेक्षा न कर चाण्डालोंके आधारमें भी आविर्भूत होकर उसे ब्रह्मा इत्यादिके लिए प्रणम्य बना देता है।

भक्तके द्रवीभूत चित्तमें भगवान्‌के अङ्गोंका अनुभव

उद्योतमाने च अस्मिन् श्यामलिमानं व्रजमहेन्द्रनन्दनस्याङ्गानामेव, आरुण्यं तदीयाधरनेत्रान्तादेरेव, धवलिमानं तदीयवदनस्मितचन्द्रिकादेरेव, पीतिमानं तदम्बरभूषणादेरेव लेढुं लब्धासन्नसमयमिव वलितोत्कण्ठं भक्तस्य नयनद्वन्द्वमश्रुभिरजस्त्रमात्मानमभिसिञ्चेत्। गीतं तदीयं मुरल्या एव शिञ्जितं तदीयनूपुरादेरेव सौस्वर्यं तदीयकण्ठस्यैव निदेशं तच्चरणपरिचरणस्यैव तत्कृतं कमपि स्वस्यावतंसीकर्त्तुं मृग्यदिव स्थाने स्थाने क्षणे क्षणे श्रवणद्वयं निश्चलीभवदुन्नमेत्। एवमेव कीदृशो वा तदुभयकरकिशलयस्पर्श इति तदैव तमनुभवदिव गात्रं रोमाञ्चितं भवेत्। तत्सौरभ्यं लभ्यमानमिव विदुष्यौ नासे प्रफुल्ले क्षणे क्षणे श्वासं गृहीत्वा परिचिचीषेताम्। हन्त सा फेला किं मे स्वादनीया इति तदैव तामुपलभमानेव रसनाप्युल्लासं दधानावोष्ठाधरौ लिह्यात्। कदापि तदीय स्फूर्त्तौ तं साक्षात् प्राप्तवदिव चेतो हृष्येत् तन्माधुर्यास्वादसम्पत्त्या माद्येत् तदैव तत्तिरोभावे विषीदेत् ग्लायेदित्येवं सञ्चारिभावैरात्मानमलङ्कुर्वदिव शोभेत।

भावानुवाद—इस भावके उदित होनेपर जातरति भक्तको व्रजराजनन्दन श्रीकृष्णके अङ्गोंकी श्यामलता, उनके अधर और नेत्रोंकी अरुणिमा, मुखचन्द्रकी मृदु मुस्कानकी शुभ्रता और उनके वस्त्र-भूषण आदिकी पीत छटा आदिका अनुभव होने लगता है। तब उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और नेत्रोंसे विगलित अजस्र अश्रुधारा द्वारा अपनेको अभिसिक्त करता है। वह भक्त श्रीकृष्णकी मधुर मुरली ध्वनि, उनके नूपुर आदिकी झँकार ध्वनि, उनके मधुर कण्ठकी

सुरीली वाणी और उनके द्वारा उनके श्रीचरणोंकी सेवाका साक्षात् आदेश सुनकर अपनेको चरितार्थ करनेके लिए स्थान-स्थानपर प्रदक्षिणा करता, मानो उनका अनुसन्धानकर उनको ढूँढ़ने लगता है। कभी कान उठाकर, कभी नीचेकर निश्चल होकर खड़ा हो जाता है। इस प्रकार कभी व्रजेन्द्रनन्दनके करकमलोंका स्पर्श कैसा है, उसका मानो अनुभवकर रोमाञ्चित हो उठता है। कभी उनके श्रीअङ्ग सौरभको सूंघकर प्रफुल्ल नासिका द्वारा क्षण-क्षणमें श्वास लेकर पुलकित होता है। "हाय! श्रीश्यामसुन्दरकी अधरसुधाका आस्वादन करनेका क्या कभी मेरा सौभाग्य होगा?" इस प्रकार कभी-कभी सोचता हुआ ऐसा अनुभव ही करने लगता है और अपनी रसनाको चरितार्थ करते हुए उससे उल्लसित होकर अपने होठोंको चाटने लगता है। कभी प्रियतमकी स्फूर्तिमें मानो उनको साक्षात् प्राप्तकर उसका मन आनन्दसे नृत्य कर उठता है। उस समय कभी तो उनके माधुर्यकी आस्वादन-सम्पत्तिको पाकर उन्मत्त हो जाता है और कभी उनको अन्तर्द्धान जानकर व्याकुल होकर खेदसे युक्त हो जाता है। इस प्रकार अनेक सञ्चारी भावों द्वारा अपनी आत्माको अलंकृत कर वह जातरति भक्त सुशोभित होता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—जातरति साधक श्रीकृष्णके रूप, शब्द, स्पर्श, गन्ध और रस—इन पाँच प्रकारके विषयोंका मानो साक्षात् रूपसे आस्वादन प्राप्त होकर ही नाना प्रकारके भाव भूषणोंसे विभूषित होता है। श्रीकृष्णके अङ्गकी श्यामलिमा, अधर और नेत्र आदि अङ्गोंकी अरुणिमा, मन्दहास्यकी शुभ्रता, वसन-भूषणकी पीत छटाको मानो वह साक्षात् रूपमें अनुभव कर रहा हो, जिससे उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है जिससे वह स्वयंको अभिसिक्त करता है। जातरति साधक श्रीकृष्णकी मधुर मुरली-ध्वनि, नूपुर एवं काञ्ची आदिकी झँकार-ध्वनि, उनकी मधुर कण्ठ-ध्वनि और उनका आदेश सुननेके लिए कानोंको इधर-उधर ऊँचा-नीचा किया करता है। कभी-कभी श्रीकृष्णके श्रीकरकमलोंका कोमल और मधुर स्पर्श अनुभवकर रोमाञ्चित हो जाता है। "अब

कृष्णको पाया, अब कृष्णको पाया"—इस प्रकार उसकी स्थिति हो जाती है।

जातरति अवस्था परमानन्दकी अवस्था है। श्रील रूपगोस्वामी कहते हैं—"रतिरानन्दरूपैव" (भ. र. सि.)। रतिमान साधक कृष्णकी स्फूर्ति प्राप्तकर अपार आनन्दका अनुभव करता है। कभी-कभी वह माधुर्यास्वादनसे मत्त हो जाता है और कभी कृष्णकी स्फूर्ति नहीं होनेसे अत्यन्त खिन्न और ग्लानियुक्त हो जाता है। इस प्रकारसे उसके अङ्गोंमें हर्ष और विषाद आदि नाना प्रकारके सञ्चारीभाव उत्पन्न होते हैं, जिससे वह अपनेको अलंकृतकर सुशोभित होता है। निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मृत्यु, आलस्य, जाड्य, ब्रीड़ा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति धृति, हर्ष, औत्सुक्य, औग्र्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति, बोध—ये तेंतीस सञ्चारीभाव उसके अङ्गोंमें दृष्टिगोचर होते हैं।

इस रतिकी अवस्थामें ही भक्त साधक कहलाता है। साधक भक्तका लक्षण भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—"उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः। कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः परिकीर्त्तिताः॥" (भ. र. सि. २/१/२७६) अर्थात् "जिन भक्तोंमें कृष्णरतिका आविर्भाव तो हुआ है, किन्तु सम्यक् रूपसे उनके विघ्न अभी दूर नहीं हुए हैं, उन्हें साधक कहा जाता है।" इसका दृष्टान्त कहा गया है—"हे बुद्धिमान! श्रीभगवान्‌की वार्त्तानदीसे उत्पन्न अश्रुओंसे अभिसिक्त होनेपर भी दावानलकी प्रदीप्त शिखा वर्त्तमान ही है, यह चिन्ता मत करो; क्योंकि तुम्हारे अङ्गोंमें प्रचुर रोमाञ्च रूप मछलियोंका नृत्य देखा जा रहा है, इससे ऐसा लगता है कि शीघ्र ही तुम्हारे हृदयाकाशमें अमृतस्पृहाका नाश करनेवाले कृपादृष्टियुक्त कृष्णमेघका उदय होगा। अर्थात् भगवत्-वार्त्ता श्रवण करनेसे जब अश्रुप्रवाह निरन्तर प्रवाहित हो रहा है, तब संसार बन्धनके सम्बन्धमें चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि शीघ्र ही श्रीकृष्णकी कृपा होगी।" इस रतिकी दशामें हरिकथाका आस्वादन अमृतकी भाँति हुआ करता है और दूसरी कामनाएँ हृदयमें नहीं रहतीं।

भक्तोंका परम शुद्ध 'अहं, मम'-भाव

बुद्धिरपतन्तमेवार्थमवधारयन्ती जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु तदीयस्मृतिवर्त्मन्येव पान्थत्वमध्यवस्येत्। अहन्ता च प्राप्स्यमाने सेवोपयोगिनि सिद्धदेहे प्रविशन्तीव साधकशरीरं प्रायो जहातीव विराजेत। ममता च तच्चरणारविन्दमकरन्द एव मधुकरीभवितुमुपक्रमेतेति। स च भक्तः प्राप्तं महारत्नं कृपण इव जनेभ्यो भावं गोपयन्नपि क्षान्तिवैराग्यादीनामास्पदीभवन् लसल्ललाटमेवान्तर्धनं कथयतीति न्यायेन तद्विज्ञसाधुगोष्ठ्यां विदितो भवेदन्यत्र तु विक्षिप्त इत्युन्मत्त इति सज्जत इति दुर्लक्ष्यतां गच्छेत्॥१॥

भावानुवाद—जातरति भक्तोंकी बुद्धि निश्चल भावसे इसी एकमात्र उद्देश्यको धारणकर जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओंमें श्रीभगवान्के स्मृति-पथका पथिक बन जाती है। उस समय भक्तका अहं-भाव अर्थात् जीव-भाव अभिलषित सेवाके उपयुक्त सिद्धदेहमें प्रविष्ट हो जाता है और वर्त्तमान साधकशरीर प्रायः त्याग करनेके समान ही रहता है। उसकी ममता श्रीकृष्णके चरणारविन्दके मकरन्दकी मधुकरी होनेका उपक्रम करती है। इस अवस्थामें वह भक्त महामणिको प्राप्त करनेवाले कृपणकी भाँति लोगोंसे अपने भावको छिपानेका प्रयत्न करता है, किन्तु उज्ज्वल मस्तक जिस प्रकार भीतरी धनको लक्षित करा देता है, उसी प्रकार क्षान्ति-वैराग्यादि लक्षणोंका आश्रय करनेपर भी जातरति भक्तको विज्ञ पुरुष पहचान लेते हैं। परन्तु साधारण लोगोंको ऐसा भक्त विक्षिप्त और उन्मत्त जैसा प्रतीत होता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—जातरति साधकको ध्रुवानुस्मृति प्राप्त हो जाती है। श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके स्वरूप-लावण्यकी निरन्तर स्फूर्ति और अनुभूति होनेपर वह सोते-जागते, यहाँ तक कि सुषुप्ति अवस्थामें भी उनके श्रीचरणारविन्दकी सेवा प्राप्त करनेके लिए व्याकुल रहता है। एक क्षणके लिए भी उसकी कृष्णस्मृति लुप्त नहीं होती। भगवान् श्रीकपिलदेवने ध्रुवानुस्मृतिको ही निर्गुणभक्तिका लक्षण कहा है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥

अर्थात् "समुद्रकी ओर प्रवाहित होनेवाली गङ्गाकी धाराकी भाँति मेरे गुणोंके श्रवण मात्रसे ही सर्वगुहाशय मेरे प्रति मेरे गुण श्रवण करनेवालोंकी नैरन्तर्यमयी मनकी गतिको ही निर्गुणभक्तिका लक्षण कहा गया है।" जातरति साधककी जाग्रत, स्वप्न या सुषुप्ति इत्यादि दशाओंमें कभी भी श्रीकृष्णस्मृति रुद्ध नहीं होती। जाग्रत अवस्थामें साधारण मनुष्योंका मन जड़ीय रूप-रसादि विषयोंमें निरत रहता है, किन्तु रतिमान साधकोंका मन नश्वर एवं विरस जड़ीय-विषयोंमें आसक्त न होकर निरन्तर भगवत्-चिन्तामें ही निविष्ट रहता है।

जाग्रत अवस्थामें चक्षु, कर्ण एवं नासिका आदि बाह्य इन्द्रियाँ सचेतन और सक्रिय रहती हैं। इसलिए जगतके रूप, रस आदि सभी विषय सत्य प्रतीत होते हैं, किन्तु मनोरथ सत्यकी भाँति प्रतिभात नहीं होते। निद्रित अवस्थामें पञ्चेन्द्रियाँ अचेतन रहती हैं, इसलिए उस समय मस्तिष्कको विभिन्न प्रकारकी चिन्ताओंको ग्रहण करनेमें सुविधा रहती है। मन भी उस समय बाह्य व्यापारसे विरत होनेके कारण स्थूल आकर्षणोंसे मुक्त होकर सूक्ष्मराज्यमें परिभ्रमण करता है। जाग्रत अवस्थामें चक्षु, कर्ण आदि बाह्य इन्द्रियोंके सम्पर्क द्वारा मन जो कुछ देखता है अथवा पहले देख लेता है, निद्राकालमें उन्हीं सब चिन्ताओंका छायाचित्र स्वप्नके रूपमें दीखता है। जातरति साधकोंका चित्त सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्त होनेके कारण उनके चिन्तास्रोतमें केवलमात्र श्रीहरिके रूप, गुणादि ही प्रतिभात होते हैं। इसलिए जातरति साधकोंके स्वप्नमें स्वाभाविक रूपसे ही श्रीभगवान्के गुण, रूपादि ही प्रतिभात होते हैं।

सुषुप्ति दशामें स्थूल इन्द्रियाँ और सूक्ष्मोपाधि मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार पर्यन्त सभी कुछ प्रसुप्त होनेके कारण निष्क्रिय रहते हैं, अतएव उस समय कोई भी चिन्ता नहीं होती। किन्तु जातरति साधकोंकी आत्मामें सुषुप्ति दशामें भी भगवत्-स्मृति विराजित रहती है।

अहंता अर्थात् अहंका भाव और ममता अर्थात् ममत्व—इन दोनों वृत्तियोंका देह और दैहिक विषय आदिको अवलम्बन करना, अर्थात् यथावस्थित पाञ्चभौतिक शरीरको 'मैं' और स्त्री, पुत्रादि विषय वैभवोंमें 'मेरा' या 'मेरी' का अभिमान करना ही जीवकी संसारदशा

कहलाती है। ब्रह्मज्ञानी जन ज्ञानरूपी अग्निमें इन दोनों वृत्तियोंको दग्धकर मुक्त होते हैं। भक्ति साधनसे जीवात्माका शुद्धस्वरूप भगवत्-दासत्व या सिद्धस्वरूप जागृत होता है। इस सिद्धस्वरूपका अभिमान धारणकर साधक श्रवण, कीर्त्तनादि भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान करते हैं। जातरति साधकोंके हृदयमें स्वतः ही उनके सिद्धस्वरूपकी स्फूर्ति होती है। जातरति साधकका सिद्धदेहमें अभिमान इस प्रकार परिपक्व हो जाता है कि वह साधकदेहको प्रायः त्याग करके ही अवस्थित रहते हैं। मधुकरी (भ्रमरी) की भाँति ममता श्रीराधामाधवके श्रीचरणकमलोंके मकरन्दके आस्वादनमें विभोर हो जाती है।

पाञ्चभौतिक शरीरमें जातरति भक्तका अहं-मम भाव प्रायः निवृत्त हो जाता है। पाञ्चभौतिक शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' की बुद्धि रखना देहात्मबुद्धि है। ऐसी देहात्मबुद्धिसे वह रहित हो जाता है। किन्तु श्रीकृष्ण सेवाके लिए जिस देहकी उपयोगिता है, उस सिद्धदेहमें ही उसका अहं भाव दृढ़ हो जाता है। चिन्मय श्रीभगवान्‌की अप्राकृत सेवा प्राकृत देहसे सम्भव नहीं है। साधनकी सिद्धि होनेपर साक्षात् सेवा प्राप्तिके लिए साधक वह देह प्राप्त करता है, जिसे 'सिद्धदेह' कहा जाता है। साधक उस देहकी भावना करते हुए अपने भावानुकूल श्रीकृष्णकी सेवा करता है। इस देहको 'अन्तश्चिन्तितदेह' भी कहा जाता है। रागानुगामार्गमें मधुरभावके उपासकोंकी सिद्धदेह है—'गोपकिशोरीदेह'। इस उपासनामें साधक स्वयंमें राधादासीका अभिमान करता है। जातरति भक्त इस सिद्धदेहको ही अपना स्वरूप समझता है और वर्त्तमान शरीरमें उसका अभिमान प्रायः निवृत्त हो जाता है। श्रीकृष्णके श्रीचरणारविन्दकी सेवामें उसकी तीव्र ममता जाग उठती है।

यद्यपि भक्त अपने आन्तरिक भावोंको छिपाता है, किन्तु रतिके उत्पन्न होनेपर अनेक ऐसे लक्षण उदित हो जाते हैं, जो छिपाए नहीं छिपते। भक्तितत्त्वको जाननेवाले सहज ही उसे पहचान लेते हैं। किन्तु साधारण लोग जिनका भक्तिविषयमें कोई भी ज्ञान नहीं है, वे उसे नहीं पहचान पाते, बल्कि विपरीतबुद्धिके कारण वे उसे पागल और उन्मत्त ही समझते हैं।

जातरति भक्तोंके कुछ लक्षणोंका वर्णन करते हुए भक्तिरसामृतसिन्धु (१/३/२५-२६) ग्रन्थमें कहा गया है—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरजने॥

अर्थात् "जिस साधकके हृदयमें प्रेमका अङ्कुर अर्थात् भाव उत्पन्न हो जाता है, उसमें क्षान्ति, अव्यर्थकालता, विरक्ति, निरभिमानिता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, नामगानमें सदा रुचि, भगवान्के गुणानुवादमें आसक्ति और उनकी वासस्थानमें प्रीति—ये सारे लक्षण प्रकाशित होते हैं।" क्षोभका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका क्षोभित नहीं होना **'क्षान्ति'** है। अन्यान्य संसारके वैषयिक व्यापारमें व्यर्थ ही संलग्न न होकर केवल भगवद्भजनमें समय व्यतीत करना **'अव्यर्थकालत्व'** कहलाता है। इन्द्रियग्राह्य शब्द-स्पर्शादि विषयोंके प्रति स्वाभाविक रूपमें अरोचकताका नाम **'विरक्ति'** है। अपना उत्कर्ष रहनेपर भी अभिमान रहित होनेको **'मानशून्यता'** कहते हैं। भगवान् अवश्य ही प्राप्त होंगे, ऐसी दृढ़ आशाका नाम **'आशाबन्ध'** है। अपने अभीष्ट प्राप्तिके लिए गुरुतर लोभको ही **'समुत्कण्ठा'** कहते हैं। निरन्तर नामसंकीर्त्तनके लिए जो प्रेममयी लालसा होती है, उसे **'नामगानमें सदा रुचि'** कहते हैं। श्रीभगवान्के परम माधुर्यमय गुण, लीला इत्यादिके वर्णनमें स्वाभाविक आसक्तिको **'तद्गुणाख्यानमें आसक्ति'** कहा जाता है। श्रीकृष्णकी लीलास्थली वृन्दावन आदि धामोंमें निवास करनेकी बलवती लालसाका नाम **'तद्वसतिस्थलमें प्रीति'** है। भगवान्के प्रति रतिका अङ्कुरमात्र उत्पन्न होनेपर ये लक्षणसमूह साधकोंमें दृष्टिगोचर होते हैं। साधारण रूपमें अश्रु, पुलकादिका उदय देखे जानेपर भी, जिनमें उल्लिखित नौ असाधारण लक्षणोंका उदय नहीं हुआ है, उनमें रति उत्पन्न हुई है, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

अन्तःकरणकी स्निग्धता ही रतिका मूल लक्षण है। भुक्ति और मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले कर्मी अथवा ज्ञानियोंमें अवस्थानुसार अश्रु,

पुलकादि दृष्टिगोचर होनेपर भी उसे रतिका चिह्न न मानकर रतिका आभास ही समझना चाहिए। रत्याभास भी दो प्रकारके हैं—'प्रतिबिम्ब' और 'छाया'। भुक्ति-मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तियोंमें अश्रु, पुलकादि दृष्टिगोचर होनेपर उसे **'प्रतिबिम्ब रत्याभास'** एवं भक्तसङ्गके कारण अज्ञव्यक्तियोंमें ऐसे लक्षण दृष्टिगोचर होनेपर उसे **'छाया रत्याभास'** कहते हैं। कभी-कभी स्वभावतः पिच्छिल चित्तवाले व्यक्तियोंमें लीलाकथाके श्रवणादिमें अश्रुपात देखा जाता है, कुछ लोग अभ्यासके द्वारा भी अश्रु, रोमाञ्च, कम्प इत्यादिको दिखलाकर लोगोंको ठगनेकी चेष्टा करते हैं, यह सब रत्याभास भी नहीं है।

पक्षान्तरमें गम्भीर चित्तवाले भक्तोंमें रति उत्पन्न होनेपर भी उनमें अश्रु, पुलकादिका उद्गम नहीं दिखाई देना भी सम्भव है। अतएव क्षान्ति इत्यादि उपर्युक्त नौ असाधारण अनुभावोंको ही यथार्थ जातरतिका लक्षण समझना चाहिए। विज्ञ साधुगण जातरति साधकोंमें इन लक्षणोंको देखकर उनकी रतिका परिचय प्राप्त करते हैं। अज्ञ जनसाधारणके निकट ऐसे भक्त पागल या उन्मत्त रूपमें ही देखे जाते हैं।

भाव—रागभक्तिसे उत्पन्न तथा वैधीभक्तिसे उत्पन्न

स च भावो रागभक्त्युत्थो वैधभक्त्युत्थ इति द्विविधः। आद्यो जाति-प्रमाणाभ्यामाधिक्येन महिमज्ञानानादरेण भगवति सामान्याधिक्याच्च सान्द्रः। द्वितीयः ताभ्यां प्रथमतः किञ्चिन्न्यूनत्वेन ऐश्वर्यज्ञानविद्धममतावत्वाच्चासान्द्रः। प्रायो द्विविध एवायं भावो द्विविधानां भक्तानां द्विविधचिद्वासनासनाथेषु हृदयेषु स्फुरण् द्विविधास्वाद्यत्वं भजते। घनरस इव रसालपनसेक्षुद्राक्षादिषु प्रविष्टः पृथक् पृथङ् माधुर्यवत्वं भजते। ते च भक्ताः शान्तदाससखि-पितृप्रेयसीभाववन्तः पञ्चविधाः स्युः। तत्र शान्तेषु शान्तिरिति दासेषु प्रीतिरिति सखिषु सख्यमिति पितृभाववत्सु वात्सल्यमिति प्रेयसीभाववत्सु प्रियतेति नामभेदमपि।

भावानुवाद—पुनः यह भाव भी दो प्रकारका होता है—रागभक्त्युत्थ और वैधभक्त्युत्थ। पहला रागभक्त्युत्थभाव जाति और परिमाणकी अधिकताके कारण श्रीभगवान्‌में महिमाज्ञानका अनादर करता है और समानता तथा दूसरेकी अपेक्षा अधिकताके कारण अत्यन्त प्रगाढ़ हुआ

करता है। वैधभक्त्युत्थभाव जाति और परिमाणमें पहलेकी अपेक्षा कुछ कमीके कारण श्रीभगवान्‌के प्रति ऐश्वर्यज्ञानके द्वारा विद्ध-ममतायुक्त होनेके कारण उतना प्रगाढ़ नहीं होता। ये दोनों भाव दोनों प्रकारके भक्तोंकी दो प्रकारकी चित्-वासनाओंसे युक्त हृदयोंमें स्फुरित होकर दो रूपोंमें आस्वादित होते हैं। आम, कटहल, इक्षु और अंगूर आदिमें उत्तरोत्तर अधिक स्वादुता और माधुर्यवत्ताकी भाँति इनमें उत्तरोत्तर माधुर्य विद्यमान रहता है। इसी प्रकार अलग-अलग भावका आस्वादन करनेवाले भक्त शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुरभावसे युक्त होकर पाँच प्रकारके होते हैं। शान्तभक्तोंमें शान्ति, दास्यभक्तोंमें प्रीति, सखाओंमें सख्य, माता-पिता गुरुजनोंमें वात्सल्य और प्रेयसियोंमें प्रियता—इस प्रकार उनके नामभेद हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—साधनभक्ति दो प्रकारकी होती है—रागभक्ति और वैधीभक्ति। रागभक्ति लोभमयी होती है और वैधीभक्ति शास्त्रशासनमयी होती है। इसलिए भाव भी दो प्रकारके होते हैं—रागभक्तिसे उदित भाव और वैधीभक्तिसे उदित भाव। रागभक्तिसे उत्पन्न होनेवाला भाव जाति और परिमाणमें वैधीभक्तिसे उत्पन्न भावकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ होता है। वैधीभक्तिमें ईश्वरबुद्धिके कारण भगवान्‌के प्रति गौरवका भाव उत्पन्न होनेसे आस्वादन निर्बाध रूपमें नहीं हो पाता। ऐसे भक्तोंकी श्रीहरिमें जो ममता होती है, वह ऐश्वर्यज्ञानके द्वारा विद्ध होती है। रागभक्तिमें ईश्वरज्ञानका उदय नहीं होनेसे श्रीकृष्णके प्रति सम्भ्रम-गौरवरहित "मेरा पुत्र, मेरा सखा, मेरे प्राणपति"—इस प्रकारका लौकिक बन्धुवत् भाव होनेके कारण माधुर्यास्वादन निर्बाध गतिसे हुआ करता है। इस प्रकार वैधीभक्ति और रागभक्तिसे उत्पन्न भाव भक्तके चिद्विलासयुक्त चित्तमें उदित होकर अपने-अपने भावानुसार भक्तोंका आस्वाद्य हुआ करता है।

तात्पर्य यह है कि वैधीभक्तिजनित भाव प्रगाढ़ नहीं होता; क्योंकि इसकी प्रकृति है—शास्त्रभयसे भजनमें प्रवृत्ति और ऐश्वर्यज्ञानमिश्रित प्रेम। इसमें श्रीभगवान्‌के प्रति ऐश्वर्यज्ञान हेतु शिथिलतायुक्त ममता होती है। इसमें सदा संकोच बना रहता है और शास्त्रके विधि-विधानकी सदा अपेक्षा रहती है। अतः श्रीभगवान् ऐसी वैधीभक्तिसे कभी

वशीभूत नहीं होते। वैधीभक्तिके द्वारा श्रीकृष्णकी प्राप्तिके प्रमाण भी शास्त्रोंमें विरले ही मिलते हैं। अतः इस वैधीभक्तिजनित भावमें प्रगाढ़ता नहीं मानी गई।

भक्तिमार्गके अनुसार भक्त भी दो प्रकारके कहे गए हैं—(१) रागभक्तिमार्गके अनुयायी और (२) वैधीभक्तिमार्गके अनुयायी। दोनोंकी चित्तवासना पृथक्-पृथक् होती है। रागमार्गीय भक्तकी चित्तवासना अपने सुखकी गन्धसे रहित होती है, वह केवल कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी होती है और वैधीमार्गीय भक्तके चित्तमें स्वसुखकी वासनाकी प्रधानता रहती है। अपने सांसारिक तापोंकी निवृत्ति अथवा मुक्तिमें ही उसकी चित्तवासनाका पर्यवसान होता है। इन पृथक्-पृथक् चित्तवासनाओंके अनुसार भाव भी दो प्रकारसे स्फुरित होकर पृथक्-पृथक् रूपमें आस्वादित होता है।

भक्तोंमें श्रीकृष्णकी सेवा-वासना भी अनेक प्रकारकी होती है, जो मुख्यतः पाँच प्रकारकी मानी गई है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। पहले भक्त केवल श्रीकृष्णके स्वरूपमें ही निष्ठा रखते हैं अर्थात् उन्हें परब्रह्म अथवा परमात्मा मानते हैं—इन्हें शान्तभक्त कहते हैं। दूसरे षडैश्वर्यपूर्ण परब्रह्म श्रीकृष्णको अपना स्वामी मानते हैं। इनके भावमें कृष्णनिष्ठाके साथ 'स्वामी-सेवक' सम्बन्धकी विशेषता भी रहती है। ये अपनेको प्रभुका दास मानते हैं। इनके भावका नाम दास्यभाव है। तीसरे भक्त वे हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णको अपना सखा मानते हैं। "श्रीकृष्ण बड़े हैं, वे पूज्य हैं"—इस प्रकारकी गौरवबुद्धि इनमें नहीं रहती। कृष्णनिष्ठा और दास्यधर्म—ये दो गुण तो इनमें रहते ही हैं, साथ ही इनमें श्रीकृष्णके प्रति विश्वासमयी समानबुद्धि भी रहती है। श्रीकृष्णसे इनका व्यवहार सखाओंकी भाँति रहता है। अतः इनके भावको सख्यभाव कहा जाता है। चौथे भक्त वे हैं जो श्रीकृष्णको लाल्य और पाल्य समझते हैं। उन्हें अपनेसे छोटा समझते हैं और उनमें अत्यन्त ममतामयी बुद्धि रखते हैं। उनको अपना पुत्र मानते हैं और उनका पालन-पोषण करते हैं। उनमें चञ्चलता देखकर कभी उन्हें फटकार भी देते हैं तो कभी उन्हें बाँध भी देते हैं। कृष्णनिष्ठा, सेवा और निःसंकोच भाव तो इनमें

रहता ही है, पालन-पोषणका भाव इनमें अधिक है। उनके भावको वात्सल्यभाव कहा गया है। पाँचवें ऐसे भक्त हैं, जिनमें उक्त चारों गुणोंके साथ अपने अङ्गोंके द्वारा कृष्णकी सेवा भी होती है। ये श्रीकृष्णकी कान्ताएँ कहलाती हैं। इनके भावको मधुरभाव कहा जाता है। इस प्रकार इन भावोंके भेदसे पाँच प्रकारके भक्त हैं। आम, कटहल, गन्ना और अंगूरमें जैसे-जैसे अधिकाधिक रसकी प्रगाढ़ता और मधुरता है, उसी प्रकार शान्तभावसे अधिक दास्यमें, दास्यसे अधिक सख्यमें, सख्यसे अधिक वात्सल्यमें तथा वात्सल्यसे अधिक कान्ताभावमें उत्तरोत्तर माधुर्यका आस्वादन और अधिकाधिक गुणोंका समावेश है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि शान्त आदि रसोंमें यदि इस प्रकार आस्वादनका तारतम्य रहता है, तब सर्वोत्तम मधुररतिमें ही सबकी प्रवृत्ति होगी, दूसरे रस निरर्थक हो जाएँगे; क्योंकि उत्कृष्ट वस्तुमें सबकी प्रवृत्ति देखी जाती है। उसके उत्तरमें कहते हैं—

यथोत्तरमसौ स्वाद-विशेषोल्लासमय्यपि।
रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कापि कस्यचित्॥
(भ. र. सि. २/५/३८)

अर्थात् यद्यपि शान्तरतिसे दास्य, दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य, और वात्सल्यसे मधुररसमें उत्तरोत्तर रसास्वादन होता है, तथापि इन पाँच प्रकारकी रतियोंमें किसी भक्तकी रुचि उसकी प्राचीन वासना या संस्कारके अनुरूप ही होती है। जिस प्रकार प्राचीन संस्कारके अनुसार किसीकी मधुर, अम्ल, कटु इत्यादि छह रसोंमेंसे किसी एकमें रुचि होती है, अन्य रसोंमें नहीं; उसी प्रकार किसी भक्तकी दास्यादि भावोंमेंसे किसी एकमें ही प्राचीन वासना और इस जन्ममें प्राप्त वैसे महत्पुरुषकी विशेष कृपासे रुचि उत्पन्न होती है।

उल्लिखित श्लोककी टीकामें श्रीजीव गोस्वामीने लिखा है कि शान्त आदि रतियोंमें उत्तरोत्तर रसास्वादनमें अधिकता है, तथापि रुचिके अनुसार ही किसीको किसी एक विशेष भावमें प्रवृत्ति होती है। यहाँपर एक और शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि इन रतियोंमें

श्रेष्ठता और निकृष्टताका विचार कौन करेगा? जिसमें कोई वासना नहीं है और जिसमें केवल एक ही वासना है, वे लोग इसका विचार करनेमें समर्थ नहीं है; क्योंकि उन्हें अन्य रसोंका आस्वादन ही नहीं है। जिनमें बहुवासना है, उनमें बहुरस आस्वादन हेतु विचारकी क्षमता नहीं होती। तथापि जो एक रसमें मग्न है, वे ही विचार करनेमें सक्षम हैं; क्योंकि दूसरे रसोंका उन्हें आस्वादन नहीं होनेपर भी उसके समान रसके उपमान अर्थात् तुलना प्रमाणके द्वारा विसदृश रसको कौन-सा द्रव्य पुष्ट अथवा अपुष्ट करता है, उसके दर्शनसे अनुमानकर वह विचार करेगा। जिस प्रकार उद्धव महाशय सख्यमिश्रित दास्यरसका भक्त होनेपर भी दास्यकी प्रधानता हेतु दास्यभक्त कहे जाते हैं। किन्तु अपने रसमें मग्न होकर व्रजसुन्दरियोंकी मधुररतिके प्रति अद्भुत उच्छ्‌वास दर्शनकर उनकी सर्वश्रेष्ठताका अनुमानकर उनकी श्रीचरण-रेणुको प्राप्त करनेके लिए उन्होंने वृन्दावनमें तृण और गुल्मादिके रूपमें जन्मकी प्रार्थना की। श्रीमद्भागवतमें इसका वर्णन किया गया है।

शान्तभक्तमें शान्तरति, दास्यभक्तमें प्रीतिरति, सखाओंमें सख्य, पिता-मातामें वात्सल्य और मधुरभावमें प्रियता रति—इन रतियोंका इस प्रकार नामभेद समझना चाहिए।

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही सभी रसोंके मूल आधार

पुनश्चायं स्वशक्तैराविर्भावितैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरात्मेव राजेव वा प्रकृतिभिरुद्भूतैश्वर्यः स्थायीति नाम्ना वैशिष्ट्यं गच्छन् तैर्मिलितः शान्त इति दास्यमिति सख्यमिति वात्सल्यमिति उज्ज्वल इति लब्धविभेदो रसो भवति। यो हि "रसो वै सः" "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति" इति श्रुत्याभिधीयते, अयमन्यत्रावतारेऽवतारिणि वा सम्भवन्नपि स्वयं सम्पूर्त्तिमानं तत्र तत्रालभमानो व्रजेन्द्रनन्दन एव स्वकाष्ठां लभते। नदनदीतड़ागादिषु सम्भवन्नपि यथा समुद्र एवं जलनिधित्वम्। यो हि भावस्य प्रथमपरिणतावेव उत्पद्यमान एव प्रेमणि मूर्त्त एव रसः साक्षादेव तद्वता भक्तेनानुभूयत इति ॥२॥

इति माधुर्य-कादम्बिन्यां परमानन्दनिष्यन्दिनी नामा सप्तम्यमृतवृष्टिः ॥७॥

भावानुवाद—पुनः ये पाँचों भाव अपनी-अपनी शक्तिके द्वारा ही विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभावरूप प्रजाको प्राप्तकर स्वयं ऐश्वर्य समन्वित स्थायीभावरूप राजा बनकर शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल नामसे वैशिष्ट्य भेदसे रस रूपमें परिणत हो जाते हैं। श्रुतियोंमें ऐसा कहा गया है कि स्वयंभगवान् ही रसस्वरूप हैं, उनको प्राप्तकर जीव आनन्द प्राप्त करता है। जैसे नद-नदी-तड़ागादिमें जल रहनेपर भी जलनिधि समुद्र ही समस्त जलका आश्रय है, उसी प्रकार यह रस श्रीभगवान्के अन्यान्य अवतार और अवतारियोंमें रहनेपर भी उनमें पूर्णता प्राप्त न कर सकनेके कारण केवल व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णमें ही परिपूर्णताको लाभ करता है। वे श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ही भावकी प्रथम परिणतिमें प्रकाशित होकर प्रेम उदित होनेपर साक्षात् मूर्त्तिमान रसस्वरूपमें रसिक भक्तोंको अनुभूत होते हैं।

परमानन्दनिष्यन्दिनी नामक सप्तम्यमृतवृष्टिका
भावानुवाद समाप्त॥७॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीकृष्णरति किस प्रकार रसमें परिणत होती है, यहाँ उसीका वर्णन कर रहे हैं। पूर्वोक्त शान्तरति, प्रीतिरति, सख्यरति, वात्सल्यरति और प्रियतारति—स्वाधीन राजाकी भाँति अपनी-अपनी शक्तियों द्वारा विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और सञ्चारी या व्यभिचारी भावरूप प्रजाओंके साथ मिलकर क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वलरसके रूपमें परिणत होती हैं।

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते॥
स्थायिभावोऽत्र स प्रोक्तः श्रीकृष्णविषयारतिः॥
(भ. र. सि. २/५/१-२)

अर्थात् "हास्यादि अविरुद्ध और क्रोधादि विरुद्ध भावोंको वशीभूतकर जो भाव प्रभावशाली राजाकी भाँति सुशोभित होता है, उसे 'स्थायीभाव' कहा जाता है। भक्तिशास्त्रोंमें श्रीकृष्णविषया रतिको ही स्थायीभाव कहा गया है।"

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायिभावो भक्तिरसो भवेत्॥
(भ. र. सि. २/१/५)

"यह स्थायीभाव श्रीकृष्णरति ही विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इत्यादि भावोंके द्वारा श्रवणादि करनेवाले भक्तोंके हृदयमें आस्वादनीयता प्राप्त होनेपर 'भक्तिरस' हो पड़ता है।"

रति क्रमशः परिपक्व होनेपर प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और महाभाव नाम प्राप्त करती है। ये सब कृष्णभक्तिरसके स्थायीभाव हैं। ये स्थायीभाव ही विभाव आदि रससामग्रियोंके साथ मिलित होनेपर अत्यन्त चमत्कारिक आस्वादनीय धर्मको प्राप्त होकर भक्तिरस बनता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीरूप-शिक्षामें कहा है—

साधनभक्ति हैते हय 'रति'र उदय।
रति गाढ़ हैले तार 'प्रेम' नाम कय॥
प्रेम वृद्धिक्रमे नाम—स्नेह, मान, प्रणय।
राग, अनुराग, भाव, महाभाव हय॥
जैछे बीज, इक्षु-रस, गुड़, खण्ड-सार।
त्रत्र शर्करा, सिता-मिछरि, उत्तम-मिछरि तार॥
एइसब कृष्णभक्ति-रसे स्थायिभाव।
स्थायिभाव मिले यदि विभाव, अनुभाव॥
सात्त्विक, व्यभिचारी- भावेर मिलने।
कृष्णभक्ति- रस हय अमृत आस्वादने॥
जैछे दधि, सिता, घृत, मरीच, कर्पूर।
मिलने 'रसाला' हय अमृत मधुर॥
(चै. च. म. १९/१७७-१८२)

अर्थात् "साधनभक्तिसे रतिका उदय होता है और रति गाढ़ी होनेपर उसका नाम प्रेम होता है। वही प्रेम वृद्धि प्राप्त होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव नाम धारण करता

है। जैसे गन्नेका बीज—गन्ना, रस, गुड़, खण्डसार, शर्करा, सिता, मिश्री और उत्तम मिश्री नाम धारण करता है। ये सब कृष्णभक्तिरसके स्थायीभाव हैं। इन स्थायीभावोंके साथमें विभाव, अनुभाव आदि सात्त्विक और व्यभिचारी भाव सम्मिलित होनेपर कृष्णभक्तिरस अमृतके समान आस्वादनीय होता है। जिस प्रकार दधि, मिश्री, घृत, काली मिर्च, कर्पूर इत्यादिके मिलनेसे अत्यन्त सुमधुर अमृतके समान रसाला प्रस्तुत होता है।"

विभाव दो प्रकारके हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन भी पुनः दो प्रकारके होते हैं—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। श्रीकृष्ण ही भक्तिरसके विषयालम्बन हैं; क्योंकि उन्हें विषयके रूपमें रखकर भक्तके हृदयमें रहनेवाली भक्ति प्रवर्तित होती है। भक्त आश्रयालम्बन विभाव है; क्योंकि वही भक्तिका आश्रय अथवा आधार होता है। पुनः श्रीकृष्ण जब भक्तको प्रीति करते हैं तब वे भक्त-विषयक रतिके आश्रयालम्बन होते हैं और भक्त विषयालम्बन हुआ करता है। मुरलीध्वनि, मेघ, मयूरपुच्छ—उद्दीपन विभाव हैं। ये कृष्णरतिको उद्दीप्त करते हैं। नृत्य, विलुण्ठन, गान, क्रोशन आदि अनुभाव हैं। ये चित्तके अन्दरके भावोंका बोध करानेवाले होते हैं। अश्रु, पुलकादि आठ प्रकारके सात्त्विकभाव भी अनुभाव ही हैं। इसलिए श्रील ग्रन्थकारने मूलमें सात्त्विकभावोंका नाम उल्लेख नहीं किया है। तथापि रसशास्त्रकारोंने इनको पृथक् 'सात्त्विक' नाम इसलिए दिया है कि नृत्य, विलुण्ठन आदि अनुभाव समूह तो इच्छापूर्वक घटित हो जाते हैं, परन्तु अश्रु-पुलकादि उस प्रकार इच्छापूर्वक घटित नहीं होते, चित्तके भावाक्रान्त होनेपर ये सब स्वयं ही प्रकाशित होते हैं। केवल सत्त्वसे उत्पन्न समस्त भावोंको सात्त्विक भाव कहा गया है। इसलिए नृत्य इत्यादि सत्त्वसे उत्पन्न होनेपर भी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिवशतः सात्त्विक नहीं हैं, बल्कि स्तम्भादि स्वतः ही प्रवृत्त होनेके कारण नृत्य इत्यादिमें अतिव्याप्ति नहीं हुई। हर्ष, निर्वेदादि तेंतीस प्रकारके सञ्चारी या व्यभिचारीभाव हैं। भावकी गतिको सञ्चारण करनेके कारण इनका नाम सञ्चारी हुआ है। ये स्थायीभावरूप रससमुद्रमें तरङ्गोंकी भाँति उत्पन्न होकर उस रससमुद्रको उच्छ्वलितकर उसीमें मिल जाते हैं।

स्थायीभाव कृष्णरति इन रस सामग्रियोंके साथ सम्मिलित होकर ही 'रस' हुआ करती है।

पुनः रति उत्पन्न होनेपर ही रसका आस्वादन होगा, ऐसी बात नहीं है। रसास्वादनके लिए पूर्व जन्मोंके संस्कारकी अपेक्षा रहती है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—"जिनमें जन्मान्तरीय एवं आधुनिक सद्भक्तिवासना है, ऐसे भक्तोंके हृदयमें ही भक्तिरसका आस्वादन हो सकता है।" इस श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने लिखा है—"प्राक्तनी वासना तु रत्यास्वादेऽवश्यमपेक्षिता, अतएव एकस्मिन्नेव जन्मनि दैवान्निरपराधै गुरुपादाश्रयणादिभिर्जनैस्तस्मिन्नेव जन्मनि रतौ जातायामपि तस्याः आस्वादः किन्तु जन्मान्तर इति बोध्यम्।" अर्थात् "यद्यपि रतिके अस्तित्वमें आधुनिक वासनाकी विद्यमानताका ही बोध होता है, तथापि वह रसके रूपमें परिणित होकर आस्वादनीय होनेमें जन्मान्तरीय वासनाकी अपेक्षा रखती है। यदि कोई निरपराध व्यक्ति श्रीगुरुपदाश्रयपूर्वक भजन करते-करते उसी जन्ममें ही रति लाभ करता है, तथापि जन्मान्तरमें ही उसे रसास्वादन होगा, ऐसा समझना चाहिए।" श्रीरूपगोस्वामीने रसोत्पत्तिके साधन, उसके सहायक एवं उसके प्रकारका वर्णन इस प्रकार किया है—

भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम्।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्ग-रङ्गिणाम्॥
जीवनीभूत-गोविन्दपादभक्तिसुखश्रियाम् ।
प्रेमान्तरङ्गभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम्॥
भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्॥
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि ।
प्रौढ़ानन्द-चमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्॥
(भ. र. सि. २/१/७-१०)

अर्थात् "भक्तिके प्रभावसे निखिलदोष समूल नष्ट हो जानेपर जिनका चित्त प्रसन्न (शुद्धसत्त्वके आविर्भावके योग्य) एवं उज्ज्वल (उसके लिए सर्वज्ञानसम्पन्न) हो चुका है, भागवतमें अनुरक्त, रसिक

भक्तके नित्यसङ्गमें ही जिनका रङ्ग या उल्लास है, जो श्रीगोविन्दके चरणारविन्दकी भक्तिसुख सम्पत्तिको ही अपना जीवातु या प्राण समझते हैं एवं जो प्रतिदिन प्रेमके अन्तरङ्ग साधन श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणादिके (रसोत्पत्तिके साधन) अनुष्ठानमें निरत हैं—ऐसे भक्तोंके हृदयमें विराजमान अथच प्राक्तनी और आधुनिक दोनों प्रकारकी वासनाओंसे (रसोत्पत्तिके सहायक) उज्ज्वला, आनन्दरूपा रति ही अनुभववेद्य श्रीकृष्णादि विभावकी (रसोत्पत्तिके प्रकार) सहायतासे आस्वादनीयता प्राप्त होकर प्रौढ़ानन्दकी चरमसीमाको प्राप्त करती है।"

श्रुतिने भगवत्स्वरूपका परिचय प्रदान करते हुए उनको "रसो वै सः", "प्रज्ञानानन्दं ब्रह्म", "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्" बतलाकर जिस प्रकार उनकी रसरूपताकी घोषणा की है, उसी प्रकार "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" बतलाकर आनन्द लोलुप जीवोंको उस आनन्दका आस्वादन करनेके लिए प्रोत्साहित किया है। सभी भगवत्स्वरूप रसस्वरूप होनेपर भी स्वयंभगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके व्यतीत किसी भी भगवत्स्वरूपमें सम्पूर्ण रूपसे रसका विकास नहीं देखा जाता। किसी अवतारमें किसी विशेष रसका आंशिक विकास देखा जाता है। श्रीकृष्ण अखिलरसामृतमूर्त्ति होनेके कारण उनमें समस्त रस सम्पूर्ण रूपसे पूर्णताको प्राप्त होते हैं। जैसे नद-नदी, तड़ागादिमें जल रहनेपर भी निखिल जलका मूल आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार अन्यान्य भगवत्स्वरूपोंमें रस रहनेपर भी निखिल रसोंके मूल आश्रय श्रीकृष्ण हैं। वही मूर्त्तिमानरस हैं। रसिक भक्तगण उनको मूर्त्तिमानरसके रूपमें ही अनुभव किया करते हैं। जो जिस रसके उपासक हैं, वे उनको उसी रसके मूर्त्तिमान रूपमें अनुभव करते हैं। जिस प्रकार मधुररसके उपासक श्रील बिल्वमङ्गल ठाकुरने कहा है—"शृङ्गाररस-सर्वस्वम्।"

परमानन्दनिष्यन्दिनी नामक सप्तम्यमृतवृष्टिकी
पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त॥७॥

अष्टम्यमृतवृष्टिः

भावरूपी पुष्पकी प्रेमरूपी फलमें परिणति

अथ तस्या एव भक्तिकल्पवल्ल्याः साधनाभिख्ये ये पूर्वं द्वे पत्रिके लक्षिते इदानीं ततोऽतिचिक्वणानि तादृशश्रवणकीर्त्तनादिमयानि भावकुसुमसंलग्नानि अनुभावाभिधानानि बहूनि पत्राणि सहसैवाविर्भूय क्षणे क्षणे द्योतयन्ति यान्येव भावकुसुमं परिणामं प्रापय्य पुनस्तदैव प्रेमाभिधानफलत्वमानयन्ति। किञ्च आश्चर्यचर्येयं भक्तिकल्पवल्ली यस्याः पत्रस्तवकपुष्पफलानि प्राप्तपरिणतीन्यपि स्वस्वरूपमत्यजन्त्येव नवनवान्येव सहैव सर्वाणि विभ्राजन्ते। ततश्चास्य भक्तजनस्यात्मात्मीयगृहवित्तादिषु, शतसहस्रशो भवत्यो याश्चित्तवृत्तयो ममतारज्जुभिस्तेषु तेषु निबद्धा एव पूर्वमासन् ता एव चित्तवृत्तीः सर्वा एव ततस्ततोऽवहेलयैवोन्मोच्य स्वशक्त्या मायिकीरपि ता महारसकूपस्पृश्यमानपदार्थमात्राणीव साकार–चिदानन्दज्योतिर्मयीकृत्य ताभिरेव ममताभिः सर्वाभिस्ततस्ततो विचिताभिः स्वशक्त्यैव तथाभूतीकृताभिः श्रीभगवद्रूपनामगुणमाधुर्येषु यो निबध्नाति सोऽयं प्रेममहाकिरणमालीव उदयिष्यमाण एव निखिलपुरुषार्थनक्षत्रमण्डलीः सहसैव विलापयति।

भावानुवाद—भक्तिकल्पलताके साधन नामक जिन दो पत्तोंका पहले वर्णन किया गया है, यहाँ उनसे भी अत्यन्त अधिक चिकने श्रवण–कीर्त्तनादिमय भावपुष्पोंसे युक्त अनुभाव नामक अनेक पत्ते सहसा आविर्भूत होकर अत्यधिक शोभाका विस्तार करते हुए भावपुष्पोंको चरम पराकाष्ठा तक प्रफुल्लितकर सहसा प्रेम नामक फलको उत्पन्न करते हैं। परन्तु यह भक्तिकल्पलता अत्यन्त आश्चर्यमय चरित्रवाली है। इसके पत्ते, स्तवक, पुष्प तथा फल परिणामको प्राप्त होकर भी अपने–अपने पूर्वस्वरूपको परित्याग नहीं करते, बल्कि वे सभी नित्य नवनवायमान रूपमें सुशोभित रहते हैं।

भक्तकी जो चित्तवृत्तियाँ सैंकड़ों, हजारों भागोंमें विभक्त होकर ममतारूप रज्जुके द्वारा पहले देह, दैहिक, गृह और धन आदिमें बँधी हुई थीं, अब उन समस्त चित्तवृत्तियोंको अनायास ही उन्मुक्तकर मायिक होनेपर भी महारस कूप स्पर्शकारी पदार्थोंकी तरह अपनी शक्तिके द्वारा साकार चिदानन्द ज्योतिर्मय रूपमें परिणतकर इधर-उधर बिखरी हुई ममताको भी अपनी शक्तिसे तथाभूतकर सभीको जो भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, माधुर्यमें आबद्ध कर देता है, वही प्रेम महासूर्यकी भाँति उदित होकर निखिल पुरुषार्थरूपी नक्षत्र मण्डलियोंको सहसा विलुप्त कर देता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीपाद ग्रन्थकार इस अष्टम्यमृत-वृष्टिमें प्रेमका लक्षण और उसके अनुभावोंका विस्तृत रूपसे वर्णन कर रहे हैं। जो भाव अथवा रति चित्तको अतिशय आर्द्र अर्थात् पूर्वोक्त भगवत्-प्राप्त्याभिलाष, आनुकूल्याभिलाष, सौहार्द्र्याभिलाषके द्वारा अधिकाधिक रूपमें चित्तकी स्निग्धताको सम्पादितकर आनन्दके उत्कर्षकी चरमसीमा तक बढ़ा देता है और अभीष्टके प्रति प्रगाढ़ ममता प्रदान करता है, उसी भावको विद्वज्जन 'प्रेम' कहा करते हैं। यथा—

सम्यक् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥
(भ. र. सि. १/४/१)

भाव और प्रेममें यह भेद है कि भाव चित्तको स्निग्ध करता है और प्रेम उससे भी अधिक सम्पूर्ण रूपसे मसृण अर्थात् स्निग्ध करता है। भावमें रुचिकी साधकतमता, किन्तु प्रेममें अत्यधिक ममता होती है। सान्द्रात्मकत्व अर्थात् प्रगाढ़ता प्रेमका स्वरूप लक्षण है और उल्लिखित स्निग्धता और ममता प्रेमके तटस्थ लक्षण हैं। श्रीमद् रूपगोस्वामीने उपरोक्त श्लोकके बाद ही नारदपञ्चरात्रका प्रमाण उद्धृत किया है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

अर्थात् "जिसमें देह, गेह आदि अन्य विषयोंके प्रति ममता परित्यागकर श्रीविष्णुके विषयमें ममता होती है, उसीको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव, नारद आदि महाजनोंने 'प्रेम' कहा है।" इस प्रेमके स्तरमें ही साधक सिद्ध कहलाता है। सिद्धभक्तका लक्षण श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२/१/२८०) में कहा गया है—

अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः।
सिद्धाः स्युः सन्ततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः॥

"निखिल क्लेशोंसे रहित कृष्णक्रियाशील एवं निरवच्छिन्न प्रेमसुख अस्वादन परायण व्यक्ति ही सिद्ध है।" इसी स्तरपर हरिकथा श्रवण-कीर्त्तनमें प्रगाढ़ रसका आस्वादन होता है तथा कामुक पुरुषोंके निकट कामिनीकी वार्त्ताकी भाँति हरिकथा नित्य नवनवायमान रूपमें अनुभूत होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणी श्रुतिचेतसामपि।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता॥
(श्रीमद्भा. १०/१३/२)

अर्थात् "सारग्राही भक्तचूड़ामणियोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि उनके वचन, श्रवण, चित्त आदि श्रीकृष्णमें अर्पित होनेपर भी कामुक व्यक्ति जिस प्रकार कामिनीकी वार्त्ताको प्रतिक्षण नवीन रूपमें आस्वादन करता है, उसी प्रकार कृष्णकथा उनके निकट प्रतिक्षण नवनवायमानकी भाँति अनुभूत होती है।"

पहले द्वितीयामृत-वृष्टिमें भक्तिकल्पलताके साधन नामक (क्लेशघ्नि और शुभदा) दो पत्तोंका वर्णन किया गया है। अनर्थनिवृत्तिके पश्चात् आसक्तिकी अवस्थामें लतामें गुच्छ लगने और रतिकी अवस्थामें भावपुष्पके विकासका वर्णन किया गया है। यहाँ प्रेमके स्तरमें भावपुष्पके चारों ओर सहसा अत्यन्त चिकने-चिकने श्रवण-कीर्त्तन आदिमय अश्रु, पुलक, हास्य, रोदन, नृत्य आदि अनुभावके रूपमें सैकड़ों सहस्रों पत्ते उत्पन्न होनेपर भक्तिकल्पलता अत्यन्त सुशोभित हुआ करती है। भावपुष्प परिणाम प्राप्त होकर प्रेमफलको उत्पन्न

करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, योग आदि साधनाोंमें साधक जितना सिद्धिके निकट अग्रसर होता है, साधन उतना ही कम होने लगता है; क्योंकि उन मार्गोंमें साधन और सिद्धि दोनों पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। भक्तिमें जो सिद्धि है, वही साधन है। केवल साधन दशामें आस्वादन तरल होता है और सिद्धिमें अत्यन्त अधिक सान्द्र अथवा प्रगाढ़ होता है—यही भेद है। इसलिए साधनकी दशामें साधक जितना ही प्रेमकी ओर अग्रसर होता है उतना ही श्रवण-कीर्त्तन आदि भजन बढ़ जाता है। प्रेमके स्तरपर श्रवण-कीर्त्तन आदि ही साधकोंके लिए प्राणस्वरूप हो जाता है और वह श्रवण-कीर्त्तन आदि विविध भावविकारोंसे युक्त होकर सुशोभित होता है।

लताका फल जिस प्रकार परम आस्वादनीय और मधुर होता है, उसी प्रकार ह्लादिनीकी सारवृत्तिरूप इस प्रेमके आस्वादनकी माधुरी और मादकताके सामने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थ भी अत्यन्त तुच्छातितुच्छ प्रतीत होते हैं। यह प्रेम स्वयं आस्वाद्य होनेपर भी प्रेमीको अत्यन्त विचित्र श्रीकृष्णमाधुरीका आस्वादन कराकर श्रीकृष्णके सेवासुख आस्वादनसे उसे चिरकृतार्थ कर देता है। श्रीमन्महाप्रभुने कहा है—

पञ्चमपुरुषार्थ सेइ प्रेम-महाधन।
कृष्णेर माधुर्य-रस कराय आस्वादन॥
प्रेमा हइते कृष्ण हय निज भक्तवश।
प्रेमा हइते पाइ कृष्णेर सेवा-सुखरस॥
(चै. च. आ. ७/१४४-१४५)

साधनदशामें भक्तकी चित्तवृत्ति सैकड़ों-हजारों भागोंमें विभक्त होकर ममतारूप रज्जुके द्वारा देह-दैहिक, गृह-सम्पत्ति आदिमें नियुक्त रहती है अर्थात् देह-दैहिक आदि नाना विषयोंमें साधककी ममता बँटी हुई होती है। किन्तु प्रेम साधककी चित्तवृत्तिको अनायास ही देह-दैहिक आदि जड़ीय विषयोंसे विमुक्त कर देता है और अपने चिदानन्द रसके स्पर्श द्वारा मायिक चित्तवृत्तिको चिदानन्दमयकर श्रीभगवान्‌के नाम-रूप-गुण आदि माधुर्यमें पूर्णरूपसे संलग्न कर देता है।

जिस प्रकार पारद (पारा) के साथ गन्धकचूर्ण सहज ही मिश्रित नहीं होता। पुनः-पुनः संघर्षणके द्वारा ही ये पदार्थ मिश्रित होते हैं। उसी प्रकार साधकके इन्द्रियद्वारसे भक्ति-वृत्ति श्रवण-कीर्त्तन आदिके रूपमें प्रवेश करनेपर भी अजातरति साधककी चित्तवृत्तिके साथ भक्तिका गाढ़मिलन या एकत्व सम्पादित नहीं होता। पुनः-पुनः श्रवण-कीर्त्तन आदि भजनकी अनुवृत्तिके द्वारा क्रमशः अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्तिकी भूमिकामें आरोहण करनेपर क्रमशः ऐक्य प्राप्ति हुआ करता है। जब तक प्रगाढ़ मिलन नहीं होता तब तक राग, द्वेष आदि प्राकृत दोष मनोवृत्तिमें रह जाते हैं। रति-भूमिका प्राप्त होनेपर अन्तःकरणका प्राकृतत्व ध्वंस होता है और चिन्मयत्व प्राप्त होता है। जैसे पारद और गन्धकके परस्पर मिलनेपर उसका नाम कज्जली होता है, उसी प्रकार भक्ति एवं अन्तःकरणके ऐक्यका नाम 'प्रेम' है। साधककी चित्तवृत्ति प्रेमके स्तरपर मधुकरकी भाँति सदैव श्रीहरिके रूप, गुण, लीलाकमलके मकरन्द आस्वादनमें विभोर हो जाती है। स्वप्रकाश प्रेम महासूर्यकी भाँति साधकके हृदयाकाशमें उदित होनेपर वहाँसे धर्म-अर्थ-काम आदि पुरुषार्थरूप नक्षत्रसमूह सहसा विलुप्त हो जाते हैं। भगवत्-सेवाकी वासनाके अतिरिक्त प्रेमीके चित्तमें भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि इत्यादि कामनाओं या वासनाओंकी लेशमात्र भी गन्ध नहीं रह जाती।

प्रेमके परम आस्वादनीय रसमें मत्त भक्तकी स्थिति

फलभूतस्यास्य यः स्वाद्यमानो रसः स सान्द्रानन्दविशेषात्मा रसस्य परमपौष्टिकी शक्तिः श्रीकृष्णाकर्षिणीत्युच्यते। यस्मिन्नास्वादयितुमारभ्यमाण एव विघ्नान् न गणयतीति किं व्यक्तव्यम्। महाशूरो भट इव महाधनगृध्नुरत्यावेशलुप्तविचारस्तस्कर इव स्वात्मानमपि नावेक्षते। किञ्च रात्रिन्दिवमेव प्रतिक्षणमभ्यवह्रियमाणैश्चतुर्विधैः परमस्वादुभिरपरिमितैरन्नैरपि दुरुपशमनीया यदि काचित् क्षुधा सम्भवेत् तत्सदृश्या उत्कण्ठया सूर्य इव तापयन् तत्काल एव स्फूर्त्तैराविर्भावितानि भगवत्रूपगुणमाधुर्याण्य-पाराण्यास्वादविषयीकारयन् कोटिचन्द्र इव शिशिरयति।

भावानुवाद—फलस्वरूप इस प्रेमका जो आस्वादनीय रस है, वह सान्द्रानन्द-विशेषात्मा है। इस रसकी परम पुष्टिकारिणी जो शक्ति है, उसे 'कृष्णाकर्षिणी' कहते हैं। इस रसका आस्वादन आरम्भ हो जानेपर रसमें मत्त भक्त और किसी विघ्नकी परवाह नहीं करता। इस अवस्थामें वह युद्धमें अतिशय आवेशसे युक्त महाबलशाली योद्धाकी भाँति और महाधनके प्रति लोलुप विचाररहित तस्करकी भाँति अपनेको भूल जाता है। चतुर्विध परम स्वादिष्ट और अपरिमित अन्न दिन-रात बार-बार भोजन करनेपर भी यदि फिरसे बहुत अधिक भूख लगे, तो उस भूखको मिटानेके लिए जैसे पुनः स्वादिष्ट व्यञ्जन द्वारा ही शीतलता प्राप्त होती है, उसी प्रकार भगवान्से मिलनेकी उत्कण्ठा सूर्यके समान भक्तको तापित करके पुनः उसी समय ही स्फूर्तिरूपमें आविर्भूत भगवान्के अपार रूप, गुण, माधुर्यको आस्वादनका विषय बनाकर उसको (भक्तको) कोटि चन्द्रोंकी भाँति शीतल कर देती है। एक ही समय विरहसे उत्पन्न ताप तथा भगवान्की स्फूर्तिके कारण शीतलता—यही प्रेमका अद्भुत स्वभाव है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—प्रेमभक्तिके दो गुण हैं—'सान्द्रानन्द-विशेषात्मा' अर्थात् घनीभूत आनन्द ही जिसका स्वरूप है और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' अर्थात् श्रीकृष्णको आकर्षण करना। भक्तिरसामृतसिन्धुमें सान्द्रानन्द-विशेषात्माके विषयमें कहा गया है—"ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्ध-गुणीकृतः। नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥" "परार्द्धकाल समाधिना समुदितं तत्सुखमपीत्यर्थः" (श्रीजीवगोस्वामीकी टीका) अर्थात् "परार्द्धकाल तक समाधिके प्रभावसे सिद्ध ब्रह्मसुखकी प्राप्ति भी भक्तिसुख समुद्रके परमाणुके समान भी नहीं होती।" श्रील गोस्वामिपाद श्रीहरिभक्तिसुधोदयका प्रमाण दे रहे हैं—"तत्साक्षात्करणाह्लाद-विशुद्धाब्धिस्थितस्य मे। सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्मण्यपि जगद्गुरोः॥" "हे जगद्गुरो! तुम्हारे साक्षात् दर्शनसे उत्पन्न विशुद्ध आनन्द समुद्रमें मग्न मुझे ब्रह्मस्वरूप प्राप्तिका सुख भी गोष्पदकी भाँति लगता है।"

श्रीकृष्णाकर्षिणीके विषयमें कहा गया है—"कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम्। भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता॥" (भ. र.

सि. १/१/४९) "प्रियवर्ग सहित श्रीकृष्णको प्रेमभाजनके रूपमें आकर्षणकर वशीभूत करनेके कारण भक्तिको श्रीकृष्णाकर्षिणी कहा गया है।" श्रीमद्भागवतसे इसका प्रमाण उद्धृत कर रहे हैं—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा, लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्, गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥
(श्रीमद्भा. ७/१०/४८)

इस श्लोककी व्याख्यामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने कहा है—"अहो! प्रह्लादका क्या सौभाग्य है! उन्होंने भगवान्का दर्शन किया है, किन्तु हम लोग बड़े दुर्भागा हैं।" इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरको श्रीनारदजी कह रहे हैं—"प्रह्लादसे, प्रह्लादके गुरु मुझ नारदसे, दूसरे भक्तोंसे, यहाँ तक कि यदुपुरवासियोंसे, वशिष्ठ, मरीचि, कश्यप आदि ऋषियोंसे, ब्रह्मा, रुद्र आदिसे भी तुम पाण्डवलोग ही परम सौभाग्यवान हो; क्योंकि अपने दर्शनादिके द्वारा त्रिभुवनको पवित्र करनेवाले होनेपर भी ऋषि-मुनिगण अपनेको सब प्रकारसे पवित्र करनेके लिए तुम्हारे घरमें आगमन करते हैं। क्योंकि यहींपर (वेदोंके लिए भी) निगूढ़ नराकृति परब्रह्म (तुम्हारे न बुलानेपर भी) परम आसक्तिके साथ सर्वदा विराजमान रहते हैं। प्रह्लादके घरमें नराकृति परब्रह्म न तो साक्षात् रूपसे वास करते हैं और न ही उनके दर्शनकी आकांक्षासे मुनिलोग ही वहाँ जाते हैं।" ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने सान्द्रानन्द-विशेषात्माको इस प्रेमफलका आस्वाद्यमान 'रस' और श्रीकृष्णाकर्षणीको इस फलकी परम पुष्टिकारिणी शक्ति कहा है।

श्रीसूतगोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१/२/६) में शुद्धा या निर्गुणा भक्तिके दो स्वरूपभूत गुणोंका वर्णन किया है—'अहैतुकी' अर्थात् फलाकांक्षासे रहित एवं 'अप्रतिहता' या सब प्रकारके विघ्नोंसे रहित। भजनकालमें विघ्न उपस्थित होनेपर भी साधक उस विघ्नके द्वारा अभिभूत नहीं होते, बल्कि विघ्नोंके आनेपर उनमें दीनता और उत्कण्ठा आदि वर्धित होते हैं, जिससे भजनपथमें उनकी उन्नति होती है। प्रेमके स्तरमें भक्त प्रेमफलके आस्वादनमें ऐसे मत्त हो जाते हैं कि किसी

विघ्न-बाधासे तनिक भी प्रभावित नहीं होते। महाबलशाली योद्धा जिस प्रकार रणक्षेत्रमें युद्धके आवेशसे अपनेको भूलकर युद्धमें प्रमत्त हो जाता है और महाधनका लोलुप तस्कर जिस प्रकार पाप इत्यादि, यहाँ तक कि मृत्युके भयसे भी रहित होकर चोरीके कार्यमें प्रमत्त हो उठता है, उसी प्रकार प्रेमीभक्त अपने शुभाशुभके विषयमें विचार रहित होकर प्रेमरसके आस्वादनमें प्रमत्त हो उठता है।

इस विश्वमें भूख और खाद्य वस्तु एक दूसरेका विनाश किया करते हैं। इस विषयमें प्रेम-राज्यकी रीति कुछ और भी विलक्षण है। प्रेमिक स्फूर्ति, स्वप्न और साक्षातमें जितनी अधिक श्रीकृष्णमाधुरीका आस्वादन किया करते हैं, उतनी ही अपरिमित उत्कण्ठा वर्धित होकर उनकी आस्वादन-लोलुपताको अत्यन्त अतिशय रूपमें वर्धित किया करती है। इस प्रकार तीव्र तृष्णा ही आस्वादनका परिमापक है। विपुल उत्कण्ठामयी पिपासा और स्फूर्ति प्राप्त श्रीकृष्णके रूप, गुणादि माधुर्यके अपरिमित आस्वादनसे भक्त युगपत् कोटि सूर्यके तापसे सन्तप्त होकर भी कोटि चन्द्रकी सुशीतलतासे स्निग्ध हुआ करते हैं।

प्रेममें युगपत् विरह-ताप और भगवान्‌की स्फूर्तिसे उत्पन्न शीतलता

युगपदेव स्वाधारमद्भुतोऽयं प्रेमा उदित्य च यस्मिन्नीषदेव वर्द्धमाने भगवत्साक्षात्कारमेव प्रतिक्षणमाकांक्षतो भक्तस्य उत्कण्ठाशल्यस्य महादाहकस्येवातिप्राबल्योदयात् स्फूर्त्तिप्राप्ततद्रूपलीलामाधुर्यैरपि अतृप्तस्य तस्य बान्धवोऽपि निरुदकान्धकूप एव भवनमपि कण्टकवनमेव यत्किञ्चनाभ्यवहारोऽपि प्रहारो महानेव सज्जनकृतप्रशंसा अपि सर्पदंशा एव प्रात्यहिककृत्यकर्त्तव्यमपि मर्त्तव्यमेव अङ्गप्रत्यङ्गानि अपि महाभार एव सुहृद्गणसान्त्वनमपि विषदृष्ट एव सदा जागरोऽपि सागरोऽनुतापस्यैव कदाचित् निद्रापि विद्राविणी जीवनस्यैव स्वविग्रहोऽपि भगवन्निग्रहो मूर्त्त एव प्राणा अपि धानाः पुनःपुनर्भृष्टा एव किं बहुना प्राक् सदैवाभीष्टमासीद्यत् तच्च रहो महोपद्रव एव भगवच्चिन्तनमेवात्मनिकृन्तनमेव।

भावानुवाद—विरह-ताप और माधुर्यस्वादनकी शीतलता—इन दोनों विरुद्धभावोंको एक ही साथ विस्तार करनेवाला अद्भुत प्रेम अपने आधाररूप भक्तमें उदित होकर अथवा तनिक वृद्धि प्राप्तकर प्रतिक्षण भगवत्-साक्षात्कारके लिए आकांक्षी भक्तकी उत्कण्ठारूपी घास-फूसको महादाहक अग्निकी भाँति प्रबल हो इस प्रकार दग्ध करता है कि उत्कण्ठाकी प्रबलतासे स्फूर्ति प्राप्त श्रीभगवान्के रूप और लीला माधुर्यसे भी उसकी तृप्ति नहीं होती। इस अवस्थामें उस प्रेमीभक्तको अपने बन्धु-बान्धवगण जलरहित अन्धे कुँएके समान, गृह-भवन कांटोंसे घिरे हुए जंगलके समान, आहार महाप्रहारकी भाँति, सज्जनों द्वाराकी जानेवाली प्रशंसा सर्प-दंशनके समान, दैनिक क्रिया-कर्म उसे मृत्युके समान, अपने शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भारी बोझके समान, बन्धु-बान्धव द्वारा दी हुई सान्त्वना विषके समान, सर्वदा जाग्रत-अवस्था अनुताप-समुद्रके समान, कदाचित् नींदका आना जीवन-ध्वंसकारी यन्त्रणाके समान, अपना शरीर धारण करना भी भगवान्की ओरसे दण्ड-भोगनेके समान, प्राणोंका आना-जाना भुने हुए धानकी भाँति निष्फल लगता है—अधिक क्या कहा जाए, पहले जो-जो पदार्थ उसके एकमात्र मनोवाञ्छित थे, सदा प्रिय लगते थे, वे ही इस अवस्थामें महा उपद्रवके समान जान पड़ते हैं और भगवत्-चिन्तन भी उसे अपने टुकड़े-टुकड़े करनेवाला प्रतीत होता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—रतिकी दशामें साधक जिस प्रकार स्फूर्तिमें प्राप्त अभीष्टदेवके रूप, गुणादिके आस्वादनसे आनन्दमें निमग्न हो जाता है, प्रेमके उदित होनेपर पहलेकी भाँति उस स्फूर्ति प्राप्त माधुर्यके आस्वादनमें स्थिर नहीं रह पाता है। तब साक्षात् कृष्णप्राप्तिके लिए प्रेमीभक्तके हृदयमें विपुल उत्कण्ठाका उदय होता है। प्रेमवस्तु अत्यन्त अद्भुत, स्वानुभववेद्य और निरुपम है। उसे भाषाके द्वारा प्रकाश नहीं किया जा सकता। अपने हृदयमें प्रेमका उदय नहीं हुआ हो तो दूसरोंके निकट श्रवण करके भी वह भलीभाँति बोधगम्य नहीं होता; क्योंकि पदार्थबोध उपलब्धिके सापेक्ष होता है। प्रेममें युगपत् उत्कण्ठाकी प्रबलता और स्फूर्ति प्राप्त श्रीकृष्णके रूप, गुणादिके

आस्वादनजनित शान्तिका माधुर्य प्रेमीभक्तके हृदयमें एक अनिर्वचनीय आनन्द वेदनाकी सृष्टि करता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

बाहिरे विषज्वाला हय, भितरे आनन्दमय,
कृष्णप्रेमार अद्भुत चरित॥
ऐइ प्रेमा-आस्वादन, तप्त-इक्षु-चर्वण,
मुख ज्वले, ना जाय त्यजन।
सेइ प्रेमा याँर मने, तार विक्रम सेइ जाने,
विषामृते एकत्र मिलन॥
(चै. च. म. २/५०-५१)

पीड़ाभिर्नवकालकूट-कटुता-गर्वस्य निर्वासनो
निःस्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहंकार-संकोचनः।
प्रेमा सुन्दरि! नन्दनन्दनपरो जागर्त्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥
(विदग्धमाधव २/३०)

देवी पौर्णमासी नान्दीमुखीसे कह रही हैं—"सुन्दरि! श्रीनन्दनन्दन विषयक प्रेम जिसके हृदयमें उदित होता है, वही व्यक्ति स्पष्ट रूपसे प्रेमके विक्रमको जान सकता है। इस प्रेमकी पीड़ा नवीन कालकूट विषकी कटुताके गर्वको भी विदूरित कर देती है। पुनः जब इस प्रेमकी आनन्द धारा प्रवाहित होने लगती है, तब अमृतके माधुर्यसे उत्पन्न अहङ्कार भी संकुचित हो जाता है।"

भक्तके हृदयमें इस प्रकार अपूर्व आनन्द और वेदनाका द्वंद्व चलता रहता है। अन्तमें श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनके लिए उत्कण्ठाकी प्रबलता हेतु आनन्द उपमर्दित होता है और विरह-वेदना ही अत्यन्त अधिक रूपमें प्रबल भावसे प्रकाशित होती है। श्रीपाद ग्रन्थकारने अनुप्रास अलङ्काररूप काव्यलालित्यके माध्यमसे तत्कालीन प्रेमीका देह और मनकी चेष्टाओंका जो वर्णन किया है, उसमें प्रेमीभक्तकी उत्कण्ठा और व्याकुलताकी बड़ी ही अनुपम और सुन्दर छवि अंकित

होती है। उत्कण्ठाकी अधिकतासे देह-दैहिकादि चेष्टाएँ, यहाँ तक कि पहले सुख प्रदान करनेवाला भगवत्-चिन्तन भी किस प्रकारसे असहनीय दुःखकर या ज्वालामय हो उठता है, इसका श्रीपादने स्वयं वर्णन किया है। उस समय जलके बिना जैसी मछली छटपटाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके बिना भक्तोंकी वैसी ही दशा होती है। भगवान्के विरहमें प्रेमीभक्तोंको सारा विश्व ही शून्य प्रतीत होता है—"शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द-विरहेण मे।" (शिक्षाष्टक ७)

प्रेमसे आकर्षित होकर भगवान् द्वारा अपने भक्तको साक्षात् दर्शन प्रदान तथा अपने माधुर्यका विस्तार

ततश्च प्रेमैव चुम्बकीभावमापद्य कार्ष्णायसीभूतं कृष्णमाकृष्यानीय कस्मिंश्चन क्षणे भक्तस्यास्य नयनगोचरीकरोति। तत्र च सौन्दर्यसौरभ्यसौस्वर्य-सौकुमार्यसौरस्यौदार्यकारुण्यानीति स्वीयाः स्वरूपभूताः परमकल्याणगुणाः भगवता स्वभक्तस्य तस्य नयनादिष्विन्द्रियेषु निधीयन्ते। तेषाञ्च परममधुरत्वे नित्यनवत्वे च भक्तस्यास्य च तदास्वादयितुः प्रेम्णैव प्रवर्त्तमाने प्रतिक्षणवर्द्धिष्णौ महोत्कण्ठायां च कोऽप्यानन्दमहोदधिराविर्भवन्नार्हति कविसरस्वतीलकुट्या परिमेयताम्। यथा हि अतिनिविडतरविटपदलकुलप्रवलितमहान्यग्रोधतलस्य सुरदीर्घिकाहिमसलिलसंभृतघटशतवलयिततटस्यातिशिशिरत्वे तदाश्रयितुर्जनस्य च तपर्त्तुतरणिकिरणतप्तमरुसरणिमहापान्थत्वे च। तथा कादम्बिनी-घनासारस्यापारत्व इव तदभिषिच्यमानस्य वनमतङ्गजस्य चिरन्तनदवदवथुदूनत्वेन च तथा सुधाकिरणस्यातिमधुरत्वे तत्पानकर्त्तुश्च महारोगशतवत्त्वे स्वादलोलुपत्वे च यस्तादात्मिक आनन्द स एव दिग्दर्शनार्थं तस्योपमानीक्रियते॥१॥

भावानुवाद—तदनन्तर यही प्रेम चुम्बकका रूप धारणकर श्रीकृष्णरूपी लोहेको आकर्षण करके किसी भी समय ऐसे भक्तको उनका दर्शन करा देता है। तब श्रीभगवान् भी अपने सौन्दर्य, सौरभ्य, सौस्वर्य, सौकुमार्य, सौरस्य, औदार्य एवं करुणा आदि स्वरूपभूत परम मङ्गलमय गुणोंको अपने भक्तकी नेत्र आदि-इन्द्रियोंके गोचर करा देते हैं। इन समस्त गुणोंके परम मधुर और नित्य नवीन होनेपर भी प्रेमपूर्वक इनका आस्वादन करनेवाले भक्तके हृदयमें प्रतिक्षण वर्धनशील

तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न होती है और अन्तमें उसमें ऐसे आनन्दका महासागर उद्वेलित होता है कि जिसका नाप-तोल किसी कविकी वाणी भी करनेमें समर्थ नहीं हो पाती। ग्रीष्मकालमें सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए मरुस्थलके पथमें भ्रमण करते हुए पथिकको जैसे अतिशय घनी शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त विशाल ऊँचे वट-वृक्षकी छायामें रखे हिमके समान सुशीतल जलसे भरे सैकड़ों घड़ोंसे सिञ्चित प्रदेशका आश्रय लेनेपर अथवा चिरकालसे दग्ध दावानलसे पीड़ित वनमें भ्रमण करनेवाले हाथियोंको घनघोर बादलोंसे वर्षित असंख्य जलधाराओंसे स्नान करनेपर अथवा सैकड़ों महारोगोंसे प्रपीड़ित स्वाद-लोलुप व्यक्तिको अति सुमधुर अमृतके पान करनेपर जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द प्रेमीभक्तके आनन्दका दिग्दर्शन करानेके लिए किञ्चित्मात्र उपमाके समान है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—प्रेमके साथ उत्कण्ठाका योग होनेपर ही भगवान्का साक्षात् दर्शन होता है, अन्य किसी भी उपायके द्वारा यह सम्भव नहीं है। प्रकटलीलाके समय प्रेमरहित असुर आदि जिस प्रकार भगवान्का दर्शन करते हैं, उसे यथार्थ दर्शन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भगवन्माधुरीके आस्वादनके बिना भगवान्का दर्शन भी दर्शन नहीं करनेके समान ही है। ठीक वैसे ही जैसे पित्तरोगसे दूषित रसना मीठी वस्तुओंका स्पर्श करनेपर भी उनका आस्वादन नहीं कर पाती। जिस प्रकार चुम्बक स्वभावतः ही लोहेको आकर्षण करता है, उसी प्रकार ह्लादिनीशक्तिकी सारवृत्ति 'प्रेम' भी श्रीकृष्णको आकर्षणकर भक्तोंके नयनगोचर करा देता है। श्रीकृष्णके स्वरूपानन्दकी अपेक्षा भक्तानन्दका आस्वादन अत्यन्त विचित्र है। "मत्स्वरूपभूतानन्दादपि मद्भक्तस्वरूपानन्दोऽतिस्पृहणीय इति द्वयोरपि चिद्रूपत्वेऽपि भक्तवर्त्तिन्या भक्तेरनुग्रहाख्य चिद्वृत्तिविपाक-रूपायाः सर्वचित्सारभूतत्वान्ममानन्द-स्वरूपस्याप्यानन्दकत्वादाकर्षत्वाच्च।" (श्रीमद्भा. ९/४/६४ की टीका श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर) अर्थात् श्रीमन्नारायण दुर्वासाके प्रति कह रहे हैं—"हे ब्रह्मन्! मेरे स्वरूपभूत आनन्दकी अपेक्षा भक्तका स्वरूपानन्द या भक्तोंके हृदयमें स्थित प्रेमानन्द मेरे लिए भी स्पृहणीय

है। मेरा स्वरूपानन्द और भक्तोंके हृदयमें अवस्थित प्रेमानन्द दोनों चित्-रूप होनेपर भी महत्कृपासे उत्पन्न भक्तके हृदयमें अवस्थित प्रेमानन्द चित्-वृत्तिके विपाकस्वरूप (जिस प्रकार तरल दुग्धसे परिपक्व मेवा) एवं समस्त चिद्वस्तुओंका सारभूत कहा जानेवाला यह प्रेमानन्द, आनन्दस्वरूप मुझे भी आनन्द प्रदान करनेवाला और आकर्षक होता है।"

करुणामय श्रीभगवान् प्रेमीभक्तोंके नयनगोचर होकर अत्यन्त उत्कण्ठित प्रेमीभक्तके भगवन्माधुर्य आस्वादनके निमित्त प्रचुर पिपासाका दर्शनकर अपने अतुलनीय प्रेमसम्पद् स्वरूप अपना रूप, गन्ध, शब्द, स्पर्श और रस यथाक्रमसे भक्तोंके चक्षु, नासा, कर्ण, त्वचा और जिह्वामें एवं अपने अपार औदार्य, कारुण्य इत्यादि गुणोंको भक्तोंके हृदयमें आस्वादन कराते हैं। ये गुण जिस प्रकार मधुरसे भी अत्यन्त अधिक मधुर हैं, उसी प्रकार जलप्रवाहकी भाँति क्षण-क्षणमें नित्य नवीन होनेके कारण भक्तोंके अन्तरमें प्रतिक्षण अत्यन्त प्रबल उत्कण्ठा या प्रबल पिपासा वर्धित हुआ करती है। यह प्यास जितनी अधिक होती है, आस्वादन भी उतना ही अधिक बढ़ता जाता है। जितनी प्यास, उतना ही आस्वादन और जितना आस्वादन, उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है। अत्यन्त महती प्यासके फलस्वरूप भगवन्माधुरी आस्वादनके समुद्रमें प्रेमी डूबने-उतरने लगता है। यह उत्कण्ठा और आस्वादन इतना अनिर्वचनीय है कि किसी कविका काव्य भी इसका विवेचन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। तथापि ग्रन्थकार महोदय दृष्टान्तके द्वारा इस विषयको स्पष्ट कर रहे हैं। जिस प्रकार ग्रीष्मकालके सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए मरुस्थलके पथमें भ्रमण करते हुए पथिकको अतिशय घनी शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त विशाल ऊँचे वट-वृक्षकी छायामें आ जानेपर सुख मिलता है अथवा गङ्गाके हिमके समान शीतल जलके सैकड़ों घड़ोंसे सिञ्चित प्रदेशमें आ जानेपर शीतलता प्राप्त होती है, चिरकालसे दावानलसे सन्तप्त वनमें भ्रमण करनेवाले हाथीको घनघोर बादलोंकी असंख्य जलधाराओंसे स्नान करनेपर सुखका अनुभव होता है अथवा सैकड़ों महारोगोंसे प्रपीड़ित स्वाद-लोलुप व्यक्तिको अति सुमधुर अमृतका पान करनेपर जो तादात्मिक

आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द प्रेमीभक्तके आनन्दका दिग्दर्शन कराने हेतु तुलना स्थलमें किञ्चित् उपमामात्र ही है।

भगवान् द्वारा अपने सौन्दर्य और सौरभका प्रकाश तथा भक्तको सान्त्वना प्रदान

तत्र प्रथमं लब्धापारचमत्कारस्य भक्तस्य लोचनयोः स्वसौन्दर्यं प्रकाश्यते प्रभुणा। ततस्तन्माधुर्येण सर्वेन्द्रियाणां मनसश्च लोचनमयीभावे प्रवर्त्तिते स्तम्भकम्पवाष्पादिभिः कृतविघ्नश्च तस्यानन्दकृतमूर्च्छायां जातायां प्रबोधयितुमिव द्वितीयं सौरभ्यं तदीयघ्राणेन्द्रियेषु प्रकाश्यते। तेनापि तेषां घ्राणमयीभावे द्वितीयमूर्च्छारम्भे अरे मद्भक्त तवाहमेव सम्पद्यमानोऽस्मि मा विह्वलीभूर्निकामं मामनुभवेति तृतीयं सौस्वर्यं श्रवणेन्द्रियग्राह्यमाविर्भाव्यते। पुनस्तेनापि तेषां श्रवणमयीभावे तृतीयमूर्च्छोपक्रमे कृपया चरणारविन्देन पाणिभ्याम् उरसा च स्वस्पर्शं दत्त्वा चतुर्थं स्वसौकुमार्यमसावनुभाव्यते। तत्र दास्यभाववतस्तस्य मूर्द्ध्नि चरणेन स्पर्शः सख्यभाववतः पाण्योः पाणिभ्यां वात्सल्यभाववतः स्वकरतलेनाश्रुमार्ज्जनं प्रेयसीभाववतस्तु उरसि स्ववक्षसा बाहुभ्यामाश्लेषः क्रियते इति भेदो बोध्यः।

भावानुवाद—श्रीभगवान् सर्वप्रथम भक्तोंके नेत्रोंके आगे अपने अपार चमत्कारितापूर्ण सौन्दर्यको प्रकाशित करते हैं। तत्पश्चात् उनके उस रूपमाधुर्यके द्वारा उस भक्तके मन सहित सारी इन्द्रियाँ प्रेममय हो उठती हैं और उसमें स्तम्भ, कम्प, वाष्पादि प्रेमके विकार उत्पन्न होते हैं, जिन्हें वह विघ्नके समान ही मानता है। इससे वह भक्त आनन्दरूपी मूर्च्छामें अपनी सुध-बुध खो देता है। तब श्रीभगवान् उस भक्तको सचेतन करनेके लिए उसके समीप उपस्थित होते हैं और उसकी घ्राणेन्द्रिय (नाक) में अपने दूसरे माधुर्य सौरभको प्रकाशित करते हैं। उस अपूर्व मधुर सौरभसे उस भक्तकी सारी इन्द्रियाँ घ्राणेन्द्रियका भाव प्राप्त कर लेती हैं जिससे वह भक्त पुनः दूसरी आनन्दमूर्च्छामें अचेतन हो जाता है। उस अवस्थाके प्रारम्भमें श्रीभगवान् यह कहते हुए—"मेरे प्यारे भक्त! मैं तो सब प्रकारसे तुम्हारे अधीन हूँ, तुम व्याकुल मत हो, मेरा अनुभवकर अपनी

कामनाको पूर्ण करो।" भक्तके निकट उसके कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य अपनी सुमधुर वाणी रूप तीसरे माधुर्यको प्रकाशित करते हैं। उस मधुर स्वरको सुनते ही उस भक्तकी समस्त इन्द्रियाँ श्रवणमय हो जाती हैं और वह फिर तीसरी आनन्द मूर्च्छामें पड़ने लगता है, उसी क्षण श्रीभगवान् कृपापूर्वक अपने श्रीचरणकमलोंसे या करकमलोंसे अपना अत्यन्त मधुर स्पर्श प्रदान करते हुए अथवा अपने हृदयसे लगाकर उस भक्तको अपने चौथे माधुर्य सौकुमार्यका अनुभव कराते हैं। भगवान् दास्य भावयुक्त भक्तके मस्तकपर अपने श्रीचरणोंका स्पर्श, सख्य भावयुक्त भक्तके मस्तकपर अपने करयुगलोंका कोमल स्पर्श, वात्सल्य भावयुक्त भक्तका अपने सुकोमल करतलोंसे अश्रुमार्जन और मधुर भावयुक्त भक्तके वक्षस्थलसे अपने वक्षस्थलका स्पर्शकर भुजाओं द्वारा आलिङ्गन किया करते हैं। इस प्रकार भाव भेदसे अङ्गस्पर्शके भेदको समझना चाहिए।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—परम करुणामय श्रीभगवान् परम उत्कण्ठित प्रेमी भक्तोंको दर्शन प्रदानकर अपने सौन्दर्य, सौरभ्य, सौस्वर्य, सौकुमार्य और सौरस्य—इन पाँच प्रकारके गुणोंको क्रमशः प्रेमीभक्तोंके नेत्र, नासिका, कान, त्वचा और रसनामें तथा अपने औदार्य, कारुण्यादि गुणोंको प्रेमीभक्तोंके मनमें आस्वादन कराया करते हैं, ऐसा कहा गया है। यहाँ उन गुणोंको प्रेमी भक्तोंकी इन्द्रियोंमें आविर्भूत करानेका कारण और क्रम बतला रहे हैं।

श्रीभगवान् सर्वप्रथम भगवद्दर्शनके लिए उत्कण्ठित प्रेमीभक्तोंके नेत्रोंके सामने अपने अपार मधुर सौन्दर्यको प्रकाशित किया करते हैं। "कृष्णरूपामृतसिन्धु, ताहार तरङ्गबिन्दु, एकबिन्दु जगत् डुबाय।" (चै. च. अ. १५/१९) इस रूपके अमृतसागरको आँखोंके सामने उच्छ्वलित होता देखकर उत्कण्ठित भक्तकी निखिल इन्द्रिय वृत्तियाँ उस मधुर रूपके दर्शनोंकी लालसासे नेत्रोंमें केन्द्रीभूत हो जाती हैं। अर्थात् भगवान्‌का वह सौन्दर्य इतना मधुर और चमत्कारी है कि उसे केवल दो नेत्रोंसे आस्वादन करते नहीं बनता। भक्तकी समस्त इन्द्रियाँ ही नेत्रभावको प्राप्त होकर उस सौन्दर्यराशिमें केन्द्रित हो जाती हैं और

वह आनन्दसे मूर्च्छित हो जाता है। इस प्रकार भगवान्‌की अङ्गगन्धमाधुरी, मधुर सुरीली वंशीमाधुरी और कोमलतामाधुरी आदि एक-एक माधुरीको आस्वादन करनेके लिए भक्तकी समस्त इन्द्रियाँ ही उन-उन माधुरियोंको ग्रहण करनेके लिए केन्द्रित हो जाती हैं। रूपमाधुरीका आस्वादन करनेके लिए समस्त इन्द्रियाँ नेत्रमय और स्वरमाधुरीको आस्वादन करनेके लिए समस्त इन्द्रियाँ श्रवणमयी हो जाती हैं—इस तरह उनका पृथक्-पृथक् कोई कार्य-व्यापार नहीं रह जाता। करुणामय श्रीभगवान् अपने समस्त माधुर्यको भक्तको दान करके उसे कृतार्थ कर देते हैं। प्रत्येक भावके भक्तके लिए वे उसी प्रकार भावानुकूल माधुर्य आस्वादन कराकर उसकी तीव्र उत्कण्ठाको पूर्ण करते हैं।

सौरस्य और औदार्यका विस्तार

पुनश्च तेनापि तथा तथैव चतुर्थमहामूर्च्छारम्भे पञ्चमं स्वाधरसम्बन्धि सौरस्यं तदीयरसनेन्द्रियग्राह्यं प्रेयसीभाववत्येव तत्कालप्रादुर्भूततदभीष्टाकरवति-भक्तजन एव प्रकाश्यते नान्यत्र। ततश्च पूर्ववदेव तथा तथाभावेऽपि तदातन्यास्त्वानन्दमूर्च्छायास्त्वतिनैविड्ये जाते ततः प्रबोधयितुमसमर्थेनेव भगवता षष्ठमौदार्यं वितन्यते। तच्च तेषामेव सौन्दर्यादीनां सर्वेषामेव तन्नयनादिसर्वेन्द्रियेष्वेव युगपदेव बलाद्वितरणम्। तदैव भगवदिङ्गितज्ञेनेव प्रेम्नाप्यतिवर्द्धमानेन सता तदनुरूपतृष्णातिरेकं सम्वर्न्ध्यापि तत्र भक्ते स्वयं चन्द्रत्वमुपेयुषा युगपदेवानन्दसमुद्रशतलहरीव्यतिसंमर्द्दभरजर्ज्जरितत्वमिव तस्य अन्तःनिर्मिमाणेन स्वयमेव साकारतन्मनोऽधिदैवतीभवतेव तथा स्वशक्तिर्वितीर्यते यथा यौगपद्येनैव ते ते स्वादा निर्विवादा एव भवन्ति। न चैवं मनसोऽनेकाग्रत्वेन तत्तदास्वादस्यासान्द्रतेति वाच्यम्। प्रत्युत सौन्दर्य-सौस्वर्यादीन् प्रति सर्वेन्द्रियाणामेव नयनीभावश्रवणीभावाद्या एकदैव बोभूयमाना अलौकिकाचिन्त्याद्भुतचमत्कारमेवातन्वन्तः स्वादस्यातिसान्द्रत्वमेव कुर्वन्ति। नैवास्ति तत्र लौकिकानुभवतर्कदावदवथोरवकाशोऽपि। अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदित्यादि॥२॥

भावानुवाद—तदनन्तर प्रेमीभक्तोंकी चतुर्थ मूर्च्छाके प्रारम्भमें श्रीभगवान् अपने अधरोंका सौरस्य नामक पाँचवाँ माधुर्य प्रकट करते हैं, जो भक्तकी रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। इस माधुर्यका प्रकाश श्रीभगवान् केवल प्रेयसी भाववाले भक्तोंके अभीष्टके अनुसार ही करते हैं, अन्यत्र कहीं भी इसका प्रकाश नहीं करते। पहले भावोंकी अपेक्षा इस अवस्थामें होनेवाली मूर्च्छा अत्यन्त प्रगाढ़ताको प्राप्त करती है और भक्तको अन्य किसी भी प्रकारसे चेतन करानेमें मानो श्रीभगवान् असमर्थ हो जाते हैं, इसलिए वे अपने छठे माधुर्य उदारताका वितरण करते हैं। सौन्दर्यादि समस्त गुणोंके माधुर्यको प्रेमीभक्तकी नेत्रादि समस्त इन्द्रियोंके समक्ष एक ही साथ बलपूर्वक वितरण करना 'औदार्य' कहलाता है।

उस समय श्रीभगवान्के इङ्गितको समझकर प्रेम भी अधिक रूपमें बढ़ जाता है और भक्तकी भावानुकूल उत्कण्ठाको बढ़ाकर स्वयं ही चन्द्रभाव ग्रहण कर लेता है और एक ही साथ आनन्दसागरमें सैकड़ों तरङ्गोंको प्रकटितकर भक्तके अन्तःकरणका अत्यधिक मन्थन करने लगता है। उसे जर्जरितकर पुनः उसे सुगठित करता है और भक्तके मनका साकार अधिदेवता बन बैठता है। वह अपनी शक्तिका इस प्रकार विस्तार करता है कि भक्तके हृदयमें एक ही साथ सौन्दर्यादि समस्त गुणोंका माधुर्य आस्वादन निर्विवाद रूपसे होने लगता है।

यहाँ ऐसा भी कहना उचित नहीं है कि "भक्तके मनकी एकाग्रता न रहनेके कारण एक ही समय अनेक माधुर्योंका भलीभाँति प्रगाढ़ रूपसे आस्वादन नहीं हो सकता" क्योंकि श्रीभगवान्की अलौकिक अचिन्त्य शक्तिसे प्रेम अभूतपूर्व चमत्कारोंका विस्तारकर समस्त इन्द्रियोंके नयनीभाव एवं श्रवणीभावको विशेष रूपसे सम्पादितकर आस्वादनकी अतिशय प्रगाढ़ताको बढ़ा देता है। इस अलौकिक विषयमें लौकिक अनुभव जनित किसी भी तर्कका कोई स्थान नहीं है; क्योंकि अचिन्त्य भावोंको कभी भी तर्कबुद्धिसे समझनेका प्रयास नहीं करना चाहिए।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति—श्रीभगवान् भक्तोंकी चतुर्थ मूर्च्छाके प्रारम्भमें अपने पञ्चम माधुर्य सौरस्य या अधरामृतको भक्तोंकी रसनेन्द्रियमें प्रकट करते हैं। दास्यादि भाववाले भक्तोंको अपना प्रसाद या चबाए हुए पानकी बीड़ीको दानकर, मधुररस या प्रेयसी भाववाले भक्तोंको उनके स्वाभिलाषी भावसे ही इस माधुरीका आस्वादन कराते हैं। उस माधुर्यके अनुभवसे अत्यधिक आनन्दके कारण प्रगाढ़ मूर्च्छा प्राप्त होनेपर श्रीभगवान् उस मूर्च्छाको दूर करनेके लिए और कोई भी उपाय न देखकर अपने छठवें माधुर्य औदार्यको प्रकटकर एक ही साथ अपने सौन्दर्य, सौरभ्य, सौस्वर्य, सौकुमार्य तथा सौरस्यको भक्तोंके नेत्र, कर्ण, नासिका आदि पञ्चेन्द्रियोंके गोचरीभूत कर देते हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि एक समयमें किसी भक्तके लिए एक ही माधुर्यका आस्वादन करना सम्भव है, एक ही साथ एक ही मनके द्वारा पञ्चेन्द्रियोंके पाँच प्रकारके माधुर्योंका आस्वादन कैसे सम्भवपर हो सकता है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं, भगवान्का इशारा पाते ही भक्तका प्रेम अत्यन्त अधिक बढ़ जाता है एवं प्रेमसे उत्पन्न तृष्णा या उत्कण्ठाको भी अत्यधिक वर्धितकर, जिस प्रकार चन्द्रके उदयसे समुद्र अत्यन्त उच्छ्वसित और आलोड़ित होता है अर्थात् उसमें नाना प्रकारकी तरङ्गें आदि उठने लगती हैं, उसी प्रकारसे भक्तोंके आनन्दसिन्धुको उच्छ्वसित और आलोड़ितकर भक्तोंके अन्दरमें एक ऐसी शक्तिका विस्तार करते हैं, जिससे भगवद्भक्त एक ही साथ पञ्चेन्द्रियोंके द्वारा श्रीभगवान्की पाँच प्रकारके माधुर्योंका आस्वादन करनेमें समर्थ होता है।

इस प्रकारका सन्देह करना भी अनुचित है कि एक समयमें मन एक ही विषयमें एकाग्र हो सकता है। एक ही साथ पाँच प्रकारके माधुर्यका आस्वादन करनेके लिए मनको पाँच ओर अभिनिविष्ट होना पड़ेगा। इससे किसी भी इन्द्रियके आस्वादनकी प्रगाढ़ता सम्भवपर नहीं हो सकती। वस्तुतः श्रीभगवान् अपनी अचिन्त्यशक्तिके बलसे पूर्वकी भाँति भक्तोंकी इन्द्रियोंको युगपत् नयनीभाव, श्रवणीभाव आदि प्राप्त कराकर पाँच प्रकारके माधुर्योंको गाढ़रूपसे आस्वादन करनेकी शक्ति

प्रदान करते हैं, अर्थात् श्रीभगवान्‌की अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे भक्त एक ही साथ अपनी पञ्चेन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌के पाँच प्रकारके माधुर्योंको प्रगाढ़ रूपमें आस्वादन करता है। इसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। ये सब अलौकिक विषय लौकिक युक्ति और तर्कके द्वारा गोचर नहीं होते।

'भक्तवात्सल्य' ही भगवान्‌के गुणोंमें सम्राट

ततश्च सौन्दर्यादीनां यावन्ति माधुर्याणि तेषां सामस्त्येनाऽनुबुभूषावपि अस्मिन् भक्तचातकचञ्चुपुटे जलदबिन्द्वावलीव न मान्ति तानि विमृश्याहो तर्हि मयैतानि सौन्दर्यादीन्येतावन्ति किमर्थं धृतानीति तेषां संभोजनायैव सप्तमं सर्वशक्तिकदम्बपरमाध्यक्षाया आगमादावपि विमलोत्कर्षिण्यादी-नामष्टदिग्दलेषु वर्त्तमानानां स्वरूपशक्तिनां मध्य एव कर्णिकायां महाराजचक्रवर्त्तिन्या इव स्थिताया ह्यनुग्रहाभिधानत्वेनोक्ताया: भगवतो नयनारविन्द एव आत्मानं व्यञ्जयन्त्याः कृपाशक्तेर्विलसितं क्वचित् दासादौ वात्सल्यमिति क्वचित् कारुण्यमिति प्रियादौ चेतोद्रव इति क्वचिदनु कति नाम्नाभिधीयमानम् उदयते। ययैव कृपाशक्त्या सर्वव्यापिन्यपि तदीयेच्छाशक्तिः साधुषु साध्वेवं रञ्जिता परमात्मारामानपि महाचमत्कृतिभूमीरध्यारोहयति। ययैव भगवतो भक्तवात्सल्यं नाम एक एव गुणः सम्राडिव प्रथमस्कन्धे पृथिव्योक्तान् स्वरूपभूतान् सत्यशौचादीन् कल्याणगुणान् शास्ति।

भावानुवाद—तदनन्तर श्रीभगवान्‌के सौन्दर्यादि सभी माधुर्योंको एक ही समय अनुभव करनेकी इच्छा करते हुए भक्तरूपी चातककी चोंचमें मेघकी समस्त जल धाराओंके सदृश समाते न देखकर श्रीभगवान् ऐसा विचार करते हैं कि "अहो! मैंने इतने माधुर्योंको क्यों धारण किया?" अतः वे समस्त माधुर्योंका भक्तको सम्यक् रूपसे भलीभाँति आस्वादन करानेके लिए ही अपने सातवें माधुर्य कारुण्य गुणको प्रकाशित करते हैं। यही कारुण्य श्रीभगवान्‌की समस्त शक्तियोंके अध्यक्षानुरूप होकर आगमादि-शास्त्रोंमें विमला, उत्कर्षिणी इत्यादि आठ दिशाओं रूपी कमलदलोंमें विराजमान अष्ट स्वरूप शक्तियोंकी

मध्यवर्तिनी कर्णिकापर चक्रवर्ती महाराजकी तरह सुशोभित होता है और भक्तोंके प्रति भगवान्‌के अनुग्रहका नाम धारणकर भगवान्‌के नेत्रकमलोंमें अपनेको प्रकाशित करता है। यह कभी दासोंमें कृपाशक्तिके विलास, कभी माताओंमें वात्सल्य, कभी कारुण्य और कभी प्रेयसियोंमें चित्त-विदारिणी आकर्षणी शक्तिके रूपमें और कभी-कभी किसी दूसरे नामकी वस्तुओंको उदित करता रहता है। इसी कृपाशक्तिकी ही सर्वव्यापिनी इच्छाशक्ति भक्तोंमें सुन्दर रूपसे रागावस्थाको प्राप्तकर परम आत्मारामगणको भी महाचमत्कारमयी भूमिपर विराजमान कर देती है। इसी शक्तिके द्वारा ही नियन्त्रित होकर श्रीभगवान्‌का वात्सल्य नामक गुण श्रीमद्भागवतके प्रथमस्कन्धमें वर्णित पृथ्वी देवीके द्वारा कहे गए उनके स्वरूपभूत सत्य, शौचादि मङ्गलमय समस्त गुणोंपर सम्राटकी भाँति शासन किया करता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—प्रेमीभक्तोंके प्रेमसे उत्पन्न पिपासा या उत्कण्ठा इतनी प्रबल होती है कि वे एक ही साथ भगवान्‌के सौन्दर्यादि समस्त माधुर्योंको सम्पूर्ण रूपसे आस्वादन करनेकी प्रबल लालसा पोषण किया करते हैं। ग्रीष्म ऋतुमें तापसे अत्यधिक प्यासे चातक द्वारा वर्षाके आगमनसे विपुल रूपमें वर्षित जलधाराको सम्पूर्ण रूपसे पान करनेकी इच्छा करनेपर भी क्या चातककी क्षुद्र चोंच द्वारा समस्त जल धाराओंको एक साथ पान करना सम्भव है? उसी प्रकार परम उत्कण्ठित प्रेमीभक्तको श्रीभगवान्‌के असीम सौन्दर्य और माधुर्योंकी केवल एक बूँदका ही आस्वादन हो रहा है, ऐसा देखकर श्रीभगवान् मन-ही-मन सोचते हैं कि "यदि यह प्रेमीभक्त हमारे समस्त माधुर्योंको प्रचुर रूपमें आस्वादन नहीं कर सका, तो मैं वृथा ही इन सौन्दर्यादि माधुर्योंको धारण कर रहा हूँ"—ऐसा सोचकर भगवान् प्रेमीभक्तोंके प्रति अपने सप्तम माधुर्य कारुण्य गुणको प्रकाशित करते हैं। आगम आदि शास्त्रोंमें भगवत्-शक्तिके ध्यानके प्रसङ्गमें अष्टदल कमलके अष्ट केशरोंमें विमलादि अष्ट शक्तियों एवं कर्णिकामें अनुग्रह शक्तिकी स्थितिका वर्णन किया गया है।

"विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगेति शक्तयः।
प्रह्वी सत्या तथेशानानुग्रहा नवमी स्मृता॥" इति
(ह. भ. वि. १/५/१४०)

विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञान, क्रिया, योग, प्रह्वी (अनन्त सामर्थ्यकी मूल कारण शक्ति—श्रीजीव गोस्वामी कथित), सत्या, ईशाना—ये आठ शक्तियाँ अष्टदलोंपर अवस्थित रहती हैं और कर्णिकापर नवमी अनुग्रह शक्ति उक्त आठ शक्तियोंकी अधीश्वरीके रूपमें चक्रवर्तिनीकी भाँति विराजमान रहती है। यह अनुग्रह शक्ति श्रीभगवान्‌के नेत्रकमलसे प्रकाशित होती है अर्थात् श्रीभगवान्‌के करुणापूर्वक सदय अवलोकनसे ही वह कृपाशक्ति भक्तके ऊपर वर्षित होती है। दासादि भक्तोंमें दास्य, सख्य और वात्सल्यरसके भक्तोंमें इस कृपाशक्तिका विलास भक्तवात्सल्य और कहींपर कारुण्य रूपमें एवं मधुरभावके भक्तोंमें चित्तको द्रवित करनेवाली कृष्णाकर्षिणीशक्तिके रूपमें प्रकाशित होता है। यह शक्ति कहीं-कहीं स्नेह, प्रीति और माधुर्य इत्यादि नामसे अभिहित वस्तुओंको भी प्रकाशित करती है।

इस कृपाशक्तिके द्वारा परिचालित होकर भगवान्‌की इच्छाशक्ति श्रीशुक, श्रीसनातन आदि आत्मारामशिरोमणियोंमें भी श्रीहरिके गुणोंके अति चमत्कारित्वको जाग्रतकर उनकी आत्मारामताको त्याग कराकर उन्हें भक्त बना देती है। श्रीपृथ्वीदेवीने श्रीकृष्णके स्वरूपभूत सत्य और शौचादि गुणोंका वर्णन किया है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्त्तिर्मानोऽनहंकृतिः॥
(श्रीमद्भा. १/१६/२६-२८)

सत्य, शौच (शुद्धत्व), दया, क्षान्ति (अक्षोभता), त्याग, सन्तोष, आर्जव (सरलता), शम (मनकी निश्चलता), दम (बाह्येन्द्रियोंका संयम), तपस्या, साम्य, तितिक्षा (सहनशीलता), उपरति (लाभादिमें उदासीनता), श्रुत (शास्त्रविचार), ज्ञान, विरक्ति (विषय-वितृष्णा), ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, प्रभाव, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल (क्रियानैपुण्य) कान्ति (सौन्दर्य), धैर्य, मार्दव (चित्तकी कोमलता), प्रगल्भता (अत्यधिक प्रतिभा), प्रश्रय (विनय), शील (सुस्वभाव), सह ओजोबल (मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंकी पटुता), भग (भोगसम्पद), गाम्भीर्य, स्थिरता (अचाञ्चल्य), आस्तिक्य (श्रद्धा), कीर्त्ति, मान (पूज्यत्व) और अनहंकृति (गर्वका अभाव)—ये उनतालीस गुण भगवान्‌में अक्षय रूपसे विराजमान रहते हैं। श्रीहरिका अनुग्रह गुण इन समस्त गुणोंपर सम्राटकी भाँति शासन करता है अर्थात् यही कृपागुण निखिल गुणोंका मूल अधिकारी है।

श्रीभगवान्‌में दोष भी महागुणोंमें परिणत हो जाते है

मोहस्तन्द्रा भ्रमो रुक्षरसता काम उल्बणः।
लोलता मद-मात्सर्ये हिंसा खेद-परिश्रमौ॥
असत्यं क्रोध आकांक्षा आशंका विश्वविभ्रमः।
विषमत्वं परापेक्षा दोषा अष्टादशोदिताः॥
अष्टादशमहादोषै रहिता भगवत्तनुरिति।

भगवति सर्वथा निषिद्धा अप्येते दोषा यदनुरोधेन रामकृष्णाद्यवतारेषु क्वचित् क्वचिद्विद्यमाना एव सन्तो भक्तैरनुभूयमाना महागुणायन्ते॥३॥

ततश्च सर्वाण्येव तद्वितीर्णानि सौन्दर्यादीन्यास्वादयितुं लब्धौजसि भक्ते आस्वाद्यास्वाद्य च तां तां चमत्कृतिपरमकाष्ठामधिरुह्याधिरुह्य चाश्रुतचरं भगवतो भक्तवात्सल्यमिदमिवेति मनसा मुहुर्मुहुरेवानुभूय द्रवीभावमासेदुषि।

भावानुवाद—मोह, तन्द्रा, भ्रम, रुक्षरसता, तीव्र काम, लोलता, मद, मात्सर्य, हिंसा, खेद, परिश्रम, असत्य, क्रोध, आकांक्षा, आशङ्का, विश्वविभ्रम, विषमत्व और परापेक्षा—ये अठारह दोष शास्त्रोंमें कहे गये हैं। भगवान्‌का श्रीविग्रह इन महादोषोंसे रहित है। ये दोष

श्रीभगवान्‌में सर्वथा निषिद्ध हैं। फिर भी कृपाशक्तिके अनुरोधसे श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारोंमें कहीं-कहीं ये दोष विद्यमानसे प्रतीत होकर भक्तोंको अनुभूत भी होते हैं। तब इसी शक्तिके प्रभावसे ये दोष महागुणोंमें परिणत हो जाते हैं। तदनन्तर भक्तके आस्वादन हेतु श्रीभगवान्‌के द्वारा प्रकटित इन सौन्दर्य आदि गुणोंको ओजस्वी भक्त पुनः-पुनः आस्वादनकर बार-बार इन गुणोंकी चमत्कृतिकी पराकाष्ठाको प्राप्तकर कहता है—"इन गुणोंको तो मैंने पहले कभी भी नहीं सुना था।" इस प्रकार मनमें बार-बार इन गुणोंका अनुभव करके भक्तका चित्त द्रवीभूत हो जाता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—उपर्युक्त अनुच्छेदमें श्रीचक्रवर्तिपादने शास्त्रोंमें उल्लिखित अठारह दोषोंका वर्णन किया है, जो केवल जीव, देवता और असुरादिमें ही विद्यमान रहते हैं। सच्चिदानन्द विग्रह श्रीभगवान्‌के स्वरूपमें ये दोष कभी भी नहीं रह सकते। जिस प्रकार स्वप्रकाश सूर्यमें अन्धकारका रहना असम्भव है, उसी प्रकार भगवान्‌में किसी भी प्रकारके दोषोंका लेश या गन्धमात्र भी रहना सम्भवपर नहीं है। तथापि श्रीरामावतारमें सीतादेवीके विरहमें उनमें मोह आदि देखा जाता है। पूर्णतम तत्त्व स्वयंभगवान् श्रीकृष्णकी लीलामें भी उल्लिखित अठारह प्रकारके महादोषोंमेंसे 'तीव्र काम' और 'रुक्षरसता' को छोड़कर शेष सभी दोष विद्यमान प्रतीत होते हैं। श्रीबलदेव विद्याभूषणने अपने सिद्धान्तरत्न ग्रन्थमें लिखा है—"ननु 'ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्। उभावपि वने कृष्ण विचिकाय समन्तत' इत्यत्र मोहः। 'क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः। वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हण' इत्यत्र, तन्द्राखेदपरिश्रमाः। 'तावंघ्रियुग्ममि'त्यादौ 'मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रो'रिति भ्रमः। 'वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः' इत्यादौ लोलता। 'मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली'त्यादौ मदः। 'लोकेश-मानिनां मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः' इत्यादौ मात्सर्यम्। हिंसा च पूतनादि वधः। 'नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः' इत्यत्र जरासन्धच्छलादौ चासत्यम्। क्रोधोऽपि तत्र तत्र प्रसिद्ध एव। 'तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः। गृहीत्वा

दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन्' इत्यत्र आकांक्षा। 'क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित्। सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगामह' इत्यत्र आशङ्का। 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादौ जगदावेशरूप विश्वविभ्रमः। समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहमि'त्यादौ वैषम्यम्। 'अहं भक्तपराधीनः' इत्यादौ परापेक्षा चावगम्यते। रुक्ष्मरसता प्रेमसम्बन्धादृते रागः। उल्बणो दुःखहेतु कामः। तावेतौ मास्ताम्। ततश्च 'मोहादीनां षोड़शानां प्रमाणसिद्धत्वान्निर्दोषतनुत्वं' कथमिति चेन्न, भक्तानन्दवैचित्र्यपोषकलीलाविलास-भक्तसंरक्षणभक्तवात्सल्यादिसिद्धये प्राकृतगन्धास्पृष्टाः स्वरूपधर्मा एवैते उदयन्ते तान् विना लीलाद्यसिद्धेः। तदसिद्धौ च पूर्णत्वानुपपत्तिः। इतरेषु सर्वेषु गुणेषु रुच्यभावात्तद्भक्त्यनुपपत्तिः।"

अर्थात् यदि कहें कि श्रीभगवान्में ये दोष प्रतीत होते हैं, जैसे भागवतमें कहा गया है—"उसके पश्चात् वत्स और वत्स पालकोंको यमुना पुलिनमें न देखकर श्रीकृष्ण उन्हें सारे वनोंमें ढूँढ़ने लगे।" यहाँ 'मोह' देखा जाता है। "किसी समय श्रीकृष्ण बच्चोंके साथ मल्लयुद्ध इत्यादि करते हुए थककर वृक्षकी छायामें कोमल-कोमल पल्लवोंकी शय्यापर ग्वाल बालकोंकी गोदीमें मस्तक रखकर शयन करने लगे।" इन भागवतीय वचनोंसे भगवान्में 'तन्द्रा', 'खेद' और 'परिश्रम' प्रतीत होता है। "श्रीबलदेव और श्रीकृष्ण घुटनोंपर चलते हुए मुग्ध और भयभीतकी भाँति जननीके निकट लौट आए" इत्यादि वचनोंसे भगवान्में 'भ्रम' भी देखा जाता है। माता यशोदाके समीप वात्सल्यवती गोपियोंके वचनोंसे "कृष्ण असमयमें ही वत्सोंको खोल देता है और क्रोध करनेपर हँसता है" उनकी 'लोलता' तथा "मदसे चञ्चल-नयनों द्वारा वनमाली अपने सखाओंको कुछ मान प्रदानकर" इत्यादि वचनोंसे भगवान्में 'अहङ्कार' भी दृष्टिगोचर होता है। इन्द्र द्वारा व्रजको ध्वंस करनेकी इच्छासे मूसलाधार वृष्टि आरम्भ करनेपर श्रीकृष्णने कहा—"स्वयंको तीनों लोकोंका ईश्वर माननेवालोंकी मूढ़तासे उत्पन्न उनके अहङ्कारजनित गर्वका हरण करूँगा" इत्यादि वचनोंसे भगवान्का 'मात्सर्य' प्रतीत होता है। पूतना वधके समय 'हिंसा' भी देखी जाती है। मृद्भक्षणके समय—"मैया, मैंने माटी नहीं खाई। ये सब झूठ बोल

रहे हैं" और जरासन्ध आदिके वधके समय भगवान्को 'असत्य भाषण' करते हुए भी देखा जाता है। उन-उन लीलाओंमें 'क्रोध' भी प्रसिद्ध ही है। स्तनपान करनेके लिए श्रीकृष्ण दधिमन्थनकर रहीं अपनी "माताके निकट आकर प्रीतिपूर्वक दधिमन्थन दण्डको पकड़कर माताको दधिमन्थन कार्यसे निषेध करने लगे।" इसमें कृष्णकी 'आकांक्षा' देखी जाती है। "वनमें कहीं भी बछड़ों और सखाओंको न देखकर सर्वज्ञ श्रीकृष्ण उसे ब्रह्माका कार्य समझने लगे" इसमें श्रीभगवान्की 'आशङ्का' देखी जा रही है। उन्होंने इच्छा की कि "मैं बहुत हो जाऊँ" इत्यादि श्रुतिवचनोंमें श्रीहरिके जगदावेश रूप 'विश्वविभ्रम' का प्रकाश हो रहा है। श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित—"मैं सर्वभूतोंमें सम हूँ, हमारा कोई शत्रु या मित्र नहीं है। जो भक्तिके साथ मेरा भजन करते हैं, मैं उनके निकट विराजमान रहता हूँ और वे भी मेरे समीप विराजमान रहते हैं।" इत्यादि वचनोंसे उनमें 'विषमत्व' का दोष प्रकट हो रहा है। श्रीमद्भागवतमें कथित—"हे द्विज! मैं अस्वतन्त्रकी भाँति भक्तोंके पराधीन हूँ" वचनोंमें भगवान्की 'परापेक्षा' दिखलाई गई है। प्रेम सम्बन्ध व्यतीत अन्यत्र अनुरागको रुक्ष्म रसता कहा जाता है। दुःख हेतुक काम ही प्रबल काम है, ये दोनों भगवान्में नहीं रहनेपर मोहादि सोलह महादोष शास्त्र प्रमाण सहित श्रीभगवान्में प्रकाशित हुए हैं। अतएव भगवान्का विग्रह अठारह महादोषोंसे रहित किस प्रकार हुआ?

इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें कहा गया है कि श्रीकृष्णमें जो मोह आदि महादोष प्रतीत होते हैं, वे भक्तोंकी आनन्द वैचित्रीको पोषण करनेके लिए ही हैं। लीलाविलास, भक्तके पालन और भक्तवात्सल्य आदिकी सिद्धिके लिए ही प्राकृत गन्धरहित स्वरूपभूत धर्मसे ये प्रकटित होते हैं। इनके बिना कृष्णलीलाकी सिद्धि नहीं हो सकती। श्रीकृष्णकी माधुर्यमयी लीलाकी सिद्धि नहीं होनेपर उनकी पूर्णतमता और स्वयं भगवत्तामें विघ्न पड़ता है। अतः जीवोंमें ये मोहादि महादोषके रूपमें होनेपर भी स्वयंभगवान्में ये सब महागुणके रूपमें ही अवस्थान करते हैं। इन अत्यन्त आश्चर्यजनक गुणोंके अनुभवसे भक्तका हृदय अत्यन्त द्रवित होता है।

भगवान् द्वारा अपने भक्तकी प्रशंसा तथा भक्त द्वारा दैन्य प्रकाश

तस्मिन्नरे मद्भक्तवर्य बहूनि जन्मानि मदर्थं दारागारधनादिकं परित्यज्य मत्परिचर्यानुरोधेन शीतवातक्षुधातृष्णाव्यथामयादीन् बहूनेव क्लेशान् सोढवते जनावमानादीनप्यगणितवते भिक्षुचर्यां गृहीतवते भवते किमपि दातुमशक्नुवन् ऋणी केवलमभूवम्। सार्वभौमत्वपारमेष्ठ्ययोगसिद्ध्यादिकञ्च न भवदनुरूपमिति तत्तत् कथं वितरिष्यामि। नहि नहि पशुभ्यो रोचमानं घाषतुषबुषादिकं कस्मैचिन्मनुष्याय दीयते। तदहमजितोऽपि भवताधुना जित एव वर्त्ते नर्त्ते भवत्सौशील्यवल्लीं सम्यगवलम्बनम् इति भगवतो वाङ्माधुरीं परमस्निग्धवर्णां कर्णावतंसीकृत्य प्रभो भगवन् कृपापारावार घोरसंसारप्रवाहप्रापितक्लेश–चक्रनक्रव्यूहचर्व्यमाणं मां विलोक्य कारुण्योद्योतद्रवचेतोनवनीतोऽखिललोकातीतो भगवन् श्रीगुरुरूपधारी मदनाद्यविद्याविदारी स्वदर्शनेन सुदर्शनेनैव तन्निर्भिद्य तद्दंष्ट्रातटादेवोन्मोच्य निजचरणकमलयुगलदासीचिकीर्षया स्वमन्त्रवर्णवीथीं मत्कर्णवीथीं प्रवेश्य निर्व्यथीकृत्य मुहुर्मुहुरपि स्वगुणनामश्रवण–कीर्त्तनस्मरणादिभिर्मां यदशूशुधन्निजभक्तैरपि सङ्गमितैः स्वसेवामप्यबूबुधत्तदपि दुर्मेधोऽहमधमतमो दिवसमेकमपि न प्रभुं पर्यचरं कदर्यचर्यस्तदयं जनो दण्डयितुमेवार्हः प्रत्युतैतावद्दर्शनमाधुरीं पायितः।

भावानुवाद—उस समय श्रीभगवान् भक्तसे इस प्रकार कहते हैं—"हे मेरे श्रेष्ठ भक्त! तुमने अनेकों जन्मों तक मेरे लिए स्त्री, गृह, सम्पत्ति इत्यादिको त्यागकर मेरी सेवाके लिए ही सर्दी, वायु, भूख, प्यास, व्यथा एवं रोगादि अनेकों क्लेशोंको सहन किया है। बहुतसे लोगोंके द्वारा किए गए अपमान आदिको भी ग्रहण नहीं किया। भिक्षा वृत्तिसे ही तुमने अपने जीवनका निर्वाह किया है। अतएव मैं तुम्हें इसके बदलेमें कुछ भी देनेमें समर्थ नहीं होनेके कारण केवल तुम्हारा ऋणी ही हूँ। सार्वभौमत्व (समस्त पृथ्वीका राज्यत्व), ब्रह्मत्व (स्वर्गादि लोकोंका आधिपत्य, ब्रह्माकी पदवी) तथा योगसिद्धि आदिमेंसे कुछ भी तुम्हारे अनुरूप नहीं है। इसलिए मैं तुम्हें यह सब कैसे दे सकता हूँ? क्योंकि पशुओंको अच्छे लगनेवाली घास, तृण, भूसा आदि किसी मनुष्यको नहीं दिए जाते। अतः मैं अजित होकर भी आज

तुम्हारे द्वारा जीत लिया गया हूँ। ऐसी दशामें तुम्हारी सुशीलता ही मेरा एकमात्र अवलम्बन है।"

इस प्रकार परम स्निग्ध वचनोंसे युक्त श्रीभगवान्‌की वचनमाधुरीको कर्णभूषण बनाकर अर्थात् भगवान्‌के इन सुमधुर वचनोंको सुनकर भक्त कहता है—"हे प्रभो! हे भगवन्! हे करुणासागर! घोर संसार-प्रवाहके चक्ररूपी मगरमच्छोंके द्वारा मुझे चर्वित होता देखकर करुणाके उदयसे आपका नवनीतके समान कोमल चित्त द्रवीभूत होनेसे लोकातीत श्रीगुरुका रूप धारणकर कामादि अविद्याको ध्वंस करनेवाले सुदर्शनरूप आपके दर्शनने क्लेशरूपी मगरमच्छको काट दिया है और उसकी भयङ्कर दाढ़ोंसे मेरी रक्षा की है। अपने श्रीचरणकमलोंका दास बनानेके लिए आपने अपनी मन्त्ररूपी वर्णावलीको मेरे कानोंमें प्रवेश कराया है। मेरी पीड़ाका हरणकर अपने दिव्य गुणों और नामोंके पुनः-पुनः श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणादिके द्वारा मुझे विशुद्ध कर दिया है। हे प्रभो! मुझे अपने भक्तोंका सङ्ग प्रदानकर अपनी सेवाकी प्रणालीका बोध करानेपर भी मैं दुर्भागा, मूर्ख, अधमसे भी अधम एक दिनके लिए भी आपकी सेवा नहीं कर सका। इस प्रकार यह दुराचारी व्यक्ति दण्डके योग्य होनेपर भी उसे दण्ड नहीं देकर अपनी दर्शनमाधुरीका पान करा रहे हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीभगवान्‌के भक्तवात्सल्यादि मधुर गुणोंके अनुभवसे प्रेमीभक्तका चित्त अत्यन्त द्रवित हो जाता है, यह पहले बतलाया गया है। भगवान् भक्तके एकान्त अधीन होकर, भक्तने जिन अशेष दुःख, क्लेशों और नाना प्रकारके अवज्ञा और अपमानादिको सहकर उनका भजन किया है, उसकी तुलनामें वे एक गण्डुष जल और एक तुलसी पत्रके विनिमयसे ही साधकको आत्मदान करके भी अपनेको ऋणी मानते हैं। वे ऐसा सोचते हैं कि "मैं भक्तको कुछ भी न दे सका। इसलिए मैं सदा उसका ऋणी हूँ।" भगवान् अत्यन्त करुण कोमल वचनोंसे भक्तोंके निकट यह प्रकाश करते हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भगवान् सर्वैश्वर्यशाली हैं। इसलिए इच्छा करनेपर भक्तको सार्वभौमपद, ब्रह्मपद, योगैश्वर्य इत्यादि सब

कुछ अनायास दे सकते हैं। उनको भक्तोंके निकट ऋणी होनेकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि भक्त निष्काम और पवित्र हृदयके होते हैं। केवल श्रीकृष्णके सुखके लिए ही उनका भजन करते हैं। उसके बदलेमें श्रीकृष्ण अपनी सेवाको छोड़कर प्राकृत या अप्राकृत कोई वस्तु उनको प्रदान नहीं कर पाते। वे मन-ही-मन सोचते हैं कि भक्तोंको अपनी सेवा प्रदान करनेसे तो उन्हें मेरी ही प्राप्ति होगी। निष्काम भक्तको देनेके लिए श्रीकृष्णके पास और कुछ बचता ही नहीं। इसलिए अजित होकर भी वे भक्तोंके निकट सब प्रकारसे पराजित हो जाते हैं। भक्तोंकी सुशीलता ही उनके लिए एकमात्र अवलम्बन रह जाता है। अर्थात् भक्त कृष्णकी सेवा करके जो सुख प्राप्त करते हैं—यही उनके लिए चरम आश्वासन रहता है।

भक्तिका मूल दैन्य है और अतृप्ति ही भक्तिका स्वभाव है। प्रेमीभक्त इसी स्वभावके कारण अपनेको सदैव भक्तिहीन या साधनभजनहीन ही समझता है। इसलिए भगवान्‌की कारुणभरी बातें सुनकर गुरु और वैष्णवके रूपमें भगवान्‌की असीम करुणाको स्मरणकर भक्त अधीर हो जाता है और सोचता है—"अहो! मेरे जैसा दुराचारी व्यक्ति दण्ड पानेके योग्य होनेपर भी श्रीभगवान्‌ने उसके बदले अपने दुर्लभ दर्शन प्रदानकर मुझे धन्य कर दिया है।" श्रीहरिकी ऐसी करुणा अनुभवकर भक्त अत्यन्त चमत्कृत होता है।

भगवान्‌का रूप सभी उपमाओंसे अतीत

किंच ऋणीभवामीति श्रीमुखवाण्या प्रभुवरेण विडम्बितोऽस्मीति मन्येऽहं तत् किं करोमि पञ्च वा सप्ताष्टाथवा लक्षकोटयोऽपि यद्यपराधा भवेयुस्तदपि तां सम्प्रति क्षमयितुं धाष्टर्यमालम्बते माम्। परार्द्धतोऽप्यधिकां-स्तानवधारयामि। किंच ते तेऽतिप्रबलाश्चिरन्तना भुक्तभोक्तव्यफला वर्त्तन्तां नाम। सम्प्रति पूर्वेद्युरेव नीरदेन नीलनीरजेन नीलमणिना श्रीमदङ्गस्य चन्द्रमसा श्रीमुखस्य नवपल्लवेन श्रीचरणस्य द्युतिमुपमिमानेन मया दग्धसर्षपार्द्धेन कनकशिखरिणमिव चणककणेन चिन्तामणिमिव फेरुणा केशरिणमिव मशकेन गरुत्त्वन्तमिव समीकुर्वता दुर्बुद्धिना स्पष्टम-पराद्धमेवेत्यधुनैवावगतम्। तदा तु प्रभुमहं स्तौमीति स्वीयमविद्वत्त्वमपि

कवित्वमेतदिति जनेष्वपि प्रख्यापितम्। अतःपरन्तु मदीक्षणेन क्षणेन समीक्षितश्रीमूर्त्तिरूपेण वैभवेन जवेन तर्ज्यमाना धैर्यरहिता गौरिव मे गौः श्रीमत्सौन्दर्यकल्पवल्लीमुपमानरदनैर्दूषयितुं न प्रभविष्यतीत्येवं बहुविधं शंसति तस्मिन्नतिप्रसन्नेन भगवता पुनरपि प्रेयस्यादिभाववतस्तस्य यथासम्भवमभीप्सितं तादात्मिकतत्स्वविलासविलक्षितं श्रीवृन्दावनं कल्पशाखिनं महायोगपीठं स्वप्रेयसीवृन्दमुख्यां श्रीवृषभानुनन्दिनीं तत्सखीः श्रीललिताद्यास्तत्किङ्करीरपि स्ववयस्यान् श्रीसुबलादीन् स्वपाल्यमाना नैचिकीश्च श्रीयमुनां श्रीगोवर्धनं भाण्डीरञ्च नन्दीश्वरगिरिं तत्रत्यजनकजननीभ्रातृबन्धुदासादीन् सर्वानेव व्रजौकसो रसोत्कर्षेण दर्शयित्वा तत्तदानन्दमहामोहतरङ्गिण्यां तं निमग्नीकृत्य स्वयं परिकरणेनान्तर्धीयते।

भावानुवाद—परन्तु "मैं तुम्हारा ऋणी हूँ"—प्रभुके श्रीमुखकी इस वाणीसे मैं ठगा गया हूँ, ऐसा बोध होता है। अब मैं क्या करूँ? पाँच, सात, आठ या लाखों, करोड़ों जो मेरे अपराध वर्त्तमान हैं, उनको क्षमा करनेकी प्रार्थना करना भी मेरे लिए अत्यन्त धृष्टता है। संख्यामें मेरे अपराध तो परार्ध अर्थात् शंख (गणितमें सबसे बड़ी संख्या) से भी अधिक हैं, ऐसा बोध होता है। वे समस्त चिरकालीन अपराध अत्यन्त प्रबल हैं। इसलिए अब तक उनका फल भोग रहा हूँ। जो बचे हुए अपराध हैं, उनका भी फल भोग हो उसके लिए मैं यह क्षमा प्रार्थना नहीं करूँगा। हे प्रभो! मैंने तो एक दिन पहले ही आपके श्रीअङ्गको नवीन मेघ, नीलकमल और नीलमणिके साथ उपमा देनेकी धृष्टता की है। आपके श्रीमुखको चन्द्रमाके साथ, चरणोंके सौन्दर्यको नवपल्लवोंकी उपमा देकर अपराध किया है। जले हुए सरसोंके आधे बीजके साथ स्वर्णमय सुमेरू पर्वतकी, चनेकी कणिकाके साथ चिन्तामणिकी, गीदड़के साथ शेरकी, मच्छरके साथ गरुड़की समानताका वर्णनकर मेरे जैसे दुर्बुद्धिने स्पष्टरूपसे आपका अपराध किया है। यह बात मैं आपके दर्शन करनेके पश्चात् ही जान सका हूँ। उस समय तो "प्रभुकी स्तुति कर रहा हूँ", मैं ऐसा जान रहा था। वास्तवमें मैंने अपनी मूर्खताको ही अपना कवित्व समझकर लोगोंमें प्रचार किया है। किन्तु, अब नेत्रोंसे क्षणभरके लिए मैंने

आपकी श्रीमूर्त्तिके सौन्दर्य एवं रूप-वैभवको देखा है। उससे लज्जित होकर धैर्यरहित गायकी भाँति मेरी वाणी आपकी सौन्दर्यरूपी कल्पलताकी उपमा दाम्भिक वाक्योंके द्वारा करनेमें समर्थ नहीं हो पा रही है।

इस प्रकार भक्त द्वारा अनेक प्रकारसे विलाप करनेपर भगवान् उसपर अति प्रसन्न होते हैं। प्रेयसी भाववाले भक्तोंको भगवान् यथासम्भव उनके अभीष्टके अनुरूप और समयके अनुकूल अपने विलाससे परिपूर्ण वृन्दावनका दर्शन कराते हैं। वहाँके कल्पवृक्ष, महायोगपीठ और अपनी प्रेयसियोंमें मुख्या श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाका दर्शन कराते हैं। फिर राधाजी, ललिता, विशाखा आदि सखियों, सुबल आदि सखाओं, अपनी सुपालित गायों, श्रीयमुना, गोवर्धन, भाण्डीरवट और श्रीनन्दीश्वर गिरिका दर्शन कराते हैं। फिर श्रीनन्द-यशोदा, बन्धु-बान्धवों, दास-दासियों तथा समस्त व्रजवासियोंका रसोत्कर्षपूर्वक दर्शन कराकर उन सबकी दर्शनानन्दरूपी महामोहनकारी तरङ्गिणीमें उस भक्तको सराबोरकर भगवान् अपने परिकरों सहित अन्तर्धान हो जाते हैं।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—भगवान्‌की अपार करुणा और अपने प्रति भगवान्‌के ऋणी होनेकी बात सुनकर भक्त जड़वत् हो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। इधर अपने अनादि कालके अनन्त अपराधोंको स्मरण करके मन-ही-मन अपनेको महान अपराधी और दण्डनीय मानते हुए उसमें क्षमा माँगनेका भी साहस नहीं रह जाता। उस समय भक्तकी दैन्यबोधिका प्रार्थना इस प्रकार होती है—

मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तमः॥
(भ. र. सि. १/२/१५४)

अर्थात् "हे पुरुषोत्तम! मेरे समान पापात्मा और अपराधी अन्य कोई भी नहीं है। हाय! 'मेरे अपराधोंको क्षमा कर दीजिए'—ऐसा कहनेमें भी मुझे लज्जा आती है। इससे अधिक और क्या कहूँ?" इसलिए प्रेमीभक्त भगवान्‌के निकट अपनी दीनतासे उत्पन्न कल्पित

अपराधोंके लिए क्षमा नहीं माँगकर उनका दण्ड भोगनेके लिए ही प्रार्थना करता है।

इसके अतिरिक्त भक्त भगवान्‌के रूप-लावण्यका दर्शनकर चमत्कृत हो उठता है और पूर्वकालमें जिन अनेकों उपमाओं द्वारा भगवान्‌के श्रीअङ्गोंका ध्यान या अनुमानकर प्रार्थना किया करता था, उन सब उपमाओंको असत्य और निकृष्ट मानता है। यहाँ तक कि भगवान्‌के श्रीअङ्गोंकी किसी लौकिक वस्तुसे उपमा करनेके अपराधको भी अपनी मूर्खता समझने लगता है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन उपमारहित श्रीकृष्णका रूप प्राकृत पञ्चभूत विकारयुक्त चन्द्र, कमल आदि किसी भी उपमान द्वारा तुलनीय नहीं हो सकता। श्रील बिल्वमङ्गल ठाकुरने श्रीकृष्णके प्रति श्रीकृष्णकर्णामृतमें उल्लेख किया है—

तत्त्वन्मुखं कथमिवाम्बुजतुल्यकक्षं वाचामवाचि ननु पर्वणि पर्वणीन्दोः।
तं किं ब्रुवे किमपरं भुवनैककान्तवेणु त्वदाननमनेन समं नु यत् स्यात्॥
(श्रीकृष्णकर्णामृत ९७)

"मैं आपके मुखकी उपमा अम्बुजके साथ कैसे करूँ? चन्द्र पल-पलमें ह्रासता प्राप्तकर जिस दशाको प्राप्त होता है, उसके साथ वचनोंसे अगोचर आपके दोषरहित मुखकी किसी प्रकारसे भी तुलना नहीं दी जा सकती। हे भुवनैककान्त! वेणुवादनमें रत आपके श्रीमुखकी तुलना किसके साथ करूँ?" श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं—"लीलाशुक! फिर कवियोंने किस प्रकार मेरे मुख और हास्य इत्यादिकी पद्म और चन्द्रके सहित तुलना की है? तुम वैसा ही क्यों नहीं कर रहे हो?" इसके उत्तरमें लीलाशुक कह रहे हैं—

शुश्रुषसे शृणु यदि प्रणिधानपूर्वं पूर्वैरपूर्वकविभिर्न कटाक्षितं यत्।
नीराजनक्रमधुरां भवदाननेन्दो-र्निव्याजमर्हति चिराय शशिप्रदीपः॥
(श्रीकृष्णकर्णामृत ९८)

"हे प्रभो! यदि इस बातका उत्तर सुनना चाहते हैं तो सुनिए— प्राचीन कवियोंने प्रणिधानपूर्वक आपके रूपका दर्शन नहीं किया है। उन्होंने केवल कवित्वके अनुसार चन्द्र, कमल आदिके साथ आपके

मुख इत्यादिकी उपमा दी है। वस्तुतः चन्द्र कर्पूरप्रदीपके समान (चन्द्र कर्पूरके अर्थमें) आपके श्रीमुखका नीराजन करने योग्य है। नीराजन (आरती) के पश्चात् जिस प्रकार प्रदीप दूर रख दिया जाता है। उसी प्रकार आपके श्रीमुखकी चन्द्र (कर्पूर) प्रदीप द्वारा आरतीकर उसे दूर रख दिए जाने योग्य है।" प्रेमीभक्त कहता है—"हे प्रभो! अब मैं किसी भी प्राकृत उपमानकी तुलना देकर आपके अतुलनीय रूपको अत्यन्त लघु करनेका प्रयास नहीं करूँगा।" प्रेमिक भक्तके इस प्रकार नाना प्रकारके विलाप वाक्योंको श्रवणकर श्रीकृष्ण मञ्जरीभावके साधकको श्रीवृन्दावनकी अतुलनीय शोभा सम्पद सहित श्रीराधारानी, ललिता इत्यादि सखियों, श्रीरूप आदि मञ्जरियों और मधुररस उपयोगी पार्षदोंके साथ रसोत्कर्षपूर्ण लीला भङ्गिमाका दर्शन देकर धन्य करते हैं। उस अत्यन्त गम्भीर आनन्दके भावको वहन करनेमें असमर्थ होकर भक्तके मूर्च्छित होनेपर श्रीहरि श्रीधाम वृन्दावन और अपने समस्त परिकरोंके साथ अन्तर्द्धान हो जाते हैं।

श्रीहरिके अन्तर्ध्यान होनेपर भक्त द्वारा किए गए अनेक संशय तथा अलौकिक विलाप

ततश्च कियद्भिः क्षणैर्लब्धप्रबोधः पुनरपि प्रभुं दिदृक्षुलोचनमुद्रामुन्मोच्य तं नावलोकयन्नात्मानमश्रुभिरभिसिञ्चन्, किमयं स्वप्न आलोकितः, नहि नहि शय्यालस्यनयनकालुषाद्यभावात्, किमियं कस्यचिन्माया वा, नहि नहि एतादृशानन्दस्य मायिकत्वासम्भवात्, किंवा चित्तस्यैव भ्रममयी क्वापि वृत्तिः, नहि नहि लयविक्षेपाद्यननुभवात्, किंवा मनोरथपरिपाक प्राप्तोऽयं वस्तुविशेषः, नहि नहि ईदृशपदार्थस्य सीम्नोऽपि कदापि मनोरथेना–धिरोढुमशक्यत्वात्, स्फूर्त्तिलब्धोऽयं भगवत्साक्षात्कारो वा, नहि नहि सम्प्रति स्मर्यमाणाभ्यः पूर्वपूर्वोद्भूताभ्यः स्फूर्त्तिभ्योऽस्यातिवैलक्षण्यात् इत्येवं विविधमेव संशयानः, शयान एव धूलिधोरणिधूसरायां धरणौ, यथा तथास्तु पुनरपि तद्दर्शनं मे भूयादिति मुहुराशासानोऽपि तदनुपलभमानः खिद्यन् लुठन् रुदन् गात्राणि व्रणयन् मूर्च्छयन् प्रबुध्यमान उत्तिष्ठन्नुपविशन् अभिद्रवन् क्रोशन्नुन्मत्त इव क्षणं तूष्णीमासीनो मनीषीव क्षणं लुप्त

नित्यक्रियो भ्रष्टाचार इव क्षणम् असम्बद्धं प्रलपन् ग्रहग्रस्त इव क्षणं कस्मैचिदाश्वासकाय निभृतं पृच्छते भक्तजनाय स्वबन्धवे स्वानुभूतमर्थं ब्रुवाणः, क्षणं प्रकृतिस्थ इव सखे भूरिभाग भगवत्साक्षात्कार एवायं तवाभवदिति तेन युक्त्या प्रतोष्यमाणो हृष्यन्नेव हन्त तर्हि कथमेष पुनर्न भवतीति तदैव विषीदन्, हन्त कस्यचिन्महानुभावचूडामणेर्महाभागवतस्य कापि कृपावितानपरिणतिर्वा दुर्भगस्यापि मे भगवत्परिचर्याया घुणाक्षरन्यायेन वा कस्मिंश्चिद्दिवसे कथञ्चिदुत्पन्नाया निष्कैतवतायाः फलमिदं वा किंवा वैगुण्यसमुद्रेऽपि क्षुद्रे मयि भगवदनुकम्पाया निरुपाधित्वमेव मूर्त्तं प्रकटीबभूव, हन्त हन्त केन वा अनिर्वचनीयभाग्येन स्वयं हस्तप्राप्तो निधिरजनि, केन व महापराधेन ततश्च्युतम् इति, निश्चेतुं निश्चेतनोऽहं न प्रभवामि तद्बाधाबाधितधीः, क्व यामि, किं वा करोमि कमुपायमत्र कमुह वा पृच्छामि, महाशून्यमिव निरात्मकमिव निःशरणमिव दावप्लुष्टमिव मां निगिलदिव त्रिभुवनमवलोके। लोकेभ्यो निःसृत्य तदेभ्यः क्षणं विविक्ते प्रणिदधामीति।

तथा कुर्वन् हा प्रभो सुन्दरमुखारविन्दमाधुरीकसुधा-धाराधुरीण भावित-वासित-निखिल-विपिन-श्रीविग्रहवर-परिमल-वनमालचटुलितालि-जाल पुनरपि क्षणमपि तत्रभवन्तं दृश्यासं; सकृदेव च स्वादित एव, स्वादित-तन्माधुरीको न पुनरेवमभ्यर्थयिष्ये इति विलपन् लुठन् श्वसन् मूर्च्छन्नून्माद्यन् प्रतिदिशमेव तं पश्यन् हृष्यन् श्लिष्यन् हसन्नटन् गायन् पुनरप्यनीक्षमाणोऽनुतपन् रुदन् अलौकिकचेष्टित एवायुंसि नयन् स्वदेहोऽप्यस्ति नास्तिवा नानुसन्दधते। ततश्च समये पञ्चतां गच्छतं स्वदेहं न जानन् मयाभ्यर्थितः स एव करुणावरुणालयस्तथैव प्रत्यक्षीभूय साक्षात् सेवायां मां नियुञ्जानः स्वभवनं नयतीति जानन् कृतकृत्यो भक्तो भवतीति॥४॥

भावानुवाद—तदनन्तर कुछ देर बाद ही वह भक्त आनन्दमूर्च्छासे जागकर पुनः श्रीभगवान्के दर्शनोंके लिए अपने नेत्रोंको खोलता है। किन्तु, श्रीभगवान्को वहाँ नहीं देखकर अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। उसके नेत्रोंसे अजस्र अश्रुधारा बहने लगती है। वह मन-ही-मन सोचने लगता है—"क्या मैं स्वप्न देख रहा था? नहीं-नहीं, यदि वह

स्वप्न होता तो मुझे नींदका आलस्य होता, नेत्रोंमें भारीपन होता, किन्तु ऐसा तो कुछ भी मुझमें नहीं है। तो क्या वह किसीकी माया थी? नहीं, ऐसा भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मायिक अनुभवमें इतना आनन्द कहाँ? तो क्या वह हमारे चित्तकी कोई भ्रममयी वृत्ति थी? नहीं-नहीं, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि ऐसा होनेसे चित्तमें लय, विक्षेपका अनुभव होता, किन्तु ऐसा तो हुआ नहीं। तो क्या मेरे परिपक्व मनोरथके फलस्वरूप कोई वस्तु विशेष मुझे प्राप्त हुई थी? नहीं-नहीं, ऐसा भी सम्भव नहीं; क्योंकि मनोरथ कभी ऐसे अनिर्वचनीय पदार्थके समीप नहीं पहुँच सकता। अतः यह मनोरथके परिणामस्वरूप कोई वस्तु नहीं थी। तो क्या वह स्फूर्तिमें प्राप्त भगवत्-साक्षात्कार था? ऐसा भी नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वकालमें अनुभव की हुई स्फूर्तियोंकी मुझे पूरी स्मृति है। उन स्फूर्तियोंसे तो वह दर्शनानन्द अतिशय विलक्षण था।"

इस प्रकार अनेक प्रकारसे संशय करता हुआ वह भक्त धूल-धूसरित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ता है। पुनः-पुनः वैसे ही दर्शनकी प्रार्थना करते हुए खेद करता है और विलाप करते हुए पृथ्वीपर लोट-पोट होने लगता है। इस प्रकार अत्यन्त खेदके कारण मूर्च्छित हो जाता है। कभी-कभी अपने अङ्गोंको घायल करते हुए रोने लगता है और बेहोश हो जाता है। होश आनेपर कभी बैठता है और कभी चारों ओर दौड़ने लगता है। कभी पागलोंकी तरह जोर-जोरसे चिल्लाता है और कभी ज्ञानवान पुरुषकी तरह कुछ देरके लिए चुप्पी साध लेता है। कभी आचार भ्रष्ट व्यक्तियोंकी भाँति अपनी नित्य क्रियाओंको भी भूल जाता है। कभी तो भूताविष्ट व्यक्तिकी तरह निरर्थक प्रलाप करने लगता है।

थोड़ी देरमें उसे यदि कोई सान्त्वना प्रदान करता है अथवा एकान्तमें उससे मनकी बात पूछता है तो उस आत्मीयजनको अपने अनुभूत विषयोंको कहने लगता है। उसकी अनुभूतिको सुननेवाला व्यक्ति जब उससे यह कहता है कि "हे सखे! तुम बहुत भाग्यशाली हो। तुमको तो भगवान्का साक्षात् दर्शन हुआ है।" तब उसकी

युक्तिपूर्ण बातोंको बड़े ध्यानसे सुनता है, समझता है और हर्षित भी हो उठता है। किन्तु, उसी क्षण फिर व्याकुल होकर कहने लगता है—"हाय! हाय! मुझे फिरसे उनका दर्शन क्यों नहीं मिलता?" पुनः चेतनता प्राप्तकर कहता है—"क्या मैं उस रूपका पुनः दर्शन कर सकूँगा?" फिर अत्यन्त दुःखी होकर कहता है—"हाय! हाय! किन महानुभाव चूड़ामणि महाभागवतकी कृपासे मुझे उस रूपका दर्शन हुआ था?" अत्यन्त दुर्भागा होनेके कारण मैंने कभी किसी रूपमें भी भगवान्‌की कोई सेवा नहीं की। समझता हूँ कि आपकी अहैतुकी कृपाके फलसे उनका दर्शन हुआ था। अथवा, अपराधरूपी समुद्रमें अवस्थित मुझ क्षुद्र, दीन-हीन व्यक्तिके ऊपर प्रकाशित हुई भगवान्‌की निरुपाधिक करुणाके मूर्त्तिमान स्वरूप द्वारा ही मैंने उनका दर्शन किया था? हाय! हाय! किस अनिर्वचनीय भाग्यसे वह महानिधि मुझे प्राप्त हुई थी और न जाने किस अपराधके फलसे वह हाथमें आई हुई महानिधि भी हाथसे निकल गई। हाय! हाय! फिर मुझे उनका दर्शन क्यों नहीं होता है? मैं नितान्त मूर्ख हूँ।

"इस विषयमें कुछ भी निश्चितकर नहीं कर पा रहा हूँ। यह कैसी विपत्ति है? मेरी बुद्धिवृत्ति स्तब्ध हो गई है। अब मैं कहाँ जाऊँ? क्या उपाय करूँ? किससे पूछूँ? यह त्रिभुवन महाशून्य हो गया है। यहाँ कोई भी मेरा अपना नहीं है। मैं निराश्रय हो गया हूँ। दावानलकी भाँति यह त्रिभुवन मुझे निगलना चाहता है। क्या अब मैं समस्त जगतके लोगोंसे दूर एकान्तमें स्थित होकर इस विषयपर कुछ चिन्तन करूँ?" ऐसा सोचकर वह भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त भक्त निर्जन स्थानमें आकर बैठ जाता है और अन्तर्मुखसे कहने लगता है—"हे प्रभो! हे सुन्दर-मुखारविन्द माधुर्य-धारि! हे परमामृतमय! समस्त वनोंकी शोभा धारण करनेवाला यह वृन्दावन आपके श्रीविग्रहके सौन्दर्यसे सुशोभित और सुवासित हो रहा है। आपके कण्ठमें पड़ी हुई वनमालाकी मधुर सुगन्धसे चञ्चल होकर भ्रमर उसके चारों ओर मण्डरा रहे हैं। हाय! क्या फिर कभी किसी प्रकार एक क्षणके लिए भी आपका दर्शन कर सकूँगा? मैंने केवल एक ही बार आपके माधुर्य-अमृतका आस्वादन किया है। उसे पुनः प्राप्त

करनेके लिए मैं दुर्भागा क्या आपसे प्रार्थना करनेके लिए समर्थ हो पाऊँगा?"

भक्त इस प्रकार विलाप करते-करते लोटते-पोटते लम्बी-लम्बी साँस भरते हुए बेसुध होकर उन्मत्त हो जाता है। हर दिशामें श्रीभगवान्का दर्शन करते हुए कभी आनन्दमें विभोर तो कभी उनका आलिङ्गनकर हँसने लगता है। कभी नाचने और कभी गाने लगता है। पुनः भगवान्को न देखकर व्याकुल होकर रोने लगता है। इस प्रकारकी अलौकिक चेष्टाओंमें आविष्ट भक्त अपने जीवन कालको व्यतीत करते हुए अपने शरीरकी सुध-बुध ही खो बैठता है। शरीर है भी या नहीं, यह भी उसे पता नहीं रहता। अनन्तर यथा समयपर भक्त शरीरका त्याग करता है। शरीरके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान न रहनेके कारण आविष्ट चित्तसे "मेरे द्वारा पूजित करुणासागर भगवान् प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट होकर मुझे अपनी साक्षात् सेवामें नियुक्तकर अपने धाममें ले जा रहे हैं"—ऐसा निश्चितकर वह भक्त कृत-कृत्य हो जाता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—श्रीभगवान् भक्तकी आर्ति और उत्कण्ठाको देखकर अपने परिकरोंके साथ उसे एक बार दर्शन प्रदान करते हैं। उनके दर्शनके आनन्दमें भक्तके मूर्च्छित होनेपर वे अन्तर्हित हो जाते हैं—यह पहले कहा गया है। अब इस अनुच्छेदमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने उक्त प्रेमीभक्तके भगवद्दर्शन और भगवान्के अन्तर्धानके पश्चात् उनके अदर्शनसे उत्पन्न अत्यन्त विचित्र विविध प्रकारकी भावावस्थाओं और चेष्टाओंका विस्तारसे वर्णन किया है। श्रीभगवान् भक्तके हृदयमें इस प्रकारकी अत्यधिक उत्कण्ठा या व्याकुलतामें आवेशको प्रकट करनेके लिए ही प्रेमीभक्तको एक बार दर्शन देकर अन्तर्धान हो जाते हैं। भगवद्दर्शनके अभावमें भक्तके हृदयमें अत्यधिक तृष्णामय इस प्रकारकी उन्मादनाका होना एक परम पुरुषार्थ है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है कि श्रीनारदने दासीपुत्रके रूपमें मुनियोंकी कृपासे अत्यन्त बाल्यकालमें ही भगवत्प्रेम प्राप्त कर लिया था। घोर जंगलमें श्रीभगवान् जब उत्कण्ठित नारदको दर्शन देकर

अन्तर्हित हो गए थे, उस समय नारद अत्यन्त व्याकुल होकर पुनः श्रीहरिका दर्शन करनेके लिए छटपटाने लगे और भगवान्से पुनः दर्शनके लिए प्रार्थना करनेपर भगवान्ने अलक्षित रूपमें उनसे कहा—

सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत् कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्॥
(श्रीमद्भा. १/६/२३)

"हे निष्पाप! मैंने एकबार तुम्हें जो दर्शन दिया है, वह केवल मेरे प्रति तुम्हारे अनुरागकी वृद्धिके लिए है। मेरे दर्शनके लिए प्रबल लालसा और उत्कण्ठा उत्पन्न होनेपर भक्तके हृदयकी सब प्रकारकी विषय-वासनाएँ दूर हो जाती हैं।"

रासलीलाके समय श्रीकृष्णके व्रजसुन्दरियोंके बीचसे अन्तर्हित हो जानेपर वे विरहमें अतिशय कातर हो गईं और उत्कण्ठित होकर श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिए विलापकर प्रार्थना करने लगीं। पुनः उन्हें दर्शन प्रदानकर भगवान् द्वारा रात्रिकालमें गभीर अरण्यमें उनको त्यागकर अन्तर्हित होनेसे गोपियाँ पहेलीके रूपमें छलसे प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति अभियोग करने लगीं, जिसके उत्तरमें श्रीकृष्णने उनको सान्त्वना देते हुए कहा—

नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥
(श्रीमद्भा. १०/३२/२०)

"प्रिय सखियो! धनहीन व्यक्ति जिस प्रकार दैवयोगसे प्राप्त धनके नष्ट हो जानेपर उस धनकी चिन्तामें खो जाता है और सब कुछ भूल जाता है अर्थात् खोये हुए धनकी चिन्तामें उसका चित्त जिस प्रकार पूर्ण रूपसे तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार भजन करनेवालेके ध्यानके नैरन्तर्यके लिए मैं भी भजनकारियोंका भजन नहीं करता या दर्शन नहीं देता।" श्रील चक्रवर्तिपाद भगवत्-साक्षात्कारके पश्चात्

भक्तोंकी उत्कण्ठाके एक अनुपम भावचित्रका अङ्कन कर रहे हैं। उसमें जिस प्रकार भगवान्‌के अलौकिक रूपोत्सवके असीम आकर्षणकी बात ज्ञात होती है, उसी प्रकार भक्तके प्रेमकी विपुल तृष्णा और उन्मादता भी जानी जाती है। अन्तमें "भगवान् निश्चय ही साक्षात् रूपसे लीलाराज्यमें ले जाकर मुझे प्रेमसेवा प्रदान करेंगे"—ऐसा सोचकर वह प्रेमीभक्त कृत-कृतार्थ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के अन्तर्हित होनेपर भक्त उस पूर्वदृष्ट रूप, लावण्य आदिकी पुनः-पुनः साक्षात् अनुभूति करता है। यहाँ तक कि उस अनुभूतिके क्षणभर विच्छेदको भी वह सहन नहीं कर पाता। यथा समयमें उसके पाञ्चभौतिक शरीरका पतन हो जाता है। परन्तु, वह प्रेमीभक्त इस बातको भी जान नहीं पाता। वह जानता है तो केवल यही कि "अपार करुणामय भगवान् उसे साक्षात् रूपसे अपनी सेवामें नियुक्तकर अपने धाममें ले जो रहे हैं।" यही जानकर वह परम कृतार्थ हो जाता है।

साधककी प्रेमोत्तर फल आस्वादनकी अयोग्यता

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिश्च ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति। इत्यर्थः साधु विवृतः।

अतोऽपि यथोत्तरस्वादुवैशिष्ट्यभाजित स्नेहमानप्रणयरागानुरागमहाभावाख्यानि भक्तिकल्पवल्ल्याः ऊर्ध्वोर्ध्वपल्लवगामीनि फलानि सन्ति। न तैषामास्वाद-सम्पदौष्णशैत्यसंमर्दसहः साधकस्य देहो भवेदिति न तेषां तत्र प्राकट्यसम्भव इति न तान्यत्र विवृतानि। किंचेह रुच्यासक्तिभाव-प्रेमसु लक्षयित्वा साक्षादनुभव-गोचरतां प्रापितेषु तत्र सन्त्यपि भूरीणि प्रमाणानि नोपन्यस्तानि। प्रमाणापेक्षयां ह्यनुभववर्त्मपारुष्यापादकत्वात्। किंच तान्यपेक्षाणि चेत् "तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते"रिति रुचौ "गुणेषु शक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये" इत्यासक्तौ "प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः" इति रतौ "प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोतिनिवृत" इति प्रेम्णि "ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैस्तान् न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोह" इति रुच्यनुभावे

''गायन् विलज्जो विचरेदसङ्ग'' इति आसक्त्यनुभावे ''यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ। तथा मे भ्राम्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छयेति'' रत्यनुभावे ''एवं व्रत'' इत्यत्र ''हसत्यथो रोदिति रौति गायति'' इति प्रेम्णोऽनुभावे ''आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि'' इति तत्र स्फूर्त्तौ ''पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्त'' इति साक्षाद्दर्शने ''तैर्दर्शनीयावयवैरुदार–विलासहासेक्षितवामसूक्तैः'' इति लब्धदर्शनस्य स्वभावे ''वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्ध'' इति चेष्टायाम् प्रमाणान्यनुसन्धाय विचारयितव्यानि।

भावानुवाद—पहले क्रमशः श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, भजनमें निष्ठा, भजनमें रुचि, भजनीय विषयमें आसक्ति, भाव और तत्पश्चात् प्रेमका आविर्भाव होता है—शास्त्रोंमें वर्णित प्रेमके विकासका यह क्रम यथार्थ ही है। इसके बाद और भी उत्तरोत्तर विशिष्ट आस्वादन प्रदान करनेवाले स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, महाभाव नामके फल भक्तिरूपी कल्पलताके ऊपरके पत्रोंपर विराजमान होते हैं। साधकका शरीर उनके आस्वादनरूपी सम्पत्तिकी उष्णता और शीतलता आदिके सम्मर्दनको सहनेमें समर्थ नहीं होता। अतः साधक देहमें उनका आविर्भाव सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँपर इनका विशेष वर्णन नहीं किया गया।

इस अनुच्छेदमें रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेमको लक्ष्य करके उनकी साक्षात् अनुभूतिका वर्णन किया गया है। इस विषयमें अनेक प्रमाण रहनेपर भी यहाँ उनके उल्लेखका प्रयोजन नहीं है; क्योंकि प्रमाणोंकी अपेक्षा करनेसे अनुभव पथमें कर्कशता ही प्रतीत होती है। फिर भी यदि कोई प्रमाणोंकी अपेक्षा रखता है तो उन लोगोंके लिए कहा गया है कि श्रीमद्भागवतके "तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामतेः" श्लोकमें रुचिका, "गुणेषु शक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये" श्लोकमें आसक्तिका, "प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः" श्लोकमें रतिका, "प्रेमातिभर–निर्भिन्न–पुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः" श्लोकमें प्रेमका, "ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ़ कर्णैस्तान् न स्पृशत्यशन–तृड्भयशोकमोहाः" श्लोकमें रुचिके अनुभावका, "गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः" श्लोकमें आसक्तिके अनुभावका, "यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ। तथा मे

भ्राम्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥" श्लोकमें रतिके अनुभावका, "एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्त्या" श्लोकके "हसत्यथो रोदिति रौति गायतीति" भागमें प्रेमके अनुभावोंका, "आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि" श्लोकमें उन-उन स्थानोंकी स्फूर्तिका, "पश्यन्ति मे रुचिराण्यम्ब सन्तः" श्लोकमें साक्षात् दर्शनका, "तैदर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः" श्लोकमें भगवान्के दर्शन प्राप्त भक्तकी अवस्था और "वासो यथा परिवृतं मदिरामदान्ध" श्लोकमें चेष्टाका प्रमाण है। इस प्रकार इन्हीं श्लोकोंका अनुसन्धानकर प्रमाणोंका विचार किया जा सकता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—विविध प्रकारकी कामनाओंसे आच्छादित अविद्या-ग्रस्त हृदयवाले मनुष्य किसी विशेष सौभाग्यसे महत्पुरुषोंकी कृपासे श्रद्धा प्राप्तकर भजनमें प्रवृत्त होते हैं। वे श्रीगुरुचरणोंमें आश्रय लेकर हरिनाम और दीक्षा ग्रहणकर श्रवण-कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका पालन करते-करते अनर्थनिवृत्ति होनेके पश्चात् निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भावके स्तरोंको पारकर प्रेमराज्यमें उपस्थित होते हैं। निरपराध साधकोंको प्रेम प्राप्तिके लिए इन स्तरोंको पार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। वे नामसंकीर्त्तन आदि भजनके साथ-ही-साथ प्रेम प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु ऐसे निरपराध मनुष्य विश्वमें अति विरल होनेके कारण निखिल विश्वके मनुष्योंके हितमें भक्तिके लिए जिन उपर्युक्त सोपानोंका वर्णन किया गया है, वे अत्यन्त समीचीन ही हैं।

प्रेमसे ऊपर भी उत्तरोत्तर अत्यन्त सुस्वादु स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव आदि कतिपय स्तरोंकी भी बातें जानी जाती हैं। इन स्तरोंमें श्रीकृष्णके मिलनमें शीतलता, विरहमें उष्णता और अन्तरमें विभिन्न प्रकारके भावोंके परस्पर संमर्दन और उच्छ्वासकी अधिकता इतनी प्रबल होती है कि साधक देह उसे सहनेमें असमर्थ होती है। प्रेमकी प्राप्ति और यथावस्थित देहके पतन होनेपर पार्षददेह प्राप्तकर साधक जब भगवान्के धाममें उपस्थित होता है, तब उसी देहमें सख्य, वात्सल्य, मधुर आदि भावोंके तारतम्य अनुसार उसमें इन स्तरोंका विकास हुआ करता है। व्रजके मधुर भावाश्रित भक्तोंमें

ही प्रेमके चरमतम विकास महाभावका उदय हुआ करता है। यह और किसी दूसरे भक्तमें सम्भव नहीं है।

श्रील ग्रन्थकार महोदयने श्रद्धासे आरम्भकर प्रेम तकका विषय ही इस ग्रन्थमें वर्णन किया है। श्रीमन्महाप्रभुके चरणाश्रित गौड़ीय वैष्णवोंके लिए राधादास्य या मञ्जरीभावसे भजन ही चरम लक्ष्य है। श्रीमन्महाप्रभुके प्रिय परिकर श्रीरूप-सनातनादि गोस्वामीगण इस मञ्जरीभावके आचार्य हैं। इसीलिए हम श्रीमद् रूपगोस्वामीके द्वारा रचित उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थसे इन स्तरोंका संक्षिप्त परिचय प्रदान कर रहे हैं।

स्नेह—

आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमा चिद्दीपदीपनः।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्याभिधीयते॥
अत्रोदिते भवेज्जातु न तृप्तिर्दर्शनादिषु॥

"कृष्णरति जब उत्कर्षको प्राप्त होकर श्रीकृष्णकी विशेष उपलब्धि करते हुए चित्तको द्रवीभूत करती है, तब उसे 'स्नेह' कहते हैं। स्नेह उदित होनेपर कभी भी दर्शनकी लालसाकी तृप्ति नहीं होती।"

मान—

स्नेहस्तूत्कृष्टता वाप्त्या माधुर्यं मानयन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्त्यते॥

"स्नेह और भी उत्कृष्ट रूपमें वर्द्धित होकर जब श्रीकृष्णके अननुभूत नवनवायमान माधुर्यका अनुभव करने लगता है एवं स्वयं अपने भावको छिपानेके लिए कुटिलता धारण करता है, तब उसे 'मान' कहते हैं।" इस स्तरपर श्रीकृष्णमें ममता और भी अधिक बढ़ जाती है। स्वार्थमूलक घृणित कुटिलताका यहाँ कोई काम नहीं, यह कुटिलता प्रेमकी एक वैचित्री है, जो श्रीकृष्णको अत्यधिक सन्तुष्ट करती है।

प्रणय—

मानो दधानो विश्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः।

"ममता बुद्धिसे जब मान अधिक उत्कर्षताको प्राप्त करता है, तो एक ऐसी अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें अपने प्राण, मन, बुद्धि, देह और वेष-भूषादिके साथ श्रीकृष्णके प्राण, मन, बुद्धि आदि अभिन्न प्रतीत होने लगते हैं, उसका नाम 'प्रणय' है। यहाँ 'विश्रम्भ' शब्दका अर्थ विश्वास या सम्भ्रम-राहित्यसे है।

राग—

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥

"प्रणयकी उत्कृष्ट अवस्थाका नाम 'राग' है। इस अवस्थामें श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी सम्भावनामें अतिशय दुःख भी सुख और उनकी अप्राप्तिमें अतिशय सुख भी अत्यन्त दुःख प्रतीत होता है।"

अनुराग—

सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥

जो राग प्रतिक्षण नवनवायमान होकर सदा अनुभूत प्रिय व्यक्तिको क्षण-क्षणमें नित्य नवीन रूपमें अनुभव कराता है, उसका नाम 'अनुराग' है।

महाभाव—

अनुराग स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते॥

यावदाश्रयवृत्ति अनुराग जब स्वसंवेद्यदशाको प्राप्त होकर प्रकाशित होता है, तभी उसे 'महाभाव' कहा जाता है। अनुरागका आश्रय राग है। इस रागकी जितनी अवधि तक उदित होनेकी सम्भावना हो सकती है, उतनी अधिक चरमसीमा तक उदित होनेपर उसका नाम 'यावदाश्रयवृत्ति' होता है। वही अनुराग स्वसंवेद्यदशाको प्राप्त होकर महाभाव कहलाता है। यहाँ स्वसंवेद्यदशा कहनेसे व्रजदेवियोंमें जो यावदाश्रयवृत्तिको प्राप्त अनुराग या महाभाव विराजमान होता है, वह केवल उन्हींके लिए ही वेद्य है। अन्य किसी भी भक्तमें महाभावकी

स्थिति नहीं है। यहाँ तक कि रुक्मिणी और सत्यभामा आदि महिषियोंमें भी यह अत्यन्त दुर्लभ है। इसमें उद्दीप्त और सुद्दीप्त आदि सात्त्विकभाव प्रकाशित होते हैं। ये महाभावके विविध विचित्रतामय प्रकाश हैं। स्नेह, मान, प्रणय आदि भी विविध प्रकारके भेद हैं।

अर्थात् स्नेह, मान, प्रणय आदि उपर्युक्त प्रेम-विकासके स्तर साधकके इस वर्त्तमान पाञ्चभौतिक शरीरमें कभी भी प्रकाशित नहीं हो सकते, चाहे वह साधनमार्गमें कितना ही ऊपर क्यों न उठा हुआ हो। साधकदेहमें केवल रति तकका ही आविर्भाव होता है। रति-प्राप्त साधकके शरीरका पतन होनेके बाद जब वह भगवान्‌की लीलास्थलमें प्रवेश करता है, तब उसमें नित्यसिद्ध परिकरोंके सङ्गके प्रभावसे स्नेह, मान, प्रणय आदि भाव स्फुरित होते हैं। इसलिए चक्रवर्तिपादने कहा है कि साधकदेहमें इन स्तरोंका प्रकाशित होना सम्भव नहीं है। इन अवस्थाओंमें जो सात्त्विकभावोंकी प्रतिक्रियाएँ हैं, जैसे विरहाग्निकी अति असहनीय उष्णताके ज्वार-भाटे, उन्हें सहन करनेकी शक्ति साधकदेहमें है ही नहीं। अतः इस विषयका यहाँ विशेष वर्णन नहीं किया जा रहा है। इस प्रसङ्गको विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें स्थायीभाव प्रकरण द्रष्टव्य है।

इस माधुर्य-कादम्बिनी ग्रन्थमें रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेमके स्तर तथा इन स्तरोंके अनुभवोंके लक्षणोंका ही वर्णन किया गया है। शास्त्रमें इनके अनेक प्रमाण रहनेपर भी प्रमाणकी अपेक्षा भक्तोंकी सरस अनुभूतिके पथमें कर्कशता ही लाती है। प्रमाणोंके द्वारा किसी विषयको प्रतिपादन करनेकी अपेक्षा साक्षात् अनुभूति द्वारा वह विषय सुचारु और सरस रीतिसे प्रतिपन्न हुआ करता है।

फिर भी जो लोग प्रमाण देखना चाहते हैं उनके लिए श्रीचक्रवर्तिपादने यहाँ श्रीमद्भागवतके कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं; क्योंकि श्रीमद्भागवत ही सर्वमान्य प्रमाणशिरोमणि अपौरुषेय ग्रन्थ है।

रुचिके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें यह प्रमाण देखा जाता है—

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।
ययाहमेतत् सदसत् स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे॥
(श्रीमद्भा. १/५/२७)

श्रीनारद मुनि वेदव्यासके प्रति कह रहे हैं—"हे महामते! भगवत्-लीलागानपरायण महात्माओंके सङ्गमें रहकर श्रीकृष्णकी मनोहर कथाओंको श्रद्धापूर्वक सुनते-सुनते श्रीभगवान्‌में मेरी रुचि उत्पन्न हो गई। तब उन मनोहर कीर्त्ति श्रीकृष्णमें मेरी बुद्धि भी निश्चल हो गई और उस बुद्धिसे मैं सम्पूर्ण सत् और असत् रूप जगतको केवल परब्रह्म श्रीकृष्णकी सेवामें ही नियुक्त करना उचित है, यह समझ सका।"

महत्पुरुषोंके श्रीमुखसे भगवत्-कथा श्रवणके फलसे कामना रूपी मलिनताके दूर हो जानेपर रुचि उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् चित्तवृत्तिमें श्रीकृष्णकी सेवाके प्रति स्थिर निष्ठा आती है। इसी श्लोकसे ऐसा जानना चाहिए।

श्रीमद्भागवतमें आसक्तिके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/१५)

अर्थात् "जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मनको ही माना गया है। विषयोंमें आसक्त होनेपर यह मन बन्धनका कारण होता है और श्रीकृष्णमें आसक्त होनेपर यही मन मोक्षका कारण बन जाता है।" इस श्लोकमें श्रीकृष्णके प्रति आसक्तिका वर्णन मिलता है।

श्रीमद्भागवतमें कृष्णरतिका इस प्रकार वर्णन है—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाऽभवद्रतिः॥
(श्रीमद्भा. १/५/२६)

श्रीनारदजीने कहा—"हे व्यासजी! उस सत्सङ्गमें उन महात्माओंके अनुग्रहसे मैं प्रतिदिन श्रीकृष्णकी मनोहर कथाओंका श्रवण करता था।

निरन्तर श्रद्धापूर्वक एक-एक पदका श्रवण करते-करते प्रियकीर्त्ति भगवान्‌में मेरी रति हो उठी।" इस श्लोकमें साधुसङ्ग एवं साधुमुखसे श्रीकृष्णकथा श्रवण द्वारा श्रीभगवान्‌में रतिके उदयकी बात कही गई है।

प्रेमके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

प्रेमातिभरनिर्भिन्न-पुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥
(श्रीमद्भा. १/६/१८)

श्रीनारदजीने कहा—"हे वेदव्यासजी! उस समय प्रेमभावके अत्यन्त उद्रेकसे मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। हृदय अत्यन्त शान्त और सुशीतल हो गया। उस आनन्दकी बाढ़में मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और अपनी ध्येय-वस्तुका तनिक भी भान नहीं रहा।" रुचिके अनुभाव या लक्षण श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहे गए हैं—

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥
(श्रीमद्भा॰ ४/२९/४०)

श्रीनारदजीने प्राचीनबर्हि राजासे कहा—"हे राजन्! भगवान्‌के गुणोंको कहने-सुननेमें तत्पर विशुद्ध-चित्त साधुसमाजमें चहुँ ओर महापुरुषोंके मुखसे निकले हुए भगवान् श्रीमधुसूदनकी लीलाकथाओं रूप शुद्ध अमृतकी अनेकानेक नदियाँ बहती रहती हैं। जो लोग अतृप्त-चित्तसे श्रवणमें तत्पर अपने कर्ण कुहरों द्वारा उस अमृतका भरपेट पान करते हैं, उन्हें भूख, प्यास, भय, शोक, मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते।" महत्पुरुषोंके श्रीमुखसे श्रीभगवान्‌की मधुर-कथाएँ सुननेपर जब रुचि उदित होती है, तब उनको सुनते-सुनते कभी भी तृप्ति नहीं होती। उस अवस्थामें साधक ऐसा आनन्दमग्न हो उठता है कि वह अपने आपको भूल जाता है, उसे भूख, प्यास, भय, शोक और मोह आदि तनिक भी नहीं सताते—यह रुचिके अनुभाव हैं।

इस प्रकार आसक्तिके अनुभावोंका भी श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया गया है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
(श्रीमद्भा. ११/२/३९)

"इस संसारमें श्रीभगवान्‌के जन्म और लीलाओंकी मङ्गलमय कथाओं तथा उनके नामोंका गान लोक-लाज एवं संकोच छोड़कर करना चाहिए और किसी भी व्यक्ति या वस्तुमें आसक्ति न रखकर विचरण करना चाहिए। इससे भगवान्‌में आसक्ति हो जाती है।"

रतिके अनुभावोंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया गया है—

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥
(श्रीमद्भा. ७/५/१४)

श्रीप्रह्लाद महाराजने अपने विद्यागुरुसे कहा—"हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार लोहा चुम्बकके निकट आनेपर अपने आप खिंचा चला आता है, वैसे ही भगवान् श्रीचक्रपाणिकी स्वच्छन्द इच्छाशक्तिसे मेरा चित्त भी संसारसे पृथक् होकर उनकी ओर बरवश खिंचा चला जाता है।" तात्पर्य यह है कि कृष्णरति या भक्ति श्रीभगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है, जो स्वयंप्रकाश और स्वच्छन्द है। अपनी कृपासे वह जिस व्यक्तिको आत्मसात् करती है, वह स्वतः ही श्रीकृष्णकी ओर खिंचा चला जाता है और उसे फिर संसारमें कोई भी श्रीभगवान्‌से अलग नहीं कर सकता। बल्कि वही संसारको अलग रखकर श्रीभगवान्‌की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

प्रेमके अनुभावका प्रमाण—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४०)

"इस प्रकार नियमपूर्वक जो भजनशील व्यक्ति अपने प्रिय श्रीहरिके नामके परम मङ्गलमय कीर्त्तनका व्रत या नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने प्रियतम प्रभुका प्रेम आविर्भूत हो उठता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है और वह लोगोंकी मान्यताओं, धारणाओंसे ऊपर उठ जाता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को उन्मत्तकी भाँति पुकारने लगता है। कभी रोदन करने लगता है तो कभी सुस्वरसे उनके मधुर गुणोंका गान करने लगता है। कभी प्रभुका दर्शन पाकर उनके सामने नृत्य करने लगता है।" प्रेमके आविर्भूत होनेपर जो लक्षण भक्तमें दिखाई देते हैं, उनका इस श्लोकमें वर्णन किया गया है।

भगवत्-स्फूर्तिके विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥
(श्रीमद्भा॰ १/६/३४)

श्रीनारदजीने कहा—"हे व्यासजी! जब मैं श्रीभगवान्‌की लीलाओंका गान करने लगता हूँ तब वे प्रभु, जिनके चरणकमल समस्त तीर्थोंके उद्‌गम स्थल हैं और जिनका गुणगान मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है, बुलाए हुएकी तरह तुरन्त मेरे हृदयमें आकर दर्शन देते हैं।" श्रीभगवान्‌की लीलाका गुणगान करनेसे श्रीभगवान् भक्तोंके हृदयमें बुलाए हुए व्यक्तिकी भाँति चले आते हैं—ऐसी स्फूर्ति भक्तोंको होने लगती है।

साक्षात् दर्शनके विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/३५)

श्रीकपिलदेवजी अपनी माता देवहूतिसे कह रहे हैं—"हे मातः! वे भक्तजन अरुण-नयन एवं मनोहर मुखारविन्दसे युक्त मेरे सुन्दर और वर प्रदान करनेवाले दिव्य रूपोंका दर्शन करते हैं तथा उनके साथ प्रेमपूर्वक बोलते-चालते भी हैं, जिसके लिए बड़े-बड़े तपस्वी भी

ललचाते रहते हैं।" इस श्लोकमें श्रीभगवान्‌के साक्षात् दर्शन प्राप्त होनेका प्रमाण मिलता है।

दर्शन-प्राप्त भक्तोंके स्वभावका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन किया गया है—

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमन्विं प्रयुङ्क्ते॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/३६)

श्रीकपिलदेवने कहा—"हे मातः! मेरे दर्शनीय अङ्ग-प्रत्यङ्ग, मेरा उदार हास-विलास, मेरी मनोहर चितवन और सुमधुर वाणीसे युक्त मेरे उन दिव्यरूपोंकी माधुरीमें मेरे भक्तोंका मन और इन्द्रियाँ संलग्न हो जाती हैं। न चाहनेपर भी मेरी प्रेमाभक्ति उन भक्तोंको परमपद—मेरे धामकी प्राप्ति करा देती है।" एक बार दर्शन प्राप्तकर लेनेपर भक्तोंका मन तथा उनकी समस्त इन्द्रियाँ श्रीभगवान्‌के रूप-लावण्य, उनकी बङ्कविलोकनि मधुर वाणीमें ही केन्द्रित हो जाती है। उनके लिए जगतमें कुछ भी देखने और करने योग्य अवशेष नहीं रह जाता। स्वाभाविक रूपसे ही श्रीभगवान् उनका सर्वस्व हो जाते हैं एवं उन्हें भगवद्धाममें नित्य-सेवाकी अनायास प्राप्ति हो जाती है।

भगवद्दर्शन प्राप्त भक्तकी चेष्टाओंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥
(श्रीमद्भा. ११/१३/३६)

अर्थात् "जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त व्यक्ति यह नहीं देखता कि उसके शरीरपर कपड़ा है या गिर गया है, उसी प्रकार साक्षात् दर्शन प्राप्त करनेवाला भक्त अपने शरीरके विषयमें यह नहीं जानता कि यह प्रारब्धवश खड़ा है या बैठा है, दैववश कहीं आया या कहीं गया

है। वह नश्वर शरीरकी किसी भी चेष्टापर दृष्टि नहीं करता।" श्रीभगवान्‌के साक्षात् दर्शन प्राप्त करनेके बाद भक्तोंको अपने नश्वर शरीरका कुछ भी अनुसन्धान नहीं रहता। उनकी सारी चेष्टाएँ उन्मत्त व्यक्तिकी भाँति होती हैं। केवल श्रीभगवान्‌की रूपमाधुरीमें ही वह डूबा रहता है।

इस प्रकार कुछेक प्रमाण वचनोंको उद्धृतकर श्रीचक्रवर्तिपादने प्रेमकी प्रत्येक अवस्थाका (जिसका इन्होंने यहाँ अनुभूतिके आधारपर वर्णन किया है) निरूपण किया है। समस्त प्रमाण उन्होंने श्रीमद्भागवतसे ही उद्धृत किये हैं; क्योंकि प्रेमभक्ति-विषयक एकमात्र यदि कोई प्रामाणिक अपौरुषेय शास्त्र है, तो वह है पञ्चमवेद—'श्रीमद्भागवत'। श्रीमन्महाप्रभुने इसे ही अतिशय निर्मल पुराणशिरोमणि और परम प्रमाण ग्रन्थ कहकर समादृत किया है।

जीवकी बद्धदशा और उससे मुक्त होनेका उपाय

अत्रेदं तत्त्वं—"अहङ्कारस्य द्वे वृत्ती अहन्ता ममता चेति।" तयोर्ज्ञानेन लयो मोक्षः देहगेहादि विषयत्वे बन्धः। अहं प्रभोर्जनः सेवकोऽस्मि, सेव्यो मे प्रभुर्भगवान् सपरिकर एव रूपगुणमाधुरीमहोदधिरिति पार्षदरूपविग्रह-भगवद्विग्रहादि-विषयत्वे प्रेमा स हि बन्ध-मोक्षाभ्यां विलक्षण एव पुरुषार्थचूडामणिरित्युच्यते। तत्र क्रमः। अहन्ताममतयोर्व्यवहारिक्यामेव वृत्तावतिसान्द्रायां सत्यां संसार एव, अहं वैष्णावो भूयासं प्रभु मे भगवान् सेव्यो भवत्विति यादृच्छिक्यां श्रद्धाकणिकायां सत्यां तद्वृत्तेः पारमार्थिकत्वगन्धे भक्तावधिकारः। ततः साधुसङ्गे सति पारमार्थिकत्वगन्धस्य सान्द्रत्वं ततो भजनक्रियायामनिष्ठितायां सत्यां तयो परमार्थे वस्तुन्येकदेशव्यापिनी वृत्तिः व्यवहारे पूर्णैव। तस्यां निष्ठितायां परमार्थे बहुदेशव्यापिनी व्यवहारे प्रायिक्येव। रुचावुत्पन्नायां परमार्थे प्रायिक्येव वृत्तिर्व्यवहारे तु एकदेशव्यापिनी। आसक्तौ जातायां परमार्थे आत्यन्तिकीव्यवहारे तु गन्धमात्री। भावे तु परमार्थ एवात्यन्तिकी वृत्तिर्व्यवहारे तु बाधितानुवृत्तिन्यायेनाभासमयी प्रेम्णि तयोरहन्ताममतयोर्वृत्ति परमार्थे परमात्यन्तिकी व्यवहारे तु नैकापीति। एवञ्च भजनक्रियायां भगवद्ध्यानं वार्त्तान्तरगन्धि क्षणिकमेव। निष्ठायां

तद्ध्याने वार्त्तान्तराभासः। रुचौ वार्त्तान्तररहितमेव तद्ध्यानं बहुकालव्यापि। आसक्तौ तद्ध्यानमतिसान्द्रम्। भावे ध्यानमात्रमेव भगवतः स्फूर्त्तिः। प्रेमणि स्फूर्त्तेर्वैलक्षण्यं तद्दर्शनञ्चेति ॥५ ॥

भावानुवाद—मूलतत्त्व यह है कि अहङ्कारकी दो वृत्तियाँ हैं—अहंता और ममता। ज्ञानके द्वारा इनके लय होनेपर जीवका मोक्ष होता है और देहादिमें इन वृत्तियोंके रहनेसे जीवका बन्धन होता है। "मैं श्रीभगवान्का निजजन हूँ, मैं उनका सेवक हूँ और सपरिकर रूप, गुण एवं माधुर्यके महासागर श्रीभगवान् मेरे प्रभु और सेव्य हैं।" इस प्रकार भगवान्के पार्षदरूप-विग्रह आदिमें अहंता तथा भगवान्के विग्रहादिमें ममता उदित होनेपर उसे प्रेम कहा जाता है। वस्तुतः यह प्रेम बन्धन और मोक्षसे परे पुरुषार्थचूड़ामणि नामसे अभिहित किया जाता है।

उस प्रेमकी प्राप्तिका क्रम इस प्रकार वर्णन किया गया है। अहंता और ममता व्यवहारिक वृत्तिमें अत्यन्त गाढ़ा होनेपर "मैं संसारमें रहकर ही वैष्णव बनूँगा और प्रभु भगवान् ही मेरे सेव्य हों" इस प्रकार जिसमें श्रद्धाकी कणिका उत्पन्न हो जाए तथा उस श्रद्धा-वृत्तिमें पारमार्थिकता रूप सुगन्धिका मिलन हो, तब जीवका भक्तिमें अधिकार पैदा होता है। उसके बाद साधुसङ्ग प्राप्त होनेपर पारमार्थिक सुगन्धिमें गाढ़ता आ जाती है। तदनन्तर अनिष्ठिता नामक भजनक्रिया आरम्भ होती है। उस समय अहंता और ममताकी परमार्थ विषयमें एकदेश-व्यापिनी और व्यवहारिक विषयोंमें पूर्णावृत्ति रहती है। भजनक्रियामें निष्ठा उत्पन्न होनेपर अहंता-ममताकी वृत्ति परमार्थ विषयमें बहुदेश-व्यापिनी और व्यवहारिक विषयमें प्रायिकी हो जाती है। रुचिके उत्पन्न होनेपर परमार्थ विषयमें उसकी वृत्ति पूर्णा और व्यवहारिक विषयमें एकदेश-व्यापिनी हो जाती है। आसक्ति उत्पन्न होनेपर परमार्थमें आत्यन्तिकी और व्यवहारमें गन्धमात्र शेष रह जाती है। भावके उदित होनेपर परमार्थमें आत्यन्तिकी और व्यवहारमें बाधितानुवृत्ति न्यायसे आभासमात्र ही रह जाती है। प्रेमके उदित होनेपर अहंता-ममताकी वृत्ति परमार्थके विषयमें परमात्यन्तिकी और व्यवहारके विषयमें सम्पूर्ण रूपसे समबन्ध रहित हो जाती है।

इस प्रकार भजनक्रियाके आरम्भ होते ही भगवत्-ध्यान बाहरी विषयोंमें गन्धयुक्त और क्षणिक होता है। निष्ठा होनेपर उस ध्यानमें बाहरी विषयोंका आभासमात्र रह जाता है। रुचिके उत्पन्न होनेपर बाहरी-विषय रहित होकर वह ध्यान अधिक कालव्यापी स्थिर रहनेवाला हो जाता है। आसक्तिके उत्पन्न होनेपर वह ध्यान अति गाढ़े भावको प्राप्त करता है। भावावस्थामें ध्यान करते ही भगवान्‌की स्फूर्ति होने लगती है। प्रेममें स्फूर्तिकी विलक्षणता और श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शन होने लगता है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—"कर्त्ता शास्त्रार्थवत्तात्" (वेदान्तसूत्र २/३/३३) इस वेदान्तसूत्रसे जीवके कर्तृत्वकी बात जानी जाती है। शास्त्र कहते हैं—"चेतन जीव ही कर्त्ता है, मायिक गुण कर्त्ता नहीं है।" कर्त्ता जीव मायिक गुणोंसे केवलमात्र प्रेरणा ही प्राप्त करता है। इस कर्त्ता जीवमें अणु स्वतन्त्रता भी होती है। यही जीवका जीवत्व है। इस स्वतन्त्रताको जीव इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है और इसलिए उसे अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है—"स्वकर्मफलभुक् पुमान्।" जीव जब कर्त्ता और भोक्ता है, तो उसमें अहङ्कार अवश्य ही है, ऐसा समझना होगा। अहङ्कारकी दो वृत्तियाँ होती हैं—अहंता और ममता अर्थात् 'मैं' और 'मेरा'। स्वरूप-भ्रान्त मायाबद्ध जीव अपने कर्मसे प्राप्त माया रचित जड़शरीरमें 'मैं' और स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिमें ममता अर्थात् 'मेरी' बुद्धि रखता है। यह जीवकी बन्धन दशा है। इस जड़ीय अहङ्कारका संस्कार लेकर ही स्वरूप-विस्मृत जीव अनादि कालके कर्मफलसे चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण कर रहा है।

साधुशास्त्रके उपदेशसे मायाबद्ध जीवको साधनभजनके द्वारा जड़ीय अहङ्कारको त्यागकर क्रमशः चिन्मय अहङ्कारके संस्कारको लाना होगा। ज्ञानिजन ज्ञानाग्निसे अहङ्कारकी दोनों वृत्तियोंको दग्ध कर देते हैं। इसीका नाम मुक्ति है। नित्य कृष्णदास जीवका यह अहङ्कार स्वरूपगत है। इसीके द्वारा मायामुक्त होकर जीव श्रीहरिकी सेवाको प्राप्तकर धन्य हो सकता है। अतएव ज्ञानिजन आनन्दकामी आत्माके

जीवत्वको ही विनष्ट कर देते हैं। इसीलिए कल्याणकामी व्यक्ति भले ही नरक प्राप्तिकी वाञ्छा कर सकता है, किन्तु मुक्तिको ग्रहण करनेकी इच्छा कभी नहीं करता। "'नरक' वाञ्छये, तबु सायुज्य ना लय।" (चै. च. म. ६/२६८)

भगवद्भक्तगण हरिभजनके द्वारा अहङ्कारकी इन दोनों वृत्तियोंको क्रमशः भगवत्-उन्मुखी कर लेते हैं। जब अहंता "मैं श्रीहरिका दास हूँ" और ममता "श्रीहरि ही मेरे हैं" पूर्णरूपसे यह अभिमान प्राप्त कर लेते हैं, तब उसीका नाम प्रेम है। यही प्रेम जीवका पञ्चम पुरुषार्थ या पुरुषार्थ शिरोमणि है। साधनभजनके द्वारा यह 'मैं' और 'मेरा' क्रमशः व्यवहारिक और जड़ीय विषयसे सम्पर्क छोड़कर सम्पूर्ण रूपसे परमार्थनिष्ठ हो जाता है। उसीके अनुरूप भगवत्-ध्यान भी क्रमशः परिपक्व होते-होते प्रेमके स्तरकी पूर्णता प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थकार श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने इस अनुच्छेदमें इसीका वर्णन किया है।

ग्रन्थकार द्वारा नित्यमङ्गलकी प्रार्थना

माधुर्यवारिधेः कृष्णचैतन्यादुद्धृतैः रसैः।
इयं धिनोतु माधुर्यमयीकादम्बिनी जगत्॥६॥

इतिमाधुर्य-कादम्बिन्यां पूर्णमनोरथो
नामाष्टम्यमृतवृष्टिः समाप्ता॥८॥

॥ समाप्तैषा माधुर्य-कादम्बिनी ॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णचैतन्यरूप माधुर्यवारिधिसे निकले हुए रसोंके द्वारा यह माधुर्य-कादम्बिनी (मेघमाला) विश्वको तृप्त करे।

पूर्णमनोरथ नामक अष्टम्यमृतवृष्टिका भावानुवाद समाप्त॥८॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति—स्वयंभगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण अखिलरसामृत-मूर्त्ति हैं। व्रजलीलामें श्रीराधारानीके प्रेमास्वादन हेतु उदित अपनी तीन अपूर्ण वाञ्छाओंकी पूर्तिके लिए श्रीकृष्ण ही प्रेममयी श्रीमती राधिकाकी भावकान्तिको ग्रहणकर श्रीशचीनन्दन गौरहरिके रूपमें

अवतीर्ण हुए हैं। उसी रससिन्धु और प्रेमसिन्धुका अद्भुत मिलितस्वरूप ही माधुर्यवारिधि श्रीगौरसुन्दर हैं। उनमें माधुर्यरसकी पूर्ण तरङ्गें निरन्तर उच्छ्वसित होती हैं। इनके माधुर्यमय लीला सागरके रससे ही इस माधुर्य-कादम्बिनी ग्रन्थमें वर्णित विषयोंका अनुभव सिद्ध हुआ है। इस ग्रन्थके अनुशीलन द्वारा श्रीमन्महाप्रभुकी कृपासे साधकभक्त अनायास ही लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, अपराध आदि भजनके विघ्नोंको अतिक्रमकर प्रेम प्राप्त कर सकता है और भगवन्माधुर्यके आस्वादनसे चिरकालके लिए धन्य हो सकता है। उसका जीवन सफल हो सकता है—इसमें कोई संशय नहीं है।

ग्रन्थके अन्तमें श्रील ग्रन्थकार महोदयने विश्वके प्रति कृपा और आशीर्वाद देते हुए कहा है—"श्रीगौरसुन्दरकी करुणासे इन्हींके लीलासागरसे उत्पन्न यह अद्भुत माधुर्य-कादम्बिनी अमृतवर्षणके द्वारा जगत्-जीवोंके त्रितापानलमें निरन्तर दग्ध विश्वको सुशीतल कर परितृप्त करे॥"३॥

पूर्णमनोरथ नामक अष्टम्यमृतवृष्टिकी
पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त॥८॥

परिशिष्ट

एलो गौर–रस–नदी कादम्बिनी ह'ये।
भासाइल गौड़देश प्रेमवृष्टि दिये॥
नित्यानन्द–राय ताहे मारुत सहाय।
जाँहा नाहि प्रेमवृष्टि ताँहा लये जाय॥
हुड्‌हुड् शब्दे आइल श्रीअद्वैतचन्द्र।
जल–रसधारा ताहे राय–रामानन्द॥
चौषट्टि महान्त आइल मेघे शोभा करि'।
श्रीरूप–सनातन ताहे हइल बिजुरि॥
कृष्णदास कविराज रसेर भाण्डारी।
यतने राखिल प्रेम हेमकुण्ड भरि॥
एवे सेइ प्रेम ल'ये जगज्जने दिल।
ए–दास लोचन–भाग्ये बिन्दु ना मिलिल॥

रसकी नदी श्रीगौरसुन्दर बादल बनकर गौड़देशमें आए तथा उन्होंने प्रेमरूपी वर्षा द्वारा गौड़ देशको प्लावित कर दिया। उस समय श्रीनित्यानन्द प्रभु पवनदेवके रूपमें सहायक सिद्ध हुए, जहाँ प्रेमकी वर्षा नहीं हुई, उन्होंने वहाँपर भी पहुँचा दी। बादलोंके गर्जनके रूपमें श्रीअद्वैतचन्द्र उपस्थित हुए और श्रीरामानन्द रायने जल–रसकी धारा प्रवाहित की। चौंसठ महन्त बादलोंकी शोभा बनकर उपस्थित हुए, उसमें श्रीरूप और सनातन गोस्वामी बिजली बनकर आए। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी रसके भण्डारी हुए, जिन्होंने यत्नपूर्वक स्वर्ण कलशमें उस प्रेमरसको भरकर रख लिया था। अब उसी प्रेमको लाकर जगत्–वासियोंमें वितरण किया, परन्तु इस लोचन दासके भाग्यमें एक बूँद भी नहीं आई।